बाल-मनोविकास

लेखक

लालजीराम शुक्ल एम० ए०, बी० टी०

असिस्टेण्ट प्रोफेसर, टीचर्स ट्रेनिङ्ग कालेज,

काशी-विश्वविद्यालय

(सरल मनोविज्ञान, एलीमेन्ट्स आफ एजूकेशनल साइकालॉजी,
ग्राउण्ड वर्क ऑफ साइकॉलाजी, प्रिन्सपल आफ़ एजूकेशन,
बालशिक्षण, शिक्षामनोविज्ञान, शिक्षा-विज्ञान,
मानसिक चिकित्सा और मानसिक-
आरोग्य के प्रणेता)

प्रकाशक

नन्दकिशोर एण्ड ब्रदर्स

वाराणसी।

चतुर्थावृत्ति]

१९५७

समर्पण

राष्ट्रभाषा हिन्दी के अनन्य भक्त
हिन्दू-समाज-भूषण
आदर्श शिक्षक,
श्रद्धेय श्री पंडित रामनारायण मिश्र,
प्रिन्सपल, डी० ए० वी० कालेज, बनारस
सभापति, काशी-नागरीप्रचारिणी सभा,
के कर-कमलों में सादर
समर्पित।

भूमिका

यह हर्ष का विषय है कि अब हमारी देशी भाषाओं में लिखी हुई ज्ञानिक पुस्तकों की पूछ होने लगी है। इस देश के विद्वद्गण अब पपने भावों को देशी भाषाओं में प्रकाशित करना अनुचित नहीं समझते और अनेक विद्वान् रुचि के साथ हिन्दी पुस्तकें पढ़ते हैं। यह त्येक देश-सेवक जानता है कि इस देश की पराधीनावस्था का मुख्य कारण शिक्षा का अभाव ही है। विदेशी शासकों ने जिस शिक्षा-प्रणाली का प्रचार या उससे जनसाधारण का लाभ न हुआ। कुछ इने-गिने लोग पाश्चात्य ाओं में अवश्य परिडत हो गये, पर उनका ज्ञान उन्हीं तक सीमित रह गया। ग प्रधान कारण विदेशी भाषाओं द्वारा उस ज्ञान का वितरण ही था। देश के द्गण जन-साधारण के लिए विदेशी बन गये। इससे देश का बड़ा ल्याण हुआ।

जब शिक्षा के माध्यम का विषय पहले-पहल विद्वानों के सामने आया तो विद्वानों ने यह राय दी कि उच्च शिक्षा अंगरेजी भाषा के अतिरिक्त और दूसरी भाषा के द्वारा सम्भव नहीं। देशी भाषाओं में न तो उक्त विषयों पुस्तकें हैं और न ऐसा शब्द-भाण्डार ही है जिसका उपयोग पाठ्य-क्रम की नक विषयों की पुस्तकों की रचना में किया जा सके। पर जहाँ इच्छा होती है, र्ग अवश्य मिल जाता है। हाईस्कूलों में शिक्षा का माध्यम जब बदल दिया या तो थोड़े ही समय में अनेक विषयों की सुन्दर-सुन्दर पुस्तकों का निर्माण हो शब्दों की कठिनाई भी सामने न रही। प्राचीन शब्दों को पुनरुज्जीवित या गया और नये शब्दों का निर्माण हुआ। आवश्यकता आविष्कार की ननी है; आज हमें इंटरमीडियेट के विषयों को देशी भाषाओं द्वारा पढ़ाने में ई कठिनाई नहीं होती। देश के प्रत्येक विद्वान् को यह अपना कर्तव्य समझना हिए कि वह अपनी मातृभाषा में मौलिक ग्रन्थों की रचना करे। ऐसी रचनाओं हमारी मातृभाषा का उत्थान होगा।

जब कोई अँगरेजी लेखक किसी वैज्ञानिक विषय पर पुस्तक लिखने लगता

है तब उसे यह सोचना पड़ता है कि उक्त विषय पर अनेक पुस्तकें होते हु
वह एक नई पुस्तक क्यों लिखे। हिन्दी भाषा में पुस्तक लिखते समय इ
के प्रश्न हमारे सामने नहीं आते। हमारी भाषा में इनी-गिनी पुस्तकें ही
विषयों पर हैं। अतएव प्रत्येक भारतीय लेखक जब अपनी मातृभाष
पुस्तक लिखता है तो वह समाज की सेवा करता है। इसी विचार ने इ
के लिखने के लिए लेखक को प्रेरित किया।

मनोविज्ञान एक बृहत् विषय है। इसके अनेक अंग हैं। आज कल
में मनोविज्ञान के भिन्न-भिन्न अंगों का अध्ययन भिन्न-भिन्न रीतियों से कि
रहा है। इस तरह सामान्य-मनोविज्ञान, समाज-मनोविज्ञान, शिक्षा-मनो
बाल-मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण-विज्ञान आदि का निर्माण हुआ।
विषय पर आज यूरोपीय भाषाओं में हजारों पुस्तकें हैं। क्या यह खेद क
नहीं कि हमारे देश की भाषाओं में दस-पाँच पुस्तकें भी इन विषयों पर
भारतीय विद्यार्थियों को मनोविज्ञान एक बड़ा जटिल विषय ज
है। वास्तव में कठिनाई विषय की नहीं, भाषा की है। अब इ
क्लास में मनोविज्ञान का विषय पढ़ाया जाने लगा है, पर विद्यार्थ
पाठ्य विषय चुनते समय हिचकते हैं। इसका मुख्य कारण उस
अँगरेजी भाषा में पढ़ाया जाना और मातृभाषा में पाठ्य पुस्तकों की
है। प्रस्तुत पुस्तक का एक उद्देश्य इस कमी को पूरा करना है।

इस पुस्तक के पहले लेखक की "बाल-मनोविज्ञान" नामक पुस्तक
प्रचारिणी सभा, काशी से प्रकाशित हुई थी। हिन्दी भाषा की वर्तमान अ
में जो भी सत्कार इस पुस्तक का हुआ, उससे लेखक को सन्तोष है और
प्रोत्साहन का फल यह दूसरा प्रयास है। इस पुस्तक में बाल-मन की
क्रिया पर विचार किया गया है। साथ ही साथ पाश्चात्य विद्वानों की सम
का उल्लेख किया गया है। लेखक को अनेक नये शब्द गढ़ने पड़े हैं जो
"बाल-मनोविज्ञान" में काम में लाये जा चुके हैं, इस पुस्तक में भी व
लाये गये हैं। पर्यायवाची अँगरेजी शब्द फुटनोट में दे दिये गये हैं, जिससे अँ
जाननेवाले पाठकों को विषय के समझने में सुविधा रहे। पर अँगरेजी भ
अनभिज्ञ पाठकगण भी इस पुस्तक को सरलता से समझ सकते हैं। भ
शिक्षकों को बालक के मन का ज्ञान कराना इस पुस्तक का विशेष उद्दे
इस पुस्तक के लिखने में जिन महानुभावों ने मुझे सहायता दी उन

रायबहादुर पण्डित लज्जाशङ्कर झा, रायसाहब पण्डित श्रीनारायण
र प्रोफेसर श्रीवंशगोपालजी झिंगरन के प्रति मैं विशेष कृतज्ञता प्रगट
ता हूँ जिन्होंने मुझे इस कार्य में लगे रहने के लिए प्रोत्साहित किया
कृपा के कारण मैं अपनी मातृ-भाषा को यह अपना दूसरा पुष्प
सका।

निंग कालेज,
द्यालय, काशी।
ई-१९४१

लालजीराम शुक्ल

विषय-सूची

पहला प्रकरण

विषय-प्रवेश

दूसरा प्रकरण

बालक के मानसिक विकास की अवस्थाएँ

तीसरा प्रकरण

बालक के मनोविकास के उपकरण

चौथा प्रकरण

नवशिशु

पाँचवाँ प्रकरण

मूल प्रवृत्तियों का विकास

छठाँ प्रकरण

जन्मजात प्रवृत्तियाँ

सातवाँ प्रकरण

खेल

आठवाँ प्रकरण

संवेग

नवाँ प्रकरण

सीखना

दसवाँ प्रकरण

आदत

ग्यारहवाँ प्रकरण

ध्यान, रुचि और थकान

बारहवाँ प्रकरण

संवेग

तेरहवाँ प्रकरण

बालकों का प्रत्यक्ष-ज्ञान

चौदहवाँ प्रकरण

स्मृति

पन्द्रहवाँ प्रकरण

बालकों की भूल

सोलहवाँ प्रकरण

कल्पना

सत्रहवाँ प्रकरण

भाषा-विकास

अठारहवाँ प्रकरण

विचार-विकास

उन्नीसवाँ प्रकरण

बुद्धिमाप

बीसवाँ प्रकरण

चरित्र-गठन

इक्कीसवाँ प्रकरण

बाल-मन की उलझनें

परिशिष्ट

पहला प्रकरण

विषय-प्रवेश

बाल-मन का अध्ययन जितना ही महत्त्वपूर्ण है उतना ही अनजाना भी है। भारतवर्ष में तो इस विषय के ज्ञाता विरले ही लोग हैं। जिन लोगों ने इस विषय का अध्ययन किया है उनमें से इने-गिने ही लेखकों की श्रेणी में आते हैं। बाल-मनोविज्ञान में जिनकी रुचि है ऐसे भारतीय विद्वान प्रायः देशी भाषा में अपने विचारों को प्रकाशित करने की चेष्टा नहीं करते। यदि वे अपने विचारों को समय-समय पर प्रकट करते भी हैं तो एक विदेशी भाषा में। इससे देश का अधिकांश जनसमुदाय इन विद्वानों के विचारों से अनभिज्ञ रह जाता है। अँगरेजी भाषा में तो बाल-मनोविज्ञान की सहस्रों पुस्तकें हैं और सैकड़ों प्रतिदिन लिखी जा रही हैं। क्या यह दुःख का विषय नहीं है कि हमारे देश की भाषाओं में इस विषय पर दो-चार पुस्तकें भी न हों ?

शिक्षित समुदाय के मन में बाल-मनोविज्ञान-सम्बन्धी विषयों के संस्कारों का पूर्ण अभाव रहने के कारण लेखक को विषय-परिचय कराने में कुछ कठिनाई पड़ना स्वाभाविक है। दूसरे जो व्यक्ति अँगरेजी भाषा के जानकार हैं वे यह जानते हैं कि मनोविज्ञान एक जटिल विषय है, इससे वे इस प्रकार के अध्ययन से कोसों दूर रहते हैं। उनके दृष्टिकोण को परिवर्तित करना और बाल-मन के अध्ययन में उनकी रुचि बढ़ाना कितना कठिन प्रश्न है, यह विद्वान पाठक ही समझ सकते हैं। परन्तु हमें यह कदापि न भूलना चाहिये कि बाल-मन का अध्ययन कितना ही कठिन क्यों न हो, फिर भी प्रत्येक शिक्षित माता-पिता, अभिभावक और शिक्षक के लिये वह परम आवश्यक है। क्या यह लज्जा की बात नहीं कि हम ब्रेज़ील और अलास्का के निवासियों की तरह रहन-सहन के विषय में जानने की चेष्टा तो करते हैं, किन्तु उन परमप्रिय बालकों के विषय में जानने की रुचि नहीं रखते जो प्रति-दिन हमारे साथ रहते और हमको सुखी बनाते हैं ? हरबर्ट स्पेंसर का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को बाल-मनोविज्ञान भलीभाँति सिखाया जाना चाहिये। इसके ज्ञान के बिना किसी भी मनुष्य का जीवन पूर्ण नहीं कहा जा सकता। बाल-मन के अध्ययन से बालक के लालन-पालन में कितनी सहायता मिलती है, यह आगे की पंक्तियों से स्पष्ट हो जायगा।

पहला प्रकरण

विषय-प्रवेश

बाल-मन का अध्ययन जितना ही महत्त्वपूर्ण है उतना ही अनजाना भी है। भारतवर्ष में तो इस विषय के ज्ञाता विरले ही लोग हैं। जिन लोगों ने इस विषय का अध्ययन किया है उनमें से इने-गिने ही लेखकों की श्रेणी में आते हैं। बाल-मनोविज्ञान में जिनकी रुचि है ऐसे भारतीय विद्वान प्रायः देशी भाषा में अपने विचारों को प्रकाशित करने की चेष्टा नहीं करते। यदि वे अपने विचारों को समय-समय पर प्रकट करते भी हैं तो एक विदेशी भाषा में। इससे देश का अधिकांश जनसमुदाय इन विद्वानों के विचारों से अनभिज्ञ रह जाता है। अँगरेजी भाषा में तो बाल-मनोविज्ञान की सहस्रों पुस्तकें हैं और सैकड़ों प्रतिदिन लिखी जा रही हैं। क्या यह दुःख का विषय नहीं है कि हमारे देश की भाषाओं में इस विषय पर दो-चार पुस्तकें भी न हों?

शिक्षित समुदाय के मन में बाल-मनोविज्ञान-सम्बन्धी विषयों के संस्कारों का पूर्ण अभाव रहने के कारण लेखक को विषय-परिचय कराने में कुछ कठिनाई पड़ना स्वाभाविक है। दूसरे जो व्यक्ति अँगरेजी भाषा के जानकार हैं वे यह जानते हैं कि मनोविज्ञान एक जटिल विषय है, इससे वे इस प्रकार के अध्ययन से कोसों दूर रहते हैं। उनके दृष्टिकोण को परिवर्तित करना और बाल-मन के अध्ययन में उनकी रुचि बढ़ाना कितना कठिन प्रश्न है, यह विद्वान पाठक ही समझ सकते हैं। परन्तु हमें यह कदापि न भूलना चाहिये कि बाल-मन का अध्ययन कितना ही कठिन क्यों न हो, फिर भी प्रत्येक शिक्षित माता-पिता, अभिभावक और शिक्षक के लिये वह परम आवश्यक है। क्या यह लज्जा की बात नहीं कि हम ब्रेज़ील और अलास्का के निवासियों की तरह रहन-सहन के विषय में जानने की चेष्टा तो करते हैं, किन्तु उन परमप्रिय बालकों के विषय में जानने की रुचि नहीं रखते जो प्रति-दिन हमारे साथ रहते और हमको सुखी बनाते हैं? हरबर्ट स्पेंसर का कथन है कि प्रत्येक व्यक्ति को बाल-मनोविज्ञान भलीभाँति सिखाया जाना चाहिये। इसके ज्ञान के बिना किसी भी मनुष्य का जीवन पूर्ण नहीं कहा जा सकता। बाल-मन के अध्ययन से बालक के लालन-पालन में कितनी सहायता मिलती है, यह आगे की पंक्तियों से स्पष्ट हो जायगा।

बाल-मन के अध्ययन में अरुचि का कारण विषय की जटिलता नहीं है वरन् उसका सरल समझा जाना ही है। अभिभावकगण प्रायः यह मानकर बैठ जाते हैं कि हमें इस विषय में जितनी जानकारी होनी चाहिये उतनी तो है ही, हम अपने बालकों को प्रतिदिन देखते हैं और उनके व्यवहारों से भलिभाँति परिचित हैं, फिर हमें किसी मनोवैज्ञानिक की क्या आवश्यकता ! किन्तु क्या यह बात सत्य नहीं है कि संसार की बहुत देखी हुई बातें बिना विशेष दृष्टि के प्राप्त हुए अनदेखी ही रह जाती हैं ? बालक की साधारण क्रियाओं एवं चेष्टाओं का क्या अर्थ होता है, इसके समझने के लिए विज्ञान की सहायता की आवश्यकता होती है। यह बात इस पुस्तक के आगे के पृष्ठ पढ़नेवाले पाठक को स्वयं स्पष्ट हो जायगी।

बाल-मन के अध्ययन का महत्त्व

बालक के पालन में उपयोगिता—प्रत्येक माता-पिता अपनी सन्तान को यशस्वी और सुखी बनाना चाहते हैं। हर एक शिक्षक यह चाहता है कि उसका छात्र संसार में प्रतिष्ठा लाभ करे और अपने कार्यों से संसार को चकित कर दे। प्रत्येक देशभक्त अपने देश को गौरवान्वित बनाना चाहता है। हम सभी चाहते हैं कि हमारा समाज संसार के किसी समाज से पिछड़ा न रहे। समाज में आज हम ऐसी सहस्रों बुराइयाँ देखते हैं, जिनसे समाज को मुक्त करना असम्भव सा प्रतीत होता है। भारतवर्ष का समाज सुप्तावस्था में पड़ा हुआ है। इस देश का प्रत्येक बुद्धिमान व्यक्ति यह समझता है कि इस अवस्था से मुक्त हुए बिना न तो हम आर्थिक उन्नति कर सकते हैं और न राजनैतिक। हमारे अनेक नेता समाज में क्रांति पैदा करना चाहते हैं; परन्तु उनके बहुत प्रयत्न करने पर भी समाज अपनी उन रूढ़ियों को नहीं छोड़ रहा है, जो आज उसके प्राण की घातक बन रही हैं। भारतवर्ष में इस समय शक्ति, साहस, उद्योगशीलता, त्याग इत्यादि की जितनी कमी है, उसे देखकर हमारा मन दुखी होता है। इस अवस्था से मुक्त होने का उपाय क्या है ?

जड़ता से मुक्त करने के अनेक उपाय देश के विचारवान् लोगों ने हमें बताये। बाल-मन का अध्ययन उन उपायों में से एक सर्वश्रेष्ठ उपाय है। एमर्सन महाशय का कथन है कि राष्ट्र का जो नेता समाज को सुधारना चाहे उसे प्रथम बालकों को सुधारना चाहिये। जिस प्रकार एक भव्य सुदृढ़ भवन की नींव सुदृढ़ होती है, उसी प्रकार अध्यवसायी, चरित्रवान्, साहसी, त्यागी पुरुष का व्यक्तित्व बनाने के लिये उसका बाल्य-जीवन तदनुरूप होना चाहिये। बाल्य-

जीवन में ही किसी व्यक्ति के मन में सद्‌गुणों की जड़ जमाई जा सकती है। जिस बालक का बाल्य-जीवन उचित रीति से व्यतीत नहीं होता, वह आगे चलकर प्रौढ़ावस्था में सुयोग्य नहीं बनता। समाज व्यक्तियों का समुदाय नहीं है। यदि हम समाज के प्रत्येक व्यक्ति को अच्छा बनावें तो समाज स्वतः अच्छा बन जायगा। व्यक्ति को भला बनाने के लिए उसके बाल्य-जीवन का अध्ययन करना परमावश्यक है। माता-पिता को यह देखते रहना चाहिए कि बालक के मन में किसी प्रकार के कुसंस्कार न पड़ जायँ। किसी व्यक्ति को बचपन में जो टेव लग जाती है उसका प्रभाव व्यक्ति के जीवन पर सदा बना रहता है। इसी तरह बचपन में जो अच्छी आदतें पड़ जाती हैं, वे व्यक्ति के जीवन में सफल बनाने में सदा सहायता देती हैं।

शिक्षा में उपयोगिता—बाल-मन के अध्ययन का प्रारम्भ शिक्षा के सेवार्थ हुआ। फ्रांस के प्रसिद्ध विद्वान् रूसो का कथन है "जो शिक्षक अपने काम को कर्तव्य-बुद्धि से करना चाहता है, उसको बालक के मन का अध्ययन भले प्रकार से करना चाहिए।" रूसो ने इमाइल नामक किताब लिखकर शिक्षा-संसार में एक भारी क्रांति पैदा कर दी। रूसो के पहले यूरोप के शिक्षकगण अपने विषय के पंडित तो होते थे किन्तु शिक्षा-पद्धति अथवा बाल-मन जानने की किसी प्रकार चेष्टा न की जाती थी। आधुनिक काल में संसार के प्रत्येक शिक्षक के लिये यह आवश्यक हो गया है कि वह न सिर्फ अपने विषय का पंडित हो, बल्कि बाल-मन को भली भाँति जाने और बालक के स्वभाव के अनुसार अपनी शिक्षा-पद्धति बनावे। जर्मनी के तत्ववेत्ता हरबर्ट ने बड़े प्रयास से बाल-मनोविज्ञान के आधार पर शिक्षा-पद्धति बनाई। फ्रोबेल और हरबर्ट स्पेंसर द्वारा शिक्षा-पद्धति में नई-नई उन्नतियाँ हुई और इस पद्धति का विकास आज तक होता जा रहा है। जैसे-जैसे मनोवैज्ञानिक खोजें बढ़ती जाती हैं, वैसे-वैसे शिक्षा-पद्धति में नये-नये परिवर्तन होते जाते हैं। हमारी वर्तमान शिक्षा पद्धति बाल-मनोविज्ञान सम्बन्धी अनेक खोजों का प्रतिफल है। कोई भी शिक्षक आज बाल-मनोविज्ञान के जाने बिना अपना काम भले प्रकार से नहीं कर सकता।

आधुनिक शिक्षा-शास्त्री कहते हैं कि हमें बालक को उसके व्यक्ति-भेद के अनुसार शिक्षा देनी चाहिए। बालक की मानसिक शक्तियों का अनेक प्रकार से अध्ययन किया जा रहा है। बुद्धि-माप और रुचि-माप के विषय में अनेक प्रयोग किये जा रहे हैं। इन प्रयोगों के परिणामस्वरूप आज शिक्षा में मौलिक परिवर्तन हो रहे हैं। प्रत्येक शिक्षक को इन आविष्कारों की जानकारी रखना आवश्यक है।

आजकल बालक को नियमित रखने तथा दण्डविधानों के विचारों में मौलिक

परिवर्तन हो गये हैं। पुराने समय का शिक्षक बालक के सुधार के लिए बेंत का प्रयोग करता था। उनको वह दंड के भय से अपने वश में किए रहता था। किन्तु आजकल बालक को पीटना एक भारी पाप समझा जाता है। जो शिक्षक क्लास में बिना बेंत के प्रयोग के अनुशासन नहीं रख सकता उसे सफल शिक्षक नहीं कहा जाता। जब बालक का ध्यान किसी विषय के पढ़ने से उचट जाता है, तो अबोध शिक्षक प्रायः डाँट-फटकारकर अथवा जोर से चिल्लाकर बालक के ध्यान को आकर्षित करने की चेष्टा करते हैं। किन्तु बाल-मनोविज्ञान का ज्ञाता शिक्षक ऐसे भद्दे उपायों को काम में नहीं लायेगा। वह जानता है कि बच्चे के ध्यान को अरुचिकर विषय में लगाना, प्रकृति के नियमों की अवहेलना करना है। बालक के ध्यान को किसी विषय पर आकर्षित करने के लिए वह उस विषय को रोचक बनाने की चेष्टा करेगा।

स्वास्थ्यवर्धन में आवश्यकता—आधुनिक मनोविज्ञान यह बताता है कि मन और शरीर का परस्पर सन्निकट संबंध है। हमारे अनेक विचारों, उद्वेगों और चेष्टाओं का प्रभाव हमारे शरीर पर पड़ता है जिसके बुरे विचार होते हैं वह शारीरिक स्वास्थ्य लाभ नहीं कर सकता। इसी प्रकार अवांछनीय उद्वेग और कुचेष्टाओं की प्रतिक्रिया तुरन्त शरीर पर दिखाई देने लगती है। अबोध माता-पिता बालक के मन में तरह-तरह के भय का संचार कर देते हैं, जिसके कारण बालक का मन सदा के लिए भयभीत बने रहने का ही अभ्यस्त नहीं होता, बल्कि उसे शारीरिक क्षति भी पहुँचती है। इसी प्रकार पाठशाला के भय के वातावरण में रहनेवाला बालक निरुत्साही हो जाता तथा अस्वस्थता का जीवन व्यतीत करता है। इस पुस्तक में आगे चलकर यह स्पष्ट किया जायगा कि बालक के मन में उठे हुए उद्वेगों का दुष्परिणाम उसके जीवन पर किस प्रकार पड़ता है।

बाल-मन के अध्ययन में कठिनाइयाँ

बाल-मन के अध्ययन में हमें अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। पहले तो मनोविज्ञान का विषय ही कठिन है। मनोविज्ञान का अध्ययन वही मनुष्य कर सकता है, जिसमें आत्म-निरीक्षण की शक्ति है और जो अपने सम्पर्क में आनेवाले व्यक्तियों की सूक्ष्म क्रियाओं एवं गतिविधि पर ध्यान रखता है। जो मनुष्य आत्म-निरीक्षण नहीं कर सकता, वह दूसरों के स्वभाव को समझने में भी अकुशल रहेगा। दूसरे, जो मनुष्य अपने ही सम्बन्ध में चिन्तन करता है, किन्तु अपने आस-पास के लोगों के विचारों और व्यवहारों

का विश्लेषण नहीं करता, वह भी अच्छा मनोवैज्ञानिक नहीं बन सकता। बाल-मन के अध्ययन में उपर्युक्त कठिनाइयों के अतिरिक्त एक और कठिनाई है। बालक के मन की दशा जानने में हम कई कारणों से अयोग्य सिद्ध होते हैं। बालक और प्रौढ़ व्यक्तियों में इतने मानसिक भेद हैं कि हम जैसे एक प्रौढ़ व्यक्ति के मन में होनेवाली क्रियाओं और चेष्टाओं का पता लगा लेते हैं वैसे बालक के अन्तर्जगत् का ज्ञान हमें उसकी बाह्य चेष्टाओं से नहीं हो सकता। प्रौढ़ लोगों के मन की दशा जानने में हमारा अनुभव तो सहायता देता ही है, किन्तु प्रौढ़ व्यक्ति अपने मन की बात स्वयं भी कह देते हैं। परन्तु बालक में इस प्रकार कहने की शक्ति नहीं होती। हम अपने निष्कर्ष की सत्यता अथवा असत्यता की जाँच किसी प्रकार नहीं कर सकते। अनेक बार हम बालक की चेष्टाओं का वस्तु-स्थिति से उल्टा अर्थ लगा लेते हैं और इस प्रकार अपनी अनभिज्ञता के कारण बालक को अनेक प्रकार की हानि पहुँचाते हैं। मनोविज्ञान का अध्ययन करनेवाले व्यक्ति को ऐसी भूलों से सावधान रहना पड़ता है। बालक को हमें कदापि अपने पैमाने से न नापना चाहिए। बालक की जिन छोटी-छोटी बातों को हम महत्वहीन समझते हैं, उनका बाल्य-जीवन में भारी महत्त्व होता है। बाल-मन के अध्ययन करनेवाले व्यक्ति को अपने आप को बालक की मानसिक अवस्था में रखना पड़ता है। जहाँ तक सम्भव हो, उसे अपने बाल्य-जीवन की बातों को स्मरण रखना चाहिये और इस अनुभूति के आधार पर उसे बालक के साथ व्यवहार करना चाहिए।

बालक के मन का अध्ययन करने में एक कठिनाई यह है कि हम जब तक बालक से मित्रता स्थापित नहीं कर लेते, अथवा उससे हेल-मेल नहीं बढ़ा लेते, तब तक उसकी हार्दिक इच्छाओं के संबंध में कुछ भी नहीं जान सकते। छोटे बालकों के मन के विषय में बाहरी आदमी का किसी प्रकार की जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न निष्फल हो जाता है। बालकों के खेल में जब कोई आगंतुक उनके सामने जाता है तो बालकों का खेल बिगड़ जाता है। बालक के मन की वास्तविक दशा का ज्ञान उसके स्वाभाविक व्यवहार को जानकर ही कर सकते हैं, किन्तु जब कोई व्यक्ति बालकों के समीप उनके मन का अध्ययन करने जाता है तो उनका स्वाभाविक व्यवहार बदल जाता है। माता-पिता और शिक्षकों को अपने बालकों के विषय में जानने की रुचि स्वयं ही रहती है। अतएव बालक के मन का अध्ययन बाल-मनोविज्ञान में दक्ष शिक्षक और माता-पिता द्वारा ही भले प्रकार हो सकता है। यहाँ पर यह स्मरण रखना आवश्यक है कि प्रायः बालक के माता-पिता बाल-मन की क्रियाओं का

वास्तविक अर्थ लगाने में असमर्थ होते हैं। बात यह है कि माता-पिता अपने बालकों को उस निरपेक्ष भाव से नहीं देख सकते जैसे कि एक मनोवैज्ञानिक देख सकता है। उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति बालक की प्रत्येक चेष्टा का अर्थ भला लगाने की रहती है। वे कदापि यह नहीं सोच सकते कि उनके बालक के मन में दुर्वासनाएँ हैं। निरपेक्ष भाव से अपने बालकों की ओर देखने के लिए माता-पिताओं को वैज्ञानिक दृष्टि प्राप्त करनी होगी, जिसके लिए विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है।

बाल-मन के अध्ययन की विधियाँ

बालक के मन की अध्ययन-विधियों को निम्नलिखित भेदों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) अन्तर्दर्शन[1]।
(२) निरीक्षण[2]।
(३) प्रयोग[3]।
(४) तुलना[4]।
(५) प्रश्नावली[5]।
(६) मनोविश्लेषण[6]।

यहाँ हम इन भेदों को एक-एक करके समझाने की चेष्टा करेंगे।

अन्तर्दर्शन—अन्तर्दर्शन मनोविज्ञान के अध्ययन की एक विशेष विधि है। जिस प्रकार पदार्थ-विज्ञान में निरीक्षण-विधि का प्रथम स्थान रहता है उसी प्रकार मनोविज्ञान में अन्तर्दर्शन का प्रथम स्थान है। संसार के बाह्य पदार्थों का ज्ञान हम बाह्य अवलोकन द्वारा कर सकते हैं। मन दृष्टिगोचर पदार्थ नहीं है। यह एक आन्तरिक पदार्थ है। उसका अध्ययन करने के लिए हमें भीतर अवलोकन की आवश्यकता पड़ती है। हम अपने मन का ज्ञान बढ़ाकर ही दूसरों के मन को जान सकते हैं। हमारे सम्पर्क में आनेवाले लोगों की बाह्य-चेष्टाओं का आन्तरिक अर्थ क्या है, यह हम अपने अनुभव के अनुसार ही जान सकते हैं। अतएव सामान्य मनोविज्ञान का आधार अन्तर्दर्शन ही है।

बाल-मन के अध्ययन के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि अन्तर्दर्शन से ही हम उसमें उन्नति कर सकते हैं। कुछ मनोवैज्ञानिकों के कथनानुसार बाल-मन के अध्ययन के लिए एक तरह से अन्तर्दर्शन की आवश्यकता ही नहीं

---

1. Introspection, 2. Observation. 3. Experiment.
4. Comparative, 5. Questionaire, 6. Psychology.

है। बालक के और हमारे जीवन में इतनी विषमता है कि हमारा अपने मन का अन्तर्दर्शन बालक के व्यवहारों के अर्थ लगाने में किंचित् ही सहायक होता है। पर यहाँ हमें यह न भुला देना चाहिये कि हम अपने मन के विषय में जानकारी बढ़ाये बिना कदापि दूसरे के मन के विषय में जानकारी नहीं बढ़ा सकते, चाहे वह व्यक्ति बालक हो अथवा प्रौढ़। बाल-मन के विषय में अपना ज्ञान बढ़ाने के लिए हमें अन्तर्दर्शन से जो सहायता मिल सकती है, वह अमूल्य है। किन्तु इस अन्तर्दर्शन को हमें अपने बाल्य-जीवन की स्मृति से अथवा दूसरे उपकरणों से पूरा करना चाहिये।

निरीक्षण—बाल-मन की अध्ययन की दूसरी महत्त्व की विधि निरीक्षण है। जिस प्रकार दूसरे वैज्ञानिक विषयों के अध्ययन के लिए निरीक्षण की आवश्यकता होती है उसी प्रकार हम बालक के मन का अध्ययन निरीक्षण के द्वारा कर सकते हैं। बालक की बाह्य चेष्टाओं तथा उपचारों को देखकर हम उसकी मानसिक स्थिति का पता लगा सकते हैं। बालक जब हँसता है तब हम उसे प्रसन्नता का सूचक और जब रोता है तब उसे दुःख का सूचक समझते हैं। अनेक बालकों के खेलने-कूदने तथा भाषा सीखने के तरीकों को देखकर ही हम निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि खेल-कूद और भाषा का विकास उसके जीवन में किस प्रकार होता है। इसी तरह हम बालक की बाह्य क्रियाओं को देखकर उसके उद्वेगों, प्रवृत्तियों, कल्पना एवं बुद्धि के विषय में जानकारी बढ़ाते हैं।

बाल-मन के अध्ययन की कुछ कठिनाइयों को हमने ऊपर दिखाया है। ये सब कठिनाइयाँ बाल-मन के निरीक्षण में उपस्थित रहती हैं। हमें बाल-मन के अध्ययन में बड़ी सावधानी से काम करना पड़ता है। जो मनुष्य बाल-मन का अध्ययन भली भाँति करना चाहता है, उसे अपने बालकों के विषय में एक डायरी रखनी चाहिये। वह बालक के व्यवहारों में जो भी विलक्षण बात देखे उसे डायरी में तुरन्त लिख ले। कोई-कोई मनोवैज्ञानिक इस कार्य को कुशलता से करने के लिए संकेत लिपि का प्रयोग करते हैं। बालक के व्यवहारों का निरीक्षण करते समय बालक को यह कदापि ज्ञात न होने देना चाहिए कि उसका निरीक्षण किया जा रहा है; नहीं तो वह संकोचवश स्वाभाविक व्यवहारों को छोड़ देगा और उसकी सारी क्रियाएँ कृत्रिम हो जायँगी।

पश्चिमी मनोवैज्ञानिकों ने निरीक्षण-कार्य को सफल बनाने के लिए प्रकार की प्रयोगशालाएँ बनाई हैं, जहाँ पर बालक के अनजाने उसका किया जा सकता है। इस निरीक्षण-शाला में निरीक्षक एक ऐसे परदे के

बैठा रहता है, जहाँ से निरीक्षक तो बालक को देख सकता है, किन्तु बालक निरीक्षक को नहीं देख सकता। चार-छः बालकों को जब इस कमरे में लाया जाता है तब वे अपने स्वाभाविक खेल खेलते रहते हैं और निरीक्षक उनको इसी अवस्था में देख लेता है।

प्रयोग—बाल-मन का अध्ययन प्रयोग द्वारा भी किया जा सकता है। बाल-मन की अनेक क्रियाएँ ऐसी हैं जिनकी जाँच हम विशेष प्रयोगों द्वारा कर सकते हैं। बालक की स्मरण-शक्ति, चित्र-निरीक्षण, कल्पना, विचार-शक्ति तथा बुद्धि के विषय में अनेक प्रकार के प्रयोग किये गये हैं जिनके फलस्वरूप बाल-मन के विषय में हमारे ज्ञान की वृद्धि हुई। प्रत्येक शिक्षक इस प्रकार के प्रयोग अपनी शिक्षा में कर सकता है। वास्तव में प्रयोग निरीक्षण से पृथक् कोई वस्तु नहीं है। निरीक्षण का कार्य जहाँ पर जानी हुई परिस्थिति तथा निरीक्षण के वस में होता है वहाँ प्रयोग-विधि का कार्य माना गया है।

किन्तु बालकों के मन के विषय में प्रयोग करने की सीमा है। बालक के अनेक व्यवहार ऐसे होते हैं, जिनके विषय में प्रयोग नहीं किये जा सकते। प्रयोगशाला कृत्रिम वातावरण से पूर्ण रहती है। ऐसे वातावरण में बालक के अनेक प्रकार के व्यवहारों के वास्तविक अर्थ को हम नहीं जान सकते। प्रयोग-शाला में आते ही बालक संकोचवश उस प्रकार का व्यवहार नहीं करता, जिस प्रकार का वह स्वतन्त्र रहने पर करता है। अतएव बालक के व्यवहारों की ऐसी थोड़ी ही बातें हैं, जिनके ऊपर हम प्रयोग कर सकते हैं।

प्रयोग-विधि की दूसरी कठिनाई यह है कि हम अपना मनोवैज्ञानिक ज्ञान बढ़ाने के लिए बालक के ऊपर सब प्रकार के प्रयोग नहीं कर सकते। जिस प्रकार कोई डाक्टर किसी विष के असर को जानने के लिए किसी स्वस्थ मनुष्य को वह विष नहीं दे सकता, उसी प्रकार किसी विशेष प्रतिक्रिया को जानने के लिये हम बालक के साथ चाहे जैसा व्यवहार नहीं कर सकते। न तो बालक निर्जीव पदार्थ है और न उसकी गिनती मेढ़क, चूहे जैसे प्राणियों की श्रेणी में है, जिनके ऊपर प्राणी-शास्त्र के पण्डित अनेक प्रकार के प्रयोग किया करते हैं। भय की प्रतिक्रिया जानने के लिए हम बालक को भयभीत नहीं करेंगे। यदि किसी मनोवैज्ञानिक को बालक के मन पर भय की प्रतिक्रिया के विषय में जानना है तो उसे निरीक्षण मात्र से ही काम लेना होगा।

तुलना—बाल-मन का अध्ययन तुलनात्मक विधि द्वारा भी किया जा सकता है। मनुष्य के और पशुओं के स्वभाव में अनेक प्रकार की समानता है। तुलनात्मक विधि से पशुओं के व्यवहार का अध्ययन मनुष्य के मन के

अध्ययन के काम में लाया जा सकता है। हम बालक के मन के अध्ययन में भी इस विधि से सहायता पा सकते हैं। बालक में और पशुओं के बच्चों में कई बातों में समानता है। पशुओं के ऊपर किये गए प्रयोग बाल-मन जानने में हमें बहुत लाभ पहुँचा सकते हैं। मनुष्यों और पशुओं के उद्वेग तथा मूल प्रवृत्तियाँ एक-सी रहती हैं। यदि हम भले प्रकार से पशुओं के उद्वेगों और मूल प्रवृत्तियों का अध्ययन करें तो हमें बालक के मन के विषय में जानकारी बढ़ाने में पर्याप्त सहायता मिलेगी।

प्रश्नावली—बाल-मन के अध्ययन की एक महत्त्व की विधि प्रश्नावली है। इस विधि को प्रयोग में लानेवाला मनोवैज्ञानिक एक प्रश्नावली तैयार करके अनेक शिक्षित माता-पिताओं के पास भेज देता है। प्रश्नावली में ऐसे अनेक विचार होते हैं जिनसे बालक का हाल मालूम होता है। इस तरह हम भिन्न-भिन्न आयु के बालकों के मनोविकास का सरलता से पता चला लेते हैं। भिन्न-भिन्न वर्गों के बालकों के मनोविकास में भेद होते हैं। प्रश्नावली की विधि के द्वारा यह सरलता से जाना जा सकता है। प्रश्नावली की विधि में माता-पिता और शिक्षकों से बड़ी मदद मिलती है।

इस विधि की त्रुटियों को ध्यान में रखना हमारे लिए आवश्यक है। पहले तो प्रत्येक माता-पिता को इस प्रकार की शिक्षा नहीं मिली रहती, जिससे वे प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर दे सकें। दूसरे, इस प्रकार की विधि से एक ही वर्ग के बालकों के विषय में, जिनके कि माता-पिता शिक्षित हैं—अर्थात् मध्यम श्रेणी और उच्च श्रेणी के बालकों के विषय में—हम जान सकते हैं। गरीब बालकों के विषय में, जिनके कि माता-पिता अशिक्षित हैं इस विधि से कुछ भी नहीं जाना जा सकता।

प्रश्नावली की दूसरी त्रुटि यह है कि हम प्रश्नों के उत्तरों के ऊपर पूरा विश्वास नहीं कर सकते। शिक्षित माता पिताओं में भी बहुत से इन प्रश्नावलियों का उत्तर देने में कोई रुचि नहीं रखते, अतएव उनसे उत्तर पाना कठिन होता है। जिन माता-पिताओं को अपने बालकों के व्यवहारों का उत्तर देने की रुचि होती है वे भी प्रायः ठीक उत्तर नहीं देते। वे अपने बालकों के विषय में कदाचित् ही ऐसी बातें कहेंगे, जिससे बालकों के व्यवहार की त्रुटियाँ ज्ञात हों।

प्रश्नावली की विधि में शिक्षक लोग अवश्य सहायक हो सकते हैं, अतएव प्रत्येक शिक्षक की बाल-मन के अध्ययन की रुचि बढ़ाना परमावश्यक है। जब उन्हें बाल-मन-अध्ययन में रुचि होगी तो वे बालक के विषय में अनेक बातों की खोज करने में सहायक होंगे। वे निरपेक्ष भाव से अपने विद्यार्थियों की ओर

देख सकते हैं, अतएव शिक्षकों के किसी भी प्रश्नावली के उत्तर महत्त्व के हैं।

मनोविश्लेषण—बाल-मन-अध्ययन की एक और विधि मनोविश्लेषण है। वर्तमान शताब्दी में मनोविश्लेषण-विज्ञान की खोजें मनुष्य के स्वभाव का अध्ययन करने में बड़ी सहायता दे रही हैं। बाल-मन के समझाने में भी मनोविश्लेषण महत्त्व का कार्य कर रहा है। मनुष्य का मन दो प्रकार का है—व्यक्त और अव्यक्त। साधारण मनोविज्ञानियों का अध्ययन प्रायः व्यक्त मन तक ही सीमित रहता है। बाल-मन का अध्ययन करने में कुछ काल पूर्व प्रायः बालक के व्यक्त मन पर ही विचार किया जाता था, किन्तु वर्तमान काल में बालक के अचेतन मन का भी अध्ययन किया जाता है। मनोविश्लेषण-विज्ञान द्वारा बालक के मन के भीतर दबी हुई भावनाओं और उद्वेगों को बाहर निकाला जाता है और इस प्रकार उनके जीवन की अनेक प्रकार की जटिलताओं का निवारण किया जाता है। मनोविश्लेषण-विधि मन के अध्ययन की एक कठिन विधि है। इस विधि का भली भाँति प्रयोग करने के लिए मनोवैज्ञानिक को विशेष प्रकार की शिक्षा लेनी पड़ती है। इस विधि में बालकों के स्वप्न और उनके हाव-भाव का अध्ययन विशेष प्रकार से किया जाता है। मनोवैज्ञानिक को इस विधि का प्रयोग करने के लिए मोह-निद्रा तथा सम्मोहन क्रिया में दक्ष होना चाहिए। बालक की अनेक अव्यक्त वासनाओं की खोज बालक को मोहनिद्रा में सुलाकर की जाती है। इसी तरह उसके स्वप्नों का अध्ययन भली भाँति किया जाता है और स्वप्न-विज्ञान की सहायता से उनके स्वप्नों का अर्थ लगाया जाता है। इस विधि का पूरा परिचय पाठक को इस पुस्तक के किसी अगले परिच्छेद में भले प्रकार कराया जायगा।

विषय-विस्तार

बाल-मन के अध्ययन के अनेक पहलू हैं। उन सब के ऊपर विचार करना किसी भी लेखक के लिए असम्भव कार्य है। दूसरे, बाल-मनोविज्ञान का सामान्य मनोविज्ञान तथा शिक्षा-मनोविज्ञान से इतना घनिष्ठ संबंध है कि पिछले दो विज्ञानों के विषय का परिचय कराए बिना हम अपने विषय को भली भाँति स्पष्ट नहीं कर सकते। यहाँ पाठकों को यह जता देना आवश्यक है कि आगे के परिच्छेदों में सामान्य मनोविज्ञान और शिक्षा-मनोविज्ञान पर पूरा प्रकाश डाला जायगा। मनोविज्ञान के प्रत्येक अङ्ग को समझने के लिए सामान्य मनोविज्ञान का ज्ञान आवश्यक है और शिक्षा-मनोविज्ञान के द्वारा बाल-मनोविज्ञान की उपयोगिता सिद्ध होती है। वास्तव में बालक के मन के अध्ययन का लक्ष्य निरा

अध्ययन नहीं है। इन पृष्ठों में बालक के स्वभाव को समझाकर हमने यह दर्शाने की चेष्टा की है कि अभिभावक और शिक्षकगण बालक के व्यक्तित्व के विकास में, हर एक अवस्था में, किस प्रकार सहायता कर सकते हैं।

बालक की अनेक प्रकार की मनोवृत्तियों के अध्ययन का समावेश बाल-मन के अध्ययन में होता है। ये वृत्तियाँ मनोवैज्ञानिकों ने तीन प्रकार की मानी हैं—क्रियात्मक,[1] रागात्मक[2] और ज्ञानात्मक[3]। इन तीनों प्रकार की वृत्तियों को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। वास्तव में जहाँ मन की एक प्रकार की वृत्ति रहती है, वहाँ दूसरे प्रकार की वृत्तियाँ अवश्य ही रहती हैं। हमारे अध्ययन को सुगम बनाने के लिए ही इस प्रकार का विषय-विभाजन किया गया है। जब हम रागात्मक वृत्तियों पर विचार करेंगे तो दूसरी दो प्रकार की वृत्तियों पर उतना ही प्रकाश डाला जायगा, जितना कि वृत्ति के रागात्मक रूप को भली भाँति समझने के लिए पर्याप्त है।

इस पुस्तक में उपर्युक्त तीन प्रकार की वृत्तियों से संबंधित विषयों को पृथक्-पृथक् विभागों में विभक्त नहीं किया गया है। बालक के मनोविकास के क्रमानुसार ही भिन्न-भिन्न विषयों का वर्णन करने की चेष्टा की गई है। उदाहरणार्थ, पहले बालक की क्रियात्मक वृत्तियों पर प्रकाश डाला गया है। इसके पश्चात् उसके संवेगों और ज्ञानात्मक वृत्तियों का अध्ययन किया गया है। बालक के चरित्र में सब प्रकार की मनोवृत्तियों का समावेश होता है। अतएव चरित्र-गठन का विषय बालक की क्रियात्मक, रागात्मक, ज्ञानात्मक वृत्तियों के वर्णन के पश्चात् लिया है। अन्त में हमने महत्वपूर्ण आधुनिक मनोवैज्ञानिक खोजों की बाल्य-मन के अध्ययन में उपयोगिता बतलाई है। ये खोजें मनोविश्लेषण, जटिल बालक तथा बुद्धि-माप संबंधी हैं।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि बाल-मन का भले प्रकार अध्ययन करने के लिये पाठक को बालक के वातावरण और पैतृक संस्कारों के महत्त्व, विकास की अवस्थाओं, उसकी मूल प्रवृत्तियों, आदतों, सीखने के नियमों, बालक के संवेग तथा ज्ञानात्मक वृत्तियों—जैसे इन्द्रिय-ज्ञान प्रत्यक्ष, कल्पना स्मृति, विचार इत्यादि—का अध्ययन भले प्रकार से करना पड़ेगा। उसके चरित्र-विकास के नियमों, व्यक्तित्व के विकास में कठिनाइयों और आधुनिक खोजों की महत्ता जानने की आवश्यकता है। अगले प्रकरणों में इन सभी विषयों पर यथोचित प्रकाश डालने की चेष्टा की जायगी।

---

1. Contanimative, 2. Affective, 3. Cognitive.

दूसरा प्रकरण

बालक के मानसिक विकास की अवस्थाएँ

मनोवैज्ञानिकों ने बालकों के मानसिक विकास को चार भागों में विभाजित किया है—शैशवावस्था, बाल्यावस्था, किशोरावस्था और प्रौढ़ावस्था। इन अवस्थाओं के भिन्न-भिन्न लक्षण होते हैं। जब कोई बालक एक अवस्था को पार कर दूसरी अवस्था में जाता है तो उसकी आकृति, हाव-भाव और व्यवहारों में इतना परिवर्तन हो जाता है कि हम उनको देखकर सरलता से यह पता चला सकते हैं कि बालक अमुक समय में किस मानसिक विकास की अवस्था में है। प्रत्येक अवस्था में बालक के स्वभाव में भिन्नता होने के कारण हमें बालक से विशेष प्रकार का व्यवहार रखना पड़ता है और उसके मनोविकास तथा बुद्धि के लिए विशेष प्रकार की सामग्री एवं साधनों को एकत्र करना पड़ता है। बालक की शिक्षा में उसके मनोविकास-क्रम को ध्यान में रखना परमावश्यक है। जिस प्रकार की शिक्षा किशोरावस्था के बालकों को दी जा सकती है, जिस प्रकार का नियन्त्रण उनके ऊपर रखा जा सकता है, उस प्रकार की शिक्षा यदि हम पहली अवस्थावाले बालकों को देना चाहें, तो हम बालकों के प्रति बड़ा अन्याय करेंगे और हमारा इस प्रकार का प्रयास निष्फल ही होगा।

स्टेन्ले हाल का मनोविकास का सिद्धान्त—स्टेनले हाल महाशय ने बाल-मनोविकास के विषय में एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त स्थिर करने की चेष्टा की है। उनके कथनानुसार बालक के मनोविकास का क्रम मनुष्य मात्र के मनोविकास के क्रम से सामञ्जस्य रखता है। जिस तरह मनुष्य अपनी प्राकृतिक और बर्बर अवस्था से मुक्त होकर सभ्यता की ऊँची मंजिल पर पहुँचा है, उसी प्रकार प्रत्येक बालक अपने जीवन में क्रमशः प्राकृतिक जीवन को पार कर सभ्य-समाज में रहने योग्य बनता है। प्रत्येक बालक मनुष्य मात्र के विकास के समस्त क्रम को अपने जीवन में बरतता है। यहाँ हमारा ध्यान इस तथ्य के ऊपर आकर्षित किया जाता है कि जिस प्रकार मनुष्य का असभ्य समाज एकाएक सभ्य नहीं बना है और न किसी असभ्य समाज को आज एकाएक सभ्य बनाना सम्भव है; उसी प्रकार कोई भी बालक अपने जन्म-जात पशु-स्वभाव को छोड़कर शिष्टाचारी, विचारवान् व्यक्ति नहीं बन सकता। बालक की रुचियाँ उसके मनोविकास के

क्रमानुसार भिन्न होती हैं। उसकी भिन्न-भिन्न अवस्था में भिन्न-भिन्न कल्पनाएँ होती हैं। इसी तरह उसके आचरण की शक्ति में भी अवस्था के अनुसार भेद होते हैं।

प्रौढ़ व्यक्तियों को बाल-मन के जानने में इसलिए कठिनाई पड़ती है कि वे जिन अवस्थाओं को पार कर चुके हैं, उनसे संबंध रखनेवाले अपने अनुभवों को भूल जाते हैं और अपनी दृष्टि से बालकों के व्यवहारों तथा विचारों पर विवेचना करने लग जाते हैं। बालक को समझने के लिए मनोवैज्ञानिक को अपनी अनुभूति का स्मरण रखना आवश्यक है। बालक को जानने के लिए बालक बन जाना पड़ता है यदि हम बालक के विकास के क्रम को सदा ध्यान में रखें, तो हम कदापि बालक के प्रति अन्याय न करेंगे। हमें फिर बालक का प्रत्येक काम—चाहे वह ऊपरी दृष्टि से कितना ही निरर्थक क्यों न जान पड़े—महत्त्व का ज्ञात होने लगेगा। हम बालक के मन में बरबस उन बातों को न ठूँसेंगे, जिनके लिए उसके मन में भूख नहीं है। हम उसे इस प्रकार के नियन्त्रण में न रखेंगे जिससे उसके व्यक्तित्व का विकास रुक जाय। समय के पूर्व जिस बालक को विचारवान् बनाने की चेष्टा की जाती है वह स्फूर्तिवान् नहीं, मन्दबुद्धि हो जाता है और जिसे समय के पूर्व सदाचारी बनाने की चेष्टा की जाती है वह दुराचारी बन जाता है। इस तरह से हम बालक के प्रति सद्भावना रखकर भी बाल-मनोविकास के ज्ञान के अभाव में उसका कल्याण न कर अकल्याण ही करते हैं *।

---

* इस कथन को निम्नलिखित उदाहरण, जो डंभिल महाशय ने अपनी फ़ान्डामेन्टल्स आफ साइकलोजी नामक पुस्तक में दिया है, स्पष्ट करता है। यह उदाहरण इङ्गलैंड के महाराज सप्तम एडवर्ड का है—

सप्तम एडवर्ड को किसी प्रकार के अध्ययन की रुचि न थी। वे पढ़ने-लिखने से दूर भागते थे। किसी जटिल विषय का मनोयोग से अध्ययन करना उनके स्वभाव के प्रतिकूल था। उनका पढ़ना अखबारों और मासिक-पत्रिकाओं तक ही सीमित था। उनकी जीवनी में रुचि रखनेवाले लोगों ने इस प्रकार के उनके विशेष व्यवहार का कारण जानने की चेष्टा की। उनके जीवन का भली-भाँति अध्ययन करने से पता चला कि उनके पिता उनको बाल्यावस्था में ही विद्वान् बना देना चाहते थे। अपनी इस कामना की पूर्ति के लिए उन्होंने बालक एडवर्ड के लिए कई अध्यापक नियुक्त कर दिये। उसका प्रायः सारा समय अध्ययन करने में ही व्यतीत होता था। बालक अपनी शीलता के कारण

स्टेनले हाल महाशय ने अपनी एडोलेसेन्स (किशोरावस्था) नामक पुस्तक में भली भाँति समझाया है कि बालक के मनोविकास के क्रम की किसी प्रकार अवहेलना नहीं की जा सकती है। जहाँ भी अवहेलना करने की चेष्टा की गई है, अनर्थ ही हुआ है।

अर्नेस्ट जोन्स का सिद्धान्त

मनोविश्लेषण-विज्ञान के विशेषज्ञ अर्नेस्ट जोन्स ने बालक के मनोविकास की अवस्था के विषय में एक नया सिद्धान्त स्थिर किया है, जो यहाँ उल्लेखनीय है। अर्नेस्ट जोन्स का कथन है कि बालक के मन का विकास उसके प्रेम अथवा काम-प्रवृत्ति के विकास के साथ-साथ होता है। मनोविश्लेषण-विज्ञान के अनुसार काम-प्रवृत्ति और प्रेम-भावना में मौलिक भेद नहीं है, प्रत्येक प्रेम-प्रदर्शन करनेवाली क्रिया की जड़ में काम-प्रवृत्ति ही रहती है।*

जोन्स महाशय ने बालक के प्रेम-प्रदर्शन की चार अवस्थाएँ बताई हैं। पहली अवस्था में वह अपने ऊपर ही प्रेम करता है और अपने आप पर मोहित

माता-पिता की आज्ञाओं का उल्लंघन नहीं करता था। जहाँ तक हो सकता था, वह अपना सारा समय पढ़ने-लिखने में ही लगाता था। किन्तु इस प्रकार का जीवन व्यतीत करना उसके वास्तविक स्वभाव के प्रतिकूल था। उनका हृदय अपने साथियों के साथ खेलने के लिए सदा लालायित रहता था। किन्तु उसकी इस इच्छा की पूर्ति के लिए उसे कोई अवसर नहीं दिया जाता था। इसका परिणाम यह हुआ कि एक तरफ तो बालक सुशीलतावश अध्ययन में समय लगाता रहा और दूसरी तरफ उसके आन्तरिक हृदय में पढ़ने-लिखने के प्रति स्थायी घृणा हो गई। वास्तव में बालक पढ़ना नहीं चाहता था। अतः अनुचित दबाव डालकर उसे पढ़ाया जाता था। ऐसा करने से उसने अदृश्य मन में पढ़ने के प्रति घृणा की एक ग्रन्थि बन गई। बालक की जब प्रौढ़ावस्था हुई तब उसकी ग्रन्थि की प्रतिक्रिया पढ़ने-लिखने के विषय में, अरुचि के रूप में, प्रकट हुई। पिता बालक को जितना ही विद्वान बनाना चाहता था, बालक प्रौढ़ावस्था में उतना ही विद्या और विद्वानों की संगति से विमुख हो गया।

*डाक्टर गिरीशचन्द्र बोस का, जो कलकत्ता विश्वविद्यालय के मनोविज्ञान विभाग के अध्यक्ष हैं, कथन है "काम-भावना प्रेम के बिना हो सकती है, किन्तु काम-भावना के बिना प्रेम नहीं हो सकता।"

रहता है। इस अवस्था का नाम 'नार्सीसीजम'* की अवस्था बताया गया है। बालक इस अवस्था में अपने आप ही में मग्न रहता है। उसके खेल वैयक्तिक रहते हैं; वह अपने कामों को बड़ी प्रसन्नता के साथ करता और उन्हें अपने आप सुन्दर समझता है। यह शैशवावस्था का काल है।

प्रेम-विकास की दूसरी अवस्था माता-पिता के प्रति प्रेम की अवस्था है। इस अवस्था को ओडिपस काम्प्लेक्स और एलेक्ट्रा काम्प्लेक्स कहा गया है। यह बाल्यावस्था का काल है। इस अवस्था में लड़की का विशेष प्यार पिता की ओर होता है और लड़के का माता की ओर। बालक सदा अपने प्रेमी के प्रेम के ऊपर पूरा-पूरा अधिकार चाहता है। उसे अपने प्रेम-पात्र के प्रेम का बँटवारा करनेवाले प्रत्येक व्यक्ति से ईर्ष्या होती है। इस काल में बालक के मन में ऐसी अनेक ग्रन्थियाँ पड़ जाती हैं, जिनसे बालक के व्यक्तित्व का विकास होने में भारी अड़चन होती है। माता-पिता को इस काल में बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए। कुटुम्ब का प्रत्येक बालक नये बालक के जन्म से प्रसन्न नहीं होता, उसे तो अनेक प्रकार की आन्तरिक वेदनाएँ होने लगती हैं।† माता-

---

* यह शब्द ग्रीस देश के एक प्रसिद्ध कथानक से निकला है। नार्सीसस् नाम का एक बालक था। यह बालक एक दिन अकेला एक सुन्दर तालाब के पास गया। कुछ देर तक उसके किनारे खेलते-खेलते बालक की दृष्टि अपनी परछाईं पर पड़ी। इस परछाईं को देखकर वह मोहित हो गया। उसने समझा कि पानी में एक सुन्दर बालक है। उसे नार्सीसस ने बुलाने की बहुत चेष्टा की किन्तु जब वह न आया तब तालाब के किनारे ही उसकी चिन्ता करते-करते वह मर गया।

ग्रीक लोगों के उपर्युक्त कथानक के आधार पर मनोविश्लेपण के वैज्ञानिकों ने आत्ममोह की अवस्था का नाम "नार्सीसीजम" रक्खा है।

† डंभिल महोदय का अपनी फ़ान्डामेंटल्स आफ साइकलोजी नामक पुस्तक में दिया हुआ एक उदाहरण उपर्युक्त कथन को भली भाँति स्पष्ट करता है। वह इस प्रकार है:—

एक अँगरेज की नव वर्ष की बालिका फ्रेञ्च भाषा पढ़ने में पिछड़ने लगी। इस बालिका को उस भाषा के पढ़ने में इसलिए कठिनाई होती थी कि वह शब्दों के बहुवचन न बना सकती थी। शिक्षकों के अनेक प्रयत्न करने पर भी उसकी स्मरण-शक्ति में कोई परिवर्तन न हुआ। इससे लोग तङ्ग आ गये। जब प्रयत्न करते-करते उसके माता-पिता और शिक्षक-गण थक गये, तब

पिता प्रायः सबसे छोटे बालक को अधिक चाहते हैं। किन्तु इस बात को बड़ा बालक सहन नहीं कर सकता। मनोविश्लेषण वैज्ञानिकों ने उपर्युक्त कथन की पुष्टि मनोविश्लेषण द्वारा स्वस्थ किये गये जटिल बालकों के उदाहरण से की है।

उन्होंने एक मनोविश्लेषण विज्ञान के ज्ञाता की शरण ली। बालिका के व्यवहारों की छानबीन करने से उस वैज्ञानिक को पता चला कि अपने संबन्धियों के प्रति बालिका का व्यवहार उदासीनता का रहता है। उसके स्वप्नों का भी अध्ययन किया गया। बालिका के स्वप्न विचित्र प्रकार के होते थे। वह स्वप्नों में प्रायः देखा करती कि उसके सभी संबन्धी मर गये हैं और वही अकेली जीवित रह गई है। बालिका के पिछले दिनों की जाँच करने से ज्ञात हुआ कि कुछ वर्ष पहले माता-पिता का उस बालिका पर अत्यधिक प्रेम था। पर उसका एक छोटा भाई पैदा होने पर उसी को लोग अधिक प्यार करने लगे, लड़की पर प्रेम कम हो गया।

बालिका का भाई इस समय ४ साल का था। थोड़े दिन पहले यह बच्चा अपनी बहन को बहुत प्यार करता था और जैसे वह कहती, वैसा ही करता था। वह जहाँ कहीं जाती, भाई भी पीछे-पीछे जाता था। वह जो कुछ खेलती उसी खेल में भाई मन लगाता था। पर थोड़े दिन से उसके इस व्यवहार में अन्तर पड़ गया था। अब वह बहन को अनेक प्रकार से चिढ़ाने और नीचा दिखाने की चेष्टा करने लगा था। खेल-खेल में वह अपने आप को दूसरों के सामने बहन से अधिक योग्य सिद्ध करने की चेष्टा किया करता था। जब कभी बालक शराब के सौदागर का खेल खेलता था तब माता-पिता से पूछता था कि हमारी बोतल की शराब लोगे या हमारी बहन की बोतल की। माता-पिता स्वभावतः छोटे बालक से शराब लेना पसन्द करते थे। इससे उसकी बहन को आन्तरिक दुःख होता था। उसकी बहन के मन में कुछ समय के बाद इस बालक के और माता-पिता के प्रति घृणा की एक गाँठ पड़ गई। इस भावना-ग्रन्थि का ही यह कार्य था कि यह बालिका अपने माता-पिता से उदासीन रहती थी, कुटुम्बियों के मर जाने का स्वप्न देखती थी और फ्रेञ्च भाषा के बहुवचन पढ़ने में उसे कठिनाई होती थी। उसका अदृश्य मन अपने संबन्धियों के प्रेम से वंचित रहने के कारण उन्हें शाप दिया करता था। बालिका अपने परिवार में ऐसे लोगों की उपस्थिति ही नहीं चाहती थी, जो उसकी इस प्रकार अवहेलना करें—उसे एकवचन ही प्रिय था, बहुवचन नहीं। इसीलिए उसे फ्रेञ्च भाषा के बहुवचन याद करने में कठिनाई पड़ती थी।

माता-पिता के प्रति प्रेम की अवस्था पार करने पर बालक की तीसरी अवस्था आती है। इस अवस्था में वह स्ववर्गी बालकों से प्रेम-भावना स्थापित करता है। यह शैशवावस्था का प्रथम चरण है। इस काल में प्रत्येक बालक का प्रेम-पात्र अपने साथ खेलनेवाला बालक होता है, जिसके बिना वह क्षण भर भी नहीं रह सकता। बालक इस काल में स्वार्थी न रहकर त्यागी बन जाता है। वह अपने मित्र के लिए सब प्रकार के संकट सहने को तैयार रहता है। जिन बालकों को इस काल में अपने मन के साथी नहीं मिल पाते वे अनेक काल्पनिक साथी बना लेते हैं। वास्तव में यह काल बालक के व्यक्तित्व के विकास के लिए सब से महत्त्व का होता है। अपने साथियों में रहकर बालक नैतिक जीवन की महत्ता को जानने लगता है। वास्तव में इसी समय से बालक की नैतिकता और चरित्र विकास का प्रारम्भ होता है। जिन बालकों को अच्छे साथी मिलते हैं, उनका जीवन सुयोग्य बन जाता है। जिन्हें ऐसे साथी नहीं मिलते उनका जीवन सदैव के लिए अधूरा रह जाता है। मनुष्य के जीवन को उत्कृष्ट बनानेवाले सद्गुणों का स्फुरण इसी काल से प्रारम्भ होता है।

स्टेनले हाल महाशय ने किशोरावस्था को जीवन का वसन्त कहा है। वसन्त ऋतु से बढ़कर मनमोहिनी कोई ऋतु नहीं है। यह वही ऋतु है जिसमें प्रकृति सब प्रकार से सुसज्जित होकर द्रष्टा के मन को लुभाती है। वसन्त में प्रत्येक प्राणी अपनी दुःखद भावना को छोड़कर प्रसन्नता से परिपूर्ण हो जाता है। इसी तरह किशोरावस्था में बालक रूप-रंग से सुन्दर, शरीर से सुडौल तथा बोल-चाल में मधुर होता है। किशोर बालक को देखकर प्रत्येक व्यक्ति का मन आकर्षित हो जाता है। किशोर बालक पर प्रौढ़ लोग मोहित होते ही हैं, समवयस्क तो और भी अधिक मोहित होते हैं। दो किशोर बालकों में कितनी घनिष्ठता हो सकती है, इसका अन्दाजा लगाना प्रौढ़ व्यक्तियों के लिए कठिन है।

जिस प्रकार किशोर बालक ऊपर से सुन्दर लगता है उसी प्रकार उसका मन भी सरल और सुन्दर रहता है। यह विरले ही बालक के विषय में कहा जा सकता है कि—"मन मलीन तन सुन्दर कैसे। विष-रस भरा कनक-घट जैसे।" वास्तव में हमारा कलुषित मन ही बालक की मानसिक सुन्दरता को जानने में बाधक होता है।

किशोर बालक बड़ा उत्साही, त्यागी और सक्रिय होता है। वह आगे-पीछे का विचार नहीं करता। जिस भावना को वह भली समझता है, उसके लिए अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए तैयार रहता है। आदर्शवादिता का बीजारोपण इसी काल में होता है।

मनोविकास की चौथी अवस्था में बालक का प्रेम विजातीय बालकों के प्रति जाता है। लड़के लड़कियों को प्यार करते हैं और लड़कियाँ लड़कों को। यह अवस्था प्रौढ़ावस्था के आगमन की सूचक है। इसका प्रारम्भ किशोरावस्था के द्वितीय चरण में होता है और जीवन पर्यन्त रहता है। वास्तव में मनुष्य के भविष्य का निर्माण इसी समय हो जाता है। किसी व्यक्ति के मन में जो कुछ लगन रहती है उसका प्रारम्भ और वृद्धि शैशव के दोनों चरणों में होता है।

काल की दृष्टि से देखा जाय तो सामान्यतः शैशवावस्था जन्म से पाँच वर्ष तक, बाल्यावस्था पाँच से दस वर्ष तक, किशोरावस्था का पूर्व भाग दस से तेरह वर्ष तक और अन्तिम भाग तेरह वर्ष से अठारह वर्ष तक रहता है।

तीसरा प्रकरण

बालक के मनोविकास के उपकरण

बालक के मनोविकास के उपकरण दो प्रकार के कहे जा सकते हैं। ये उपकरण हैं, बालक का जन्मजात स्वभाव और बाह्य परिस्थितियाँ। इन्हीं का दूसरा नाम बालक की प्रकृति और बालक का पालन है। बालक के जीवन विकास में इन दोनों अङ्गों का कहाँ तक महत्त्व है, इसे जानना प्रत्येक माता-पिता और शिक्षक के लिए परमावश्यक है। इस ज्ञान को प्राप्त करने के पश्चात् हम यह निश्चय कर सकते हैं कि बालक को किस प्रकार की और कहाँ तक शिक्षा दी जाय ताकि उसके मनोविकास के कार्य की गति न रुके।

बालक का जन्मजात स्वभाव—बालक का जन्मजात स्वभाव अधिकतर पैतृक सम्पत्ति पर निर्भर रहता है। इसको वंशानुक्रम कहा जाता है। बालक को अनेक शारीरिक और मानसिक विशेषताएँ अपने माता-पिता से मिलती हैं। प्रायः देखा गया है कि रूप-रंग, शरीर की बनावट और कद की ऊँचाई में बेटा अपने माता-पिता जैसा होता है। कई मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि बालक की बुद्धि, आदतें तथा चरित्र भी वंशानुक्रम से प्रभावित होते हैं। प्रायः देखा गया है कि सदाचारसम्पन्न बुद्धिमान् घरों के बालक सदाचारी और बुद्धिमान् होते हैं तथा दुराचारी और मन्द बुद्धिवाले माता-पिता की सन्तान मन्दबुद्धि और दुराचारी होती है। कितने ही मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि 'जिस प्रकार हम अपने शरीर को माता-पिता से पाते हैं उसी प्रकार चरित्र भी माता-पिता से ही पाते हैं।' यदि इस कथन में सत्यता है तो शिक्षक का कार्य बहुत ही सीमित हो जाता है। अतएव हमें वंशानुक्रम के प्रभाव को भली भाँति जानना आवश्यक है।

वातावरण[1] का प्रभाव—बालक के स्वभाव के विकास में दूसरा महत्त्व का अंग वातावरण का प्रभाव है। बालक जिस परिस्थिति में जन्म से रहता है, जिस प्रकार की शिक्षा-दीक्षा उसे दी जाती है, उसके सम्पर्क में आनेवाले लोग उससे जिस तरह का व्यवहार करते हैं—इन सब का समावेश वातावरण के अन्तर्गत होता है। देखा गया है कि अच्छे से अच्छे घर के बालक प्रतिकूल

1. Environment.

वातावरण में पड़कर अपनी प्रतिभा को प्रकाशित नहीं कर पाते। इसी तरह सदाचारी घर के बालक कुसंगति पाकर दुराचारी बन जाते हैं। इसके प्रतिकूल यह भी देखा गया है कि अभिभावकों ने जिन बालकों को मन्दबुद्धि अथवा दुराचारी समझकर समाज का कलङ्क समझा था, उन्हीं बालकों को योग्य शिक्षा देकर समाज का रत्न बना दिया गया। डाक्टर होमरलेन ने रिफारमेंटरी (सुधार-गृहों) के सैकड़ों दुराचारी बालकों को अपनी शरण में लेकर उनके जीवन में आश्चर्यजनक परिवर्तन कर दिखाया। जिस बालक को शिक्षा नहीं दी जाती वह जन्म से कितना ही प्रतिभाशाली क्यों न हो, समाजोपयोगी या प्रभावशाली व्यक्ति कदापि नहीं बन सकता। इसका समर्थन प्रत्येक बुद्धिमान् पुरुष अपने अनुभव से करेगा।

अब यह देखना है कि बालक के मनोविकास में उसकी पैतृक सम्पत्ति और वातावरण का प्रभाव कहाँ तक होता है। इस विषय पर किसी महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व कुछ पाश्चात्य विद्वानों के प्रयोगों तथा उनके मतों का उल्लेख कर देना आवश्यक है।

वंशानुक्रम[1] का अध्ययन

वंशानुक्रम का अध्ययन फ्रान्सिस गाल्टन, डग्डेल, डा० स्टाब्रुक, कार्ल पियरसन, गुडार्ड और विशिप महाशय ने किया है। सबसे पहले का फ्रांसिस गाल्टन का कार्य है। गाल्टन महाशय ने आठ जुड़वाँ बच्चों के जीवन का अध्ययन किया। इससे पता चला कि इन जुड़वाँ बच्चों का जीवन, एक-दूसरे से इतना मिलता-जुलता है, जितना कि एक ही कारखाने की बनाई हुई एक ही तरह की दो घड़ियों का, जिनमें एक साथ चाबी दे दी जाती हो। डग्डेल और स्टाब्रुक ने अमेरिका के जूक्स नामक एक परिवार का अध्ययन किया। इस परिवार के लगभग १००० लोगों के जीवन की जाँच से पता चला कि उनमें से ३०० शैशवावस्था में ही मर गये। ३१० भिखमंगे हुए। ४४० जीवन भर रोगग्रस्त रहे। १३० को अनेक प्रकार की सजाएँ हुईं जिनमें सात खूनी थे। केवल २० व्यक्तियों ने अपना जीवन रोजगार सीखकर व्यतीत किया। इस परिवार का जन्मदाता जूक्स था, जो शिकार करके तथा मछलियाँ मारकर निर्वाह करता था। उसने एक भ्रष्ट परिवार की महिला के साथ विवाह किया। इसी के फलस्वरूप ऊपर बताये हुए १००० बेकार और दुराचारी लोगों का जन्म हुआ।

कार्ल पियरसन ने वेजवुड-डार्विन-गाल्टन परिवार के इतिहास के १०००

---

1. Heredity.

लोगों का अध्ययन किया। इससे पता चला कि इस परिवार के सैकड़ों लोगों ने प्रतिष्ठा के स्थान पाये और समाज की बड़ी सेवा की। इस परिवार के लोग ५ पीढ़ी तक बराबर इंगलैण्ड की रायल सोसाइटी के सदस्य रहे।

गोडार्ड महाशय ने कालीकक नामक परिवार का अध्ययन किया। अमेरिका के एक सिपाही कालीकक ने दो विवाह किए। पहला एक मन्द बुद्धिवाली युवती के साथ और दूसरा एक प्रतिभाशाली, धर्म-परायण अच्छे परिवार की महिला के साथ। गोडार्ड ने पहली महिला से उत्पन्न ४८० व्यक्ति पाए और दूसरी महिला से ४९६। पहली महिला की सन्तान में १४३ मन्दबुद्धि थे। इस परिवार में दुराचार का भी आधिक्य था। इनमें से ७१ व्यक्ति वेश्यागामी, शराबी, चोर इत्यादि थे। कालीकक की दूसरी पत्नी से उत्पन्न लोगों में से नामी प्रोफेसर, डाक्टर, वकील तथा राज्य के प्रतिष्ठित अधिकारी हुए।

विशिप महाशय ने एडवर्ड परिवार का अध्ययन किया! रिचार्ड एडवर्ड नामक एक व्यक्ति ने एलिजाबेथ नामक एक बुद्धिमती महिला से व्याह किया। पीछे उसने एक साधारण स्त्री से भी विवाह कर लिया। पहले विवाह से पैदा हुई सन्तानों में अनेक प्रतिष्ठित लोग उत्पन्न हुए और दूसरे सम्बन्ध से ऐसा कोई भी न हुआ जो समाज में प्रतिष्ठा का स्थान पाता।

उपर्युक्त जाँच-पड़ताल से यह सिद्धान्त निकलता है कि बालक की प्रतिभा के विकास में वंशानुक्रम का बड़ा प्रभाव होता है।

वातावरण के प्रभाव का अध्ययन

जिस प्रकार अनेक मनोविज्ञानिकों ने वंशानुक्रम का अध्ययन किया है, उसी प्रकार दूसरे उत्साही पुरुषों ने वातावरण का अध्ययन किया है। १९ वीं शताब्दी के अनेक योरोपीय विद्वानों का मत था कि बालक के जीवन में विशेष महत्त्व वातावरण का है, वंशानुक्रम का प्रभाव तो बिल्कुल तुच्छ होता है। फ्रांस के हेल्वासियस् महाशय इस मत के प्रतिपादक थे। इस मत का समर्थन इंगलैण्ड के लाक महाशय द्वारा प्रतिपादित मन के स्वरूप विषयक सिद्धान्तों से हुआ। लाक महाशय का कथन है कि मनुष्य का मन एक स्वच्छ काले तख्ते के समान है जिस पर बिना लिखे कोई भी संस्कार अंकित नहीं होता। जिस प्रकार काले तख्ते पर लिखे जाने के कारण अनेक प्रकार के संस्कार पड़ जाते हैं उसी प्रकार हमारे स्वच्छ मन के ऊपर वातावरण-जनित अनुभवों के कारण अनेक संस्कार पड़ते हैं। जिस बालक का लालन-पालन जिस प्रकार के वातावरण में होता है, जैसी उसको शिक्षा होती है, वैसे ही उसके मानसिक संस्कार बन जाते हैं,

अतएव बालक की मानसिक उन्नति में उसकी शिक्षा और वातावरण का प्रमुख स्थान है।

इस सिद्धान्त के समर्थन के लिए फ्रांस के कैडोथ महाशय ने यूरोप के ५५२ बड़े-बड़े विद्वानों की जीवनी का अनुशीलन किया। इन विद्वानों में इंगलैण्ड की रायल सोसाइटी, पेरिस की एकेडेमी आफ साइन्स और बर्लिन की रायल एकेडेमी के लोग थे। इस अध्ययन से उन्हें पता चला कि इन विद्वानों में से अनेकों का जन्म धनी घरानों में हुआ था; उन्हें अपनी आजीविका के लिए चिन्ता नहीं करनी पड़ी थी; शिक्षा की सब प्रकार की सुविधाएँ उनको थीं तथा उन्हें जनता और सरकार से सब तरह की सहायता मिलती रही।

एक और उदाहरण उल्लेखनीय है। मुरे द्वीप के लोग एक निरी बर्बर जाति के हैं। इनकी भाषा में छः से अधिक गिनने के लिये शब्द नहीं थे। किन्तु जब इन्हीं लोगों को अच्छी शिक्षा दी गई तब वे सभ्य जाति के विद्वानों जैसे गणित के विद्वान् हो गये।

हम देखते हैं कि भारतवर्ष में संथाल लोगों को शिक्षा देकर सुयोग्य बना लिया गया है। इसी तरह देशसेवक भारतीयों के प्रयत्नों से भारत के हरिजनों में चमत्कारजनक उन्नति हुई है। कोई-कोई हरिजन बालक उच्च वर्ण के बालकों जैसी प्रतिभा दिखाते हैं।

वास्तव में प्रत्येक बालक में सद्गुण हैं, परन्तु वे शिक्षा के अभाव से प्रकाशित नहीं हो पाते। सुयोग्य शिक्षा देने से एक साधारण परिवार का बालक भी संसार में चमत्कार दिखला सकता है। हेवर्ड महाशय ने शिक्षा और वंशानुक्रम का भूत (एज्यूकेशन एंड हेरिडिटी इंस्पेक्टर) नामक पुस्तक में यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि वंशानुक्रम का प्रभाव बालक के विकास में बिल्कुल तुच्छ है। यह एक प्रकार का भूत है जो तीक्ष्ण बुद्धि से विचार करने पर तुरन्त भाग जाता है। बालक की पैतृक सम्पत्तियाँ ऐसी हैं जिनको हम चाहे जिस उपयोग में ला सकते हैं। यदि बालक को शिक्षा दी जाय तो वह उन गुणों को प्रदर्शित करेगा, जिनका उसके माता-पिता में बिल्कुल अभाव देखा गया था।

वंशानुक्रम का नियम

विद्वानों ने वंशानुक्रम का विशेष रूप से अध्ययन करके अनेक नियम निर्धारित करने की चेष्टा की है। उनमें से निम्नलिखित तीन नियम महत्व के हैं—

कीटाणु की निर्विघ्नता[1]—बालक माता-पिता से बपौती के रूप में उन

---

1. Continuity of Germplasm.

सभी गुणों को पाता है जो उन्हें उनके पूर्वजों से मिले हैं। किन्तु जो गुण माता-पिता ने अपने जीवन-काल में उपार्जित किये हैं, उन्हें वह प्राप्त नहीं करता। इस सिद्धान्त का नाम ही कीटाणु की निर्विघ्नता रक्खा गया है। यदि माता-पिता अपने परिश्रम से किसी प्रकार की योग्यता प्राप्त कर लेते हैं तो यह इस सिद्धान्त से बालक में बिना शिक्षा के पैदा न होगी। अतएव मनुष्य को प्रत्येक पीढ़ी में बाल्यावस्था में शिक्षा पाने की बड़ी आवश्यकता है। यदि किसी भी पीढ़ी में, किसी सभ्य समाज में, शिक्षा का कार्य शिथिल पड़ जाय तो उस पीढ़ी के लोग बर्बरता की ओर अग्रसर हो जायेंगे। पैदा होने के समय सभ्य और असभ्य दोनों ही समाजों के बालक एक से होते हैं। इन बालकों की स्थिति बर्बर जाति के बालकों जैसी होती है। इन्हें शिक्षा से ही सुधारा जाता है।

जहाँ उपर्युक्त नियम के कारण बालक को कठिनाई है वहाँ इस नियम से एक यह लाभ भी है कि माता-पिता के दुर्गुण, वंशानुक्रम की गति के अनुसार सन्तान में नहीं आ जाते। दुराचारी पिता का पुत्र अच्छे वातावरण में रक्खा जाय तो सदाचारी बन सकता है। जहाँ एक तरफ यह बात सत्य है कि यदि किसी बालक का पिता बड़ा विद्वान्, गायक और कसरती हो तो उसका पुत्र वैसा ही विद्वान्, गायक और कसरती—शिक्षा के अभाव में भी—अपने आप न बन जायगा, वहाँ यह बात भी सत्य है कि दुर्व्यसनों में पड़े हुए पिता का पुत्र स्वभाव से ही दुर्व्यसनी नहीं हो जाता। यदि किसी पीढ़ी के बालकों को भली भाँति शिक्षा दी जाय तो हम किसी भी समाज को उसके सम्पूर्ण दोषों से मुक्त कर सकते हैं।

इस सिद्धान्त के समर्थन के लिए जर्मनी के वाइसमैन नामक विद्वान ने अनेक प्रयोग किये हैं, जिनमें से एक उल्लेखनीय है—

वाइसमैन ने कुछ चूहे पाले और उनकी पूँछें काट दीं। जब इन पुँछकटे चूहों के बच्चे पैदा हुए तो देखा गया कि सभी के पूँछें हैं। इस प्रकार वाइसमैन बीस-पचीस पीढ़ियों तक चूहों की पूँछें काटते रहे। परन्तु प्रत्येक पीढ़ी के चूहों के वैसी ही पूँछ हो जाती थी जैसी प्रथम पीढ़ी के चूहों के थी। अर्थात् चूहों में अपने माता-पिता की कमी पैतृक सम्पति के रूप में नहीं आती थी। प्रत्येक पीढ़ी के चूहे माता-पिता से उन्हीं गुणों को लेते थे, जो उनके माता-पिता को पूर्वजों से मिले थे। देखा गया है कि लँगड़े, लूले और काने माता-पिता के लड़के लँगड़े, लूले और काने नहीं होते। यदि किसी खूबसूरत मनुष्य का चेहरा चेचक के कारण बिगड़ जाता है, तो उसकी संन्तान के चेहरे

पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता । उसे तो मनुष्य के चेहरे की प्रथम सुन्दरता ही प्राप्त होती है ।

उपर्युक्त सिद्धान्त से बालक के मनोविकास के सम्बन्ध में शिक्षक का कर्तव्य भली भाँति मालूम हो जाता है । जिस बालक को शिक्षा नहीं दी जायगी वह सुयोग्य व्यक्ति नहीं बन सकता । दूसरे, हमें अपने माता-पिता की अयोग्यता का पता पाकर शिक्षा का प्रभाव शिथिल न करना चाहिये, क्योंकि अयोग्य से अयोग्य माता-पिता का बालक वातावरण से सुयोग्य बनाया जा सकता है । वास्तव में बालक न तो अपनी तुरन्त की पहली पीढ़ी की योग्यता को वंशानुक्रम के अनुसार लेता है और न उसकी त्रुटियों को ही । वंशानुक्रम के अनुसार हम अपने प्रथम पूर्वजों के गुणों को प्राप्त करते हैं ।

भेद की उत्पत्ति[1]—वंशानुक्रम का दूसरा नियम भेद की उत्पत्ति है । जहाँ यह बात सत्य है कि माता-पिता के अनुसार ही उनको संन्तान होती है वहाँ यह भी हम देखते हैं कि किसी जाति के पुराने प्राणी में कुछ काल के बाद परिवर्तन हो जाता है । इस परिवर्तन का क्या कारण है, इस पर मतैक्य नहीं है । डार्विन के अनुसार ये परिवर्तन आकस्मिक होते हैं और वंशपरम्परा के नियमानुसार किसी भी जाति के प्राणियों में स्थिर हो जाते हैं । लेमार्क के सिद्धान्त से इन परिवर्तनों का कारण उस प्राणी की आन्तरिक इच्छा है । जब किसी प्रकार के वतावरण में पड़ जाने के कारण किसी भी जाति के प्राणियों को विशेष प्रकार के परिवर्तन की आवश्यकता होती है, तो उस प्राणी में वैसे परिवर्तन अपने आप हो जाते हैं ।

उपर्युक्त नियम पहले नियम के एक प्रकार से प्रतिकूल है । अभी तक प्राणिशास्त्र के विज्ञाता और मनोवैज्ञानिकों का इस बात पर मतैक्य नहीं है कि किसी जाति के अर्जित गुणों का वितरण[2] उसकी सन्तति में होता है अथवा नहीं । मैकडूगल और पाउली महाशय के कुछ प्रयोगों से तो यह सिद्ध होता है कि अर्जित गुणों का वितरण अवश्य ही उस जाति की सन्तति में होता है ।

मैकडूगल ने एक प्रयोग चूहों पर किया । कुछ चूहों को पानी की नाँद में छोड़ दिया जाता था । इस नाँद से निकल भागने के दो मार्ग थे । पहला अँधेरे से होकर जाता था और दूसरा मार्ग प्रकाशपूर्ण था । जब चूहे नाँद से निकलकर एकाएक भगना चाहते थे तो वे प्रायः प्रकाशमय मार्ग से ही भागते थे,

1. The Law of Variation.
2. Transmission of Acquired Traits.

किन्तु इस मार्ग से जाने में उन्हें एक बिजली का धक्का लगता था। चूहों को जब कभी दूसरी बार भागना पड़ता था, तब इस धक्के से बचने के लिए वे नया मार्ग ढूँढ़ने की चेष्टा करते थे। देखा गया कि पहली पीढ़ी के चूहों ने १६५ बार भूल करने के पश्चात् धक्के से बचने के लिए अँधेरे मार्ग से जाना सीखा। किन्तु अगली पीढ़ियों में भूलों की संख्या घटती गई; यहाँ तक कि तेईसवीं पीढ़ी ने सिर्फ पचीस बार भूल की।

पाउली ने भी कुछ सफेद चूहों के ऊपर प्रयोग किया। इन चूहों को भोजन के लिए बिजली की घण्टी द्वारा बुलाना सिखाया जाता था। इसको सीखने के लिए पहली पीढ़ी के चूहों के लिए तीन सौ बार, दूसरी पीढ़ी के चूहों के लिए सौ बार, तीसरी पीढ़ी के चूहों के लिए तीस बार, चौथी के लिए दस बार और पाँचवीं पीढ़ी के लिए केवल पाँच बार घण्टी बजाने की आवश्यकता पड़ी।

उपर्युक्त प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ कि माता-पिता के अनुभवों का लाभ सन्तान को अवश्य होता है। जिस कार्य को माता-पिता बड़ी कठिनाई के साथ सीखते हैं, उसीको उनकी सन्तान सरलता के साथ सीख जाती है। ब्राह्मण के लड़के में पढ़ने-लिखने की स्वाभाविक रुचि पाई जाती है और क्षत्रिय के बालक लड़ने-भिड़ने में कुशलता दिखाते हैं। क्या इस प्रकार की योग्यता का होना अर्जित गुणों का वितरण सिद्ध नहीं करता। इसी तरह वैश्य बालक वाणिज्य में होशियार होते हैं। इस प्रकार का हमारा अनुभव है तथा समाज में भी यही मत प्रचलित है। क्या इसका आधार अर्जित गुणों का सन्तति में वितरण नहीं है। यदि यह बात सत्य है कि माता-पिता के परिश्रम का लाभ वंशानुक्रम के नियमानुसार उनकी सन्तान को होता है, तो हमारा यह कर्तव्य है कि हम अनेक प्रकार की योग्यताओं को प्राप्त करें। यदि हमें इस योग्यता का लाभ न हो तो भी हमारी सन्तान को अवश्य होगा। दूसरे हमें किसी भी बालक की शिक्षा पर विचार करते समय यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि बालक की वंशपरम्परा में कौन सा व्यवसाय था। हम बालक को उसी प्रकार की शिक्षा दे सकते हैं जो उसके स्वभाव या योग्यता के अनुकूल हो। वंशानुक्रम का प्रभाव इन दोनों बातों पर अवश्य पड़ता है।

शुद्ध जाति की अमरता—वंशानुक्रम का तीसरा नियम शुद्ध जाति की अमरता का है। प्रकृति वर्णसङ्करों की उन्नति नहीं चाहती। जब कभी वातावरण के कारण कोई वर्णसङ्कर जाति पैदा हो जाती है तब धीरे-धीरे इस वर्णसङ्कर जाति का लोप हो जाता है। इस नियम को मैण्डल महाशय ने निकाला है।

अतएव इस नियम का नाम मैण्डलवाद (मैण्डलिज्म) पड़ गया है। मैण्डल महाशय ने मटर के बीजों पर इस प्रकार का प्रयोग किया था। उन्होंने दो प्रकार की मटर एक जगह बोकर एक नई जाति की मटर, जो वर्णसङ्कर थी, उत्पन्न की। फिर इस नई मटर को बोया। उससे पैदा हुई मटर के बीजों को देखने से ज्ञात हुआ कि उन बीजों में आधे बीज शुद्ध मटर के थे और आधे वर्णसङ्कर मटर के। इन बीजों को बार-बार बोने से ऊपर के क्रमानुसार वर्ण-सङ्कर मटरों की संख्या कम होती दिखाई दी। उपर्युक्त प्रयोग का निष्कर्ष निम्नलिखित तालिका में दिया गया है—

सामाजिक सम्पत्ति

बालक को वंशानुक्रम के नियमानुसार अपने पूर्वजों से जितने गुण मिलते हैं, उतने ही गुण उसे सामाजिक सम्पत्ति के रूप में अपने आस-पास रहनेवाले लोगों से मिलते हैं। वास्तव में सामाजिक प्रभाव का कार्य इतना सूक्ष्म है कि हम यह स्थिर नहीं कर सकते कि बालक के व्यक्ति-विकास में कितना कार्य वास्तविक वंशानुक्रम का है और कितना सामाजिक सम्पत्ति का। बालक का लालन-पालन जन्म से जैसे वातावरण में होता है वैसा ही उसका स्वभाव भी बन जाता है। यह स्वभाव बालक के जन्मजात स्वभाव से इतना भिन्न होता है कि हमें पीछे से यह कहना कठिन होता है कि बालक के व्यक्तित्व में कहाँ तक वंशानुक्रम का प्रभाव है और कहाँ तक उसकी पैतृक सामाजिक परम्परा का। वास्तव में बालक की सामाजिक सम्पत्ति एक प्रकार का वातावरण ही है। इसे

हम शिक्षा के द्वारा ही बालक को दे सकते हैं। मनुष्य ने हजारों पीढ़ियों में अपना अनुभव अपनी सामाजिक प्रथाओं में, पुस्तकों में, कला के कार्यों में और तस्वीरों में संचित किया है। यही बालक की सामाजिक सम्पत्ति है। जो बालक सुयोग्य वातावरण में जन्म लेता है, वह बड़ा भाग्यशाली है; क्योंकि उसको बहुत सी बहुमूल्य सामाजिक सम्पत्ति सरलता से मिल जाती है। शिक्षा वह कार्य है जिससे प्रत्येक बालक सामाजिक सम्पत्ति का लाभ उठा सकता है और अपने आप भी समाज को स्थायी सम्पत्ति देने योग्य हो सकता है।

वंशानुक्रम और शिक्षा

उपर्युक्त वंशानुक्रम के नियमों को जानकर हम बालक की शिक्षा का कार्य अधिक योग्यता के साथ कर सकते हैं। प्रत्येक बालक की शिक्षा में हमें वंशानुक्रम का ध्यान रखना होगा। हम कितने ही उत्साही क्यों न हों, हर एक बालक को अपने मन के अनुसार शिक्षित नहीं बना सकते। आधुनिक बुद्धि-माप[1] के प्रयोगों से पता चलता है कि प्रत्येक बालक की बुद्धि भिन्न-भिन्न होती है। कोई बालक साधारण बुद्धि के होते हैं तो कोई प्रतिभाशाली। सामान्य बुद्धि के बालकों से वैसा काम करने की आशा नहीं की जा सकती जैसी की प्रतिभाशाली बालक से की जा सकती है। यह प्रतिभा जन्मजात बुद्धि का गुण है। इसे कोई भी शिक्षक बालक में पैदा नहीं कर सकता। वह शिक्षा के द्वारा उसका सदुपयोग अवश्य कर सकता है। प्रत्येक बालक को उसकी योग्यता और रुचि के अनुसार शिक्षा देनी चाहिए।

---

1. Mental Testing (Intelligence Testing).

चौथा प्रकरण

नवशिशु

शिशु-व्यवहार

बालक के जीवन को समझने के लिए हमें उसके व्यवहारों की विशेषताएँ जाननी चाहिए। इन विशेषताओं को जानकर ही हम उसका ठीक-ठीक लालन-पालन तथा शिक्षण कर सकते हैं। एक ओर बालक के व्यवहार प्रौढ़ व्यक्तियों से भिन्न होते हैं; दूसरी ओर उसके व्यवहार दूसरे जानवरों के व्यवहारों से भी भिन्न होते हैं। पशुओं के बच्चों के स्वभाव को समझने से मनुष्यों के बच्चों के स्वभाव को समझने में अवश्य कुछ लाभ होता है; पर बालक के व्यवहारों की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं जिनके कारण मनुष्य का बच्चा एक विलक्षण प्राणी माना जाता है।

पराधीनता—बालक के व्यवहारों की पहली विशेषता उसकी पराधीनता है। शिशु दूसरे जानवरों की अपेक्षा अपना जीवन चलाने के लिए अधिक पराधीन रहता है। एक मुर्गी के बच्चे को देखिए; वह पैदा होते ही चलने लगता है। खाने योग्य चीजों पर चोंच मारना, भोजन ढूँढ़ना आदि क्रियाएँ वह अपने आप करने लगता है। मनुष्य के बच्चे को हर एक काम करना सिखाना पड़ता है। उसे खाना-पीना, चलना-फिरना आदि सरल से सरल काम सिखाने पड़ते हैं। मुर्गी के बच्चे को अपना जीवन सफल बनाने के लिए किसी भी विशेष साधन की आवश्यकता नहीं पड़ती। पर क्या ये बातें मनुष्य के बच्चे के जीवन के विषय में कही जा सकती हैं?

बालक की असहाय अवस्था देखकर हमें उसको दया का पात्र न समझना चाहिए। वास्तव में शिशु की शैशवकालीन असहायावस्था ही उसकी असाधारण उन्नति का कारण बनती है। जहाँ पर प्रकृति ने बालक को शैशवावस्था में असहाय बनाया है वहाँ उसे ऐसी यह योग्यता भी दी है, जिससे वह प्राणिमात्र का राजा बन जाता है। वास्तव में बालक का असहायपन और उसकी उन्नति की योग्यता एक ही वस्तु-स्थिति के दो पहलू हैं। जो प्राणी जितना ही जीवन की विभिन्न क्रियायें करने में असमर्थ होता है वह आगे चलकर जीवन की अनेक क्रियाएँ करने में उतना ही भली भाँति समर्थ होता है। इसका मुख्य कारण यह है कि जो प्राणी जन्म से अच्छी तरह किसी प्रकार के कार्य करने में समर्थ होता

है उसका स्वभाव परिवर्तनशील नहीं होता। वह कुछ क्रियाओं को अच्छी तरह से भले ही कर ले पर यह योग्यता उसके भावी जीवन-विकास में बाधक हो जाती है।

व्यक्ति-विषमता—बालक के व्यवहारों की दूसरी विशेषता है आपस की विषमता। एक मुर्गी के बच्चे और दूसरी मुर्गी के बच्चे के व्यवहारों में कुछ भी विषमता नहीं होती। पिल्लों में और बन्दर के बच्चों में आपस में तनिक भी विषमता नहीं पाई जाती। किसी व्यवहार को सीखने में एक बच्चा जितना समय लेगा, दूसरा बच्चा भी उतना ही लेगा पर यह बात मनुष्य के बालक के विषय में नहीं कही जा सकती। मनुष्य के बालकों की योग्यताओं में इतना भेद होता है कि जहाँ एक बालक बढ़कर कुली या खेतिहर होता है वहाँ दूसरा बालक उन्नति करते-करते राष्ट्रपति बन जाता है। एक बालक आगे चलकर अकर्मण्य होता है और दूसरा परिश्रमशील। प्रतिभावान और मन्दबुद्धि वाले एक वर्ष के बालक एक सा ही व्यवहार करते हैं, परन्तु जैसे-जैसे उनकी आयु बढ़ती जाती है उनके व्यवहारों में अन्तर पड़ता जाता है।

मनुष्य के और बन्दर के बच्चों की सीखने की क्रियाओं का तुलनात्मक अध्ययन इस बात पर भली भाँति प्रकाश डालता है—

क्रियाओं के नाम	बन्दर के बच्चों के सीखने का समय	मनुष्य के बालकों के सीखने का समय
रोना, दूध पीना, आँख मींचना	१ दिन	१ दिन
सिर और आँख का किसी वस्तु की ओर झुकाना	३ दिन	३ महीने
देखी हुई वस्तुओं को पकड़ने की चेष्टा करना	५ दिन	६ महीने
चलने की चेष्टा करना	१२ दिन	१२ महीने
दौड़ना	१४ दिन	१८ से २४ महीने
शब्दोच्चारण	९ सप्ताह	१२ से २४ महीने

बन्दर का बच्चा, मनुष्य के बालक से यहाँ हर तरह से बाजी मार ले जाता है; पर बन्दर को जो कुछ होना है वह तीन महीने में ही हो जाता है। आगे उसके विकास की गति रुक जाती है। मनुष्य का बालक तो १८-२० वर्ष तक अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक उन्नति करता रहता है।

परिवर्तनशीलता—बालक का स्वभाव बहुत ही परिवर्तनशील है। बालक में परिस्थिति के अनुसार अपने आपको बनाने की जितनी शक्ति होती है उतनी प्रौढ़ लोगों में नहीं होती। बालक जन्म से ही किसी प्रकार की आदतें लेकर नहीं पैदा होता, किन्तु दूसरे प्राणियों के बच्चों में नैसर्गिक आदतें जन्म से ही जीवन पर अपना प्रभाव दिखाने लगती हैं। अतएव उनके जीवन में परिवर्तन होना बहुत ही कठिन होता है। बालक के जीवन की यह विशेषता है कि वह किसी प्रकार की आदतों का—वे नैसर्गिक हों अथवा उपार्जित—सदा नहीं होता। जब कोई प्राणी आदतों की जंजीरों में बँध जाता है तब उसके जीवन का विकास रुक जाता है। हम यह आशा नहीं कर सकते कि बड़े लोग किसी नये काम को सीखेंगे, पर बालक सब कुछ सीखने योग्य होता है। किसी भाषा को जितनी जल्दी बालक सीख सकता है उतनी जल्दी प्रौढ़ लोग कदापि नहीं सीख सकते।

हमें बालक की शिक्षा के समय उपर्युक्त बात को सदा ध्यान में रखना चाहिये। जिस प्रकार गीली मिट्टी किसी भी साँचे में ढाली जा सकती है, उसी प्रकार बालक के व्यवहार भी उचित शिक्षा द्वारा चाहे जैसे बनाये जा सकते हैं। बालक को यदि छोटी अवस्था में कोई दुर्व्यसन पकड़ ले तो वह उससे छुड़ाया जा सकता है, किन्तु बालक जब बड़ा हो जाता है तब उससे उस आदत को छुड़ाना असम्भव सा हो जाता है। बालक के मन पर हर प्रकार के संस्कार अंकित किए जा सकते हैं। उन संस्कारों को मिटा देना भी बाल्यकाल में ही संभव है। जब कोई संस्कार बालक के मन पर देर तक बने रहते हैं तो प्रौढ़ावस्था में उन्हें अलग करना कठिन हो जाता है। बाल्य-काल में कोई भी भली-बुरी आदत बालक में डाली जा सकती है। बालकों का हृदय एक मुलायम थाल्हा है। उसमें चाहे कँटीली झाड़ी उगा दें या गुलाब के कोमल फूल।

शिशु के संवेग[1]

जिस प्रकार नवीन शिशु की क्रियात्मक मानसिक-वृत्तियाँ अविकसित रहती हैं तथा उसके व्यवहार सहज क्रियाओं[2] तक ही सीमित रहते हैं उसी प्रकार उसके संवेग भी अविकसित रहते हैं तथा उनका प्रकाशन थोड़ी सी चेष्टाओं तक सीमित रहता है। सभी संवेगों का मूल रागात्मक वृत्ति[3] है। बालक अपनी प्रत्येक चेष्टा से आनन्द पाता है। हमारे ज्ञान का प्रसार भी इस रागात्मक वृत्ति

---

1. Emotions. 2. Reflexes. 3. Feeling.

के कारण होता है। जीवन का विकास ही आनन्दमय है। यह विकास चाहे हमारे क्रियात्मक[1] स्वभाव का हो अथवा ज्ञानात्मक[2] का। प्राणी की एकमात्र इच्छा अपने जीवन को बनाये रखने और उसको प्रत्येक प्रकार से विकसित करने की रहती है। जर्मनी के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता शोपनहावर ने इस इच्छा को जीने की इच्छा (विल टु लिव[3]) कहा है। यही इच्छा प्राणी को जीवित रखती है और उसके जीवन का विकास कराती है। इसी के कारण व्यक्ति अपना जीवन सामाजिक बनाता और सन्तानोत्पत्ति करता है। इसी प्रकार वह अमर होने की चेष्टा करता है।

जो क्रियाएँ और ज्ञान इस प्रकार की चेष्टा में साधक होते हैं वे प्राणी को सुख देते हैं और जो इस मूल इच्छा में बाधा डालते हैं वे दुःख देते हैं। प्राणी की मूल इच्छा आत्मा का प्रसार है। अतएव प्राणी की प्रत्येक क्रिया एवं ज्ञान के साथ रागात्मक वृत्ति रहती है। जहाँ आत्म-प्रसार का अवरोध होता है वहाँ रागात्मक वृत्ति आनन्ददायी न बनकर दुःखदायी बन जाती है। इस प्रकार से राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। राग-द्वेष ही वास्तव में सभी प्रकार के वांछनीय और अवांछनीय, बीभत्स[4] और सुन्दर[5] संवेगों के मूल कारण हैं। जब किसी प्रकार की रागात्मक वृत्ति अति प्रबल हो जाती है तब वह संवेग का रूप धारण कर लेती है। नव शिशु का जीवन उसी प्रकार रागमय रहता है, जिस प्रकार प्रौढ़ व्यक्ति का। इतना ही नहीं, उसके जीवन में रागात्मक वृत्तियों का और भी महत्व का स्थान है। व्यक्ति के शिशु काल के सुख और दुःख के अनुभव उसके अदृश्य[6] अथवा अव्यक्त मन में सदा के लिए जम जाते हैं और इस अज्ञात अनुभूति के कारण जीवन में संसार के प्रति उसका विशेष प्रकार का दृष्टिकोण हो जाता है।

माता-पिता प्रायः नये शिशु के सुख-दुःखों के अनुभवों की उतनी परवा नहीं करते, जितनी बड़े बालकों की करते हैं। यदि बालक किसी शारीरिक क्लेश के कारण रो रहा हो तो उसे रोने ही दिया जाता है। रोते-रोते बालक अन्त में चुप हो जाता है। किन्तु यों चुप हो जाने के साथ-साथ बालक के अदृश्य मन में निराशावाद का बीजारोपण हो जाता है। कितनी ही शिक्षित माताएँ बालकों का पालन स्वयं न करके दाइयों के भरोसे छोड़ देती हैं। ये दाइयाँ रोते हुए बालक को चुप कराना तो जानती हैं किन्तु उनके चुप कराने में और

---

1 Conaeive. 2. Cognitive. 3. Will-to live.
4. Coarse emotions. 5. Fine emotions. 6. Unconscious mind.

माता के प्यार द्वारा चुप कराने में आकाश-पाताल का अन्तर है। रोते हुए बालक को जोर से चिल्लाकर, भय दिखाकर, ऊँचा-नीचा उठाकर या हिला-डुलाकर चुप किया जा सकता है, किन्तु इस तरह से बालक के हृदय में अवांछनीय भय उत्पन्न हो जाते हैं जिससे उसके व्यक्तित्व के विकास में अनेक प्रकार की बाधाएँ पड़ती हैं।

पाठकों को इस बात का स्मरण दिलाना आवश्यक है कि बालक के आस पास रहनेवाले लोगों के संवेगों का, विशेषकर माता के संवेगों का, प्रवेश बालक के मन में अज्ञात रूप से हो जाता है। यदि उनके विचार और संवेग अच्छे हैं तो बालक का स्वभाव भी प्रसन्नचित्त रहने का हो जायगा और यदि उन लोगों के विचार अच्छे नहीं हैं तथा उनका हृदय दुःखों से आक्रान्त है, तो बालक का जीवन भी उन्हीं अवांछनीय संवेगों का प्रधान स्थान हो जायगा।

कुछ मनोवैज्ञानिकों का कथन तो यहाँ तक है कि माता के संवेग बालक को गर्भ की अवस्था में भी प्रभावित करते हैं। लार्ड लिटन लिखते हैं—'डाक्टर लोग यह जानते हैं कि गर्भ की अवस्था में माँ की बीमारी या उसकी शारीरिक क्षति बालक को हानि पहुँचा देती है। इसी प्रकार बालक को मानसिक क्षति भी पहुँचती है। यदि किसी स्त्री को किसी कारण गर्भ धारण करने की अनिच्छा है अथवा उससे अज्ञात भय है, या किसी स्त्री को अनिच्छा अथवा आकस्मिक घटना के रूप में गर्भ धारण हो गया हो तो उसकी यह भावना गर्भ में स्थित बालक के मन में प्रवेश कर जाती है जिससे बालक के अदृश्य मन में प्राणान्त करने की अथवा जीवन-विकास-विरोधी भावना सदा के लिए स्थान पा लेती है"*। ऐसे बालक में जन्म से ही आत्म-घात करने की प्रवृत्ति रहती है। इस प्रकार का बालक निरुत्साही और दीर्घसूत्री होता है। वह जीवन की नई-नई जिम्मेदारियों की खोज में नहीं रहता। यदि ये आ ही जाती हैं तो वह उन्हें भाररूप मानता है।

कुछ विशेष प्रकार के शारीरिक रोगों की जड़ भी इसी प्रकार के बालकों के संवेगों में होती है। मनोविश्लेषण-वैज्ञानिकों ने शारीरिक बीमारी का एक कारण बालक की जीवित न रहने की अज्ञात इच्छा बताया है, जिसका कारण माता के गर्भ-धारण करने का भय है। इस प्रकार के रोगी जीवन की जिम्मेदारियाँ नहीं लेना चाहते, जब नई जिम्मेदारियाँ उनके सिर आती हैं तब यह

* लार्ड लिटन—न्यूट्रेफ़र, पृष्ठ १२६।

रोग विशेष प्रकार से बढ़ जाता है* । कुछ बालकों को ठीक समय के पहले ही माता दूध पिलाना छुड़ा देती है। शिशु के मन में माता की छाती से लगे रहने तथा स्तन से दूध पीने की प्रबल इच्छा रहती है । शिशु की इस इच्छा पर आघात पहुँचने से उसके जीवन में भारी उथल-पुथल मच जाती है । बालक की शारीरिक भूख तो बोतल से दूध पिलाकर शान्त की जा सकती है पर उसकी मानसिक भूख को इस प्रकार से शान्त नहीं किया जा सकता । माता की छाती से लगने की इच्छा बालक की प्रेम-भूख की सूचक है । जिस बालक की यह भूख सन्तुष्ट नहीं हो पाती वह या तो संसार से निराश हो जाता है या इस भूख को कई विकृत रूपों में सन्तुष्ट करता है । इसके परिणामस्वरूप बालक के जीवन का सामान्य विकास रुक जाता है । उसकी अज्ञात इच्छा लड़कपन में उससे अनेक अवांछनीय कार्य कराती है । कभी-कभी इसी इच्छा के कारण बालक को विशेष प्रकार के भोजन या विशेष प्रकार की वस्तुओं से अरुचि हो जाती है ।

हम इस विषय पर विस्तृत रूप से आगे चलकर संवेग-सम्बन्धी परिच्छेदों में प्रकाश डालेंगे । यहाँ इतना ही कह देना पर्याप्त है कि बालक के संवेगों का शिशुकाल से ही ध्यान रखना चाहिये ताकि उनका विकास समुचित रूप से होता रहे ।

शिशु का ज्ञान

जिस प्रकार नवीन शिशु की क्रियाएँ तथा संवेग अविकसित रहते हैं, उसी प्रकार उसका ज्ञान भी अविकसित रहता है । नये शिशु का ज्ञान निर्विकल्पक‡

---

* लार्ड लिटन अपनी पुस्तक न्यू ट्रेज़र में इस विषय में लिखते हैं—
"Asthma is an example of such a symptom in the field of respiration. Asthma is symbolic chocking, or refusal of the breath of life. Sufferers from asthma will be prone to unaccountable accidents. Their symptoms will be aggravated by any change of place or circumstance which is unpleasant, or increases the difficulties or responsibilities of life. They will suffer least when at home or in congenial surroundings, when life is running smoothly, or when they are completely happy and contented."

—**New Treasure, pp. 127.**

‡ Indeterminate.

तथा निष्प्रकारक[1] होता है। बाह्य वस्तु का हमारा प्रथम ज्ञान निर्विकल्पक ज्ञान होता है। इन्द्रियों के द्वारा जो संवेदना हमारे मन में पहुँचती है, वह प्रकारता रहित होती है। इस प्रकार के ज्ञान को न्यायशास्त्र के विद्वानों ने निर्विकल्पक ज्ञान कहा है। विलियम जेन्स ने इस ज्ञान को परिचयमात्र[2] कहा है। नव-शिशु का प्रत्येक ज्ञान ऐसा ही होता है। इन्द्रियजन्य ज्ञान[3] में प्रकारता के भेद पहचानना अथवा भेद करना मन का कार्य है। इस कार्य को सांख्य-शास्त्र में 'संकल्प' कहा गया है। यह कार्य करने की योग्यता अनुभव के पश्चात् ही आती है। अनुभव-हीन होने के कारण शिशु शीघ्रता से अपने इन्द्रिय ज्ञान को सप्रकारक नहीं बना पाता। इसके विपरीत पौढ़ व्यक्तियों का मन इतनी शीघ्रता से इन्द्रिय-जन्य संवेदना में प्रकारता के भेद कर लेता है कि उन लोगों को निष्प्रकारक अथवा निर्विकल्पक ज्ञान की सम्भावना ही कठिन की जाती है।

यहाँ हमें यह देखना है कि नवीन शिशु का निर्विकल्पक तथा निष्प्रकारक ज्ञान किस तरह सविकल्पक और सप्रकारक हो जाता है। इस प्रकरण में हम उस विकास के क्रम का दिग्दर्शन ही करा सकते हैं। इस विकास को पूर्णतः समझने के लिए इस पुस्तक के सभी प्रकरणों को पढ़ना चाहिये। इस प्रसंग में दो-एक मनोवैज्ञानिकों के मत का उल्लेख करना आवश्यक है।

लाक का सिद्धान्त—लाक महाशय के अनुसार मनुष्य का मन आरम्भ में एक स्वच्छ तख्ती के समान रहता है। इस प्रकार की मन की स्थिति को लाक ने 'टेबुलारेसा''[4] कहा है। ज्यों-ज्यों व्यक्ति अनेक परिस्थितियों में पड़ता है, उसके मन में अनेक प्रकार के संस्कार संचित हो जाते हैं। इन्हीं संस्कारों के द्वारा व्यक्ति को पदार्थों के पहचानने की शक्ति आती है। वास्तव में व्यक्ति का वस्तु-ज्ञान, लाक महाशय के कथनानुसार इन्द्रियजन्य संवेदन का समुच्चय मात्र है। ऐसे ज्ञान की वृद्धि, जैसे-जैसे मनुष्य अनेक वातावरणों में पड़ता है, अपने आप होती है।

उपरोक्त ज्ञान विकास के सिद्धान्त का अनेक तत्ववेत्ताओं तथा मनोवैज्ञानिकों ने एकाङ्गी और भ्रमात्मक बताया है। मनोवैज्ञानिकों में से विलियम जेम्स और मेकडूगल के कथन उल्लेखनीय हैं।

विलियम जेम्स का सिद्धान्त—विलियम जेम्स के मत से व्यक्ति के समस्त ज्ञान का विकास उसकी क्रियात्मक वृत्तियों पर निर्भर रहता है। चेतना[5]

---

1. Undifferentiated. 2. Acquaintance of a fact. 3. Sensation. 4. Tabula rasa 5. Consciousness.

की उपस्थिति का मुख्य प्रयोजन प्राणी की वासनाओं की तृप्ति में सहायता देना है। अतएव जैसे-जैसे प्राणी की क्रियात्मक वृत्तियों का विकास होता है वैसे-वैसे उसकी चेतना भी समुचित रूप से विकसित होती है। इस सिद्धान्त के अनुसार कोई भी व्यक्ति ऐसा ज्ञान प्राप्त करना न चाहेगा जो उसकी स्वार्थ सिद्धि में कुछ सहायता न करे। जैसे-जैसे किसी व्यक्ति के ज्ञान का सम्बन्ध उसकी क्रियाओं से किया जाता है वैसे-वैसे ज्ञान विकसित होता जाता है। अतएव नवशिशु के ज्ञान-विस्तार का मूल कारण उसकी क्रियात्मक वृत्तियाँ हैं। जो बालक जितना चंचल होता है, उसका ज्ञान उतनी ही शीघ्रता से विकसित होता है।

मेकडूगल का सिद्धान्त—मेकडूगल का सिद्धान्त भी विलियम जेम्स के उपर्युक्त सिद्धान्त से मिलता-जुलता है। मेकडूगल ने जीवन का मूल तत्व क्रियात्मक[1] माना है। प्रत्येक प्राणी आत्म-प्रकाशन चाहता है। वह अपनी अनेक प्रकार की इच्छाओं की तृप्ति करना चाहता है। व्यक्ति के ज्ञान का विकास आत्म-प्रकाशन का साधन है। नवशिशु के ज्ञान का विकास भी उसकी क्रियात्मक वृत्तियों के विकास के साथ-साथ होता है। इस विकास के क्रम में मेकडूगल ने निम्नलिखित तीन अवस्थाएँ बताई हैं—

(१) पृथक्करण[2] (२) बोधीकरण[3] (३) सम्बन्धीकरण[4]

पृथक्करण—शिशु का प्रथम ज्ञान निष्प्रकारक होता है। वह सब पदार्थों को एक सा ही देखता है। उसमें एक पदार्थ को दूसरे से भिन्न समझने की शक्ति नहीं रहती। ज्यों-ज्यों बालक की इच्छाओं का विकास होता है और वह बाह्य परिस्थितियों के सम्पर्क में आता है, त्यों-त्यों वह एक पदार्थ को दूसरे से भिन्न समझने की योग्यता प्राप्त करता है। वह माँ के स्तन और लट्टू को पहले एक सा ही मानता है, किन्तु जब अनुभव उसे यह दिखाता है कि माँ का स्तन उसकी भूख शान्त कर सकता है और लट्टू ऐसा नहीं करता, तो वह एक को दूसरे से पृथक् समझने लगता है। इसी तरह वह अनेक वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है अर्थात् उसके ज्ञान में भेद उत्पन्न होते हैं।

बोधीकरण—पृथक् ज्ञान में एकता देखने का नाम बोधीकरण है। यह ज्ञान विकास की दूसरी अवस्था है। जब बालक को किसी वस्तु का स्पष्ट ज्ञान हो जाता है, तब यह ज्ञान बालक के मन पर अपना संस्कार सदा के लिए छोड़

1. Hormic. 2. Discrimination.
3. Apperception. 4. Association.

जाता है। इस प्रकार के संस्कार बालक को उस वस्तु के पहचानने में सहायता देते हैं। बालक जब एक बार देखी हुई वस्तु को भली भाँति फिर देखता है तब उसके पुराने संस्कार जाग्रत हो जाते हैं और बालक को उस वस्तु का बोध करने में वे कार्य करने लगते हैं। इस क्रिया को मनोवैज्ञानिकों ने बोधीकरण (अपरसेपशन) की क्रिया कहा है। इसी क्रिया के आधार पर किसी वस्तु की प्रकारता का बोध होता है। "यह गौ है", "वह कुत्ता है"—इस प्रकार के ज्ञान का होना बोधीकरण का परिणाम है। छोटे से छोटे बालक से लेकर प्रौढ़ व्यक्तियों तक सभी में इस प्रकार की मानसिक क्रिया चलती है। सांख्य दर्शन में मन के इस कार्य का नाम 'संकल्प' कहा है, किन्तु संकल्प शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ होने के कारण बोधीकरण शब्द ही मन के उपर्युक्त कार्य का निर्देश करने के लिए उपयुक्त होगा।

सम्बन्धीकरण—सम्बन्धीकरण ज्ञान-विकास की तीसरी अवस्था है। इस अवस्था में बालक एक ज्ञान का सम्बन्ध दूसरे ज्ञान से जान-बूझकर जोड़ता है। अमुक वस्तु अमुक से बड़ी है, अमुक से छोटी है, अमुक के समान है इत्यादि ज्ञान 'सम्बन्ध ज्ञान' है; इस प्रकार का कार्य प्रौढ़ लोगों की बुद्धि सदा किया करती है। नवशिशु की चेतना में इस प्रकार के ज्ञान का अभाव रहता है। सम्बन्धीकरण के लिए भाषा ज्ञान की आवश्यकता होती है। जैसे-जैसे बालक का भाषा-ज्ञान विकसित होता जाता है, उसके सम्बन्धीकरण की शक्ति भी विकसित होती जाती है। मनोविकास के इस पहलू पर हम विचार-विकास वाले परिच्छेद में भली भाँति विचार करेंगे।

पाँचवाँ प्रकरण

मूल प्रवृत्तियों का विकास

बालक के व्यवहार

प्रत्येक प्राणी का जीवन दो प्रकार के व्यवहारों से संचलित होता है—जन्मजात[1] और अर्जित[2]। जन्मजात व्यवहारों के दो भेद किये गये हैं—सहज क्रियाएँ[3] और मूल प्रवृत्तियाँ[4]। अर्जित व्यवहार दो प्रकार के माने गये हैं—एक आदत[5] और दूसरा व्यवसायात्मक (सोच-समझकर किये गये) कार्य[6]। पिछले प्रकरण में यह बताया गया है कि नवजात शिशु के व्यवहारों में सहज क्रियाओं की प्रधानता किस तरह होती है। सृष्टि के अनेक प्राणी ऐसे हैं, जिनका समस्त जीवन सहज क्रिया के ऊपर ही आश्रित रहता है। पतंग के जीवन में अधिकतर सहज क्रियाओं का ही कार्य है किन्तु जिन प्राणियों ने विकास के क्रम में आगे स्थान पाया है, उनके विषय में यह नहीं कहा जा सकता। पशुओं के जीवन में उनकी मूल प्रवृत्तियों का स्थान ही प्रधान है। मनुष्य के जीवन के प्रारम्भ में भी मूल प्रवृत्तियों का साम्राज्य रहता है। जैसे-जैसे बालक का जीवन विकसित होता जाता है और वह अनेक प्रकार की परिस्थितियों के सम्पर्क में आता है, वैसे-वैसे उसके जन्मजात स्वभाव में मौलिक परिवर्तन हो जाते हैं अर्थात उसके जीवन में आदतों का निर्माण होता जाता है। बालक का मन ज्यों-ज्यों दृढ़ होता जाता है उसकी इच्छाशक्ति[7] महत्व के कार्य करने लगती है। वास्तव में बालक के जीवन का विकास, जैसा कि पहले किसी प्रकरण में बताया गया है, प्राणियों के विकास की समस्त सीढ़ियों को पार करता है। नवजात शिशु का जीवन सहज क्रियाओं पर आश्रित रहता है, उसके पश्चात् मूल प्रवृत्तियों का विकास होता है और तब आदतें बनती हैं। बालक को मनुष्यत्व की सब से उँची सीढ़ी पर पहुँचने के लिए कीटाणुओं और पशु-पक्षियों की मानसिक स्थिति पार करनी पड़ती है।

मूल प्रवृत्तियाँ प्रत्येक शिशु के जीवन की आधार हैं। इनके विकास से ही बालक के जीवन का विकास होता है। हमें उन मूल प्रवृत्तियों के स्वरूप तथा

---

1. Inherited. 2. Acquired. 3. Reflexes. 4. Instincts.
5. Habits. 6. Voluntary actions. 7. Will.

उनके विकास एवं परिवर्तन के नियमों को समझ लेना चाहिये, ताकि बालक का जीवन उन्नति के उन्मुख हो सके।

मूल प्रवृत्तियों का स्वरूप

मूल प्रवृत्तियाँ प्राणियों की वे प्रवृत्तियाँ हैं जो जन्म से उनके साथ ही हैं तथा जिनके सहारे उनका जीवन चलता है। उदाहरणार्थ, भोजन को ढूँढ़ने की प्रवृत्ति, उत्सुकता, संग्रह और काम-प्रवृत्ति आदि। इन प्रवृत्तियों के रहने से ही किसी प्राणी का जीवन रह सकता है तथा उसकी उन्नति हो सकती है। वास्तव में मूल प्रवृत्तियाँ प्राणी की वे आदतें हैं जो उसे वंश-परम्परानुसार पूर्वजों से प्राप्त हुई हैं। जिस कार्य को बार-बार किया जाता है वही आदत बन जाती है। मूल प्रवृतियाँ हमारी नैसर्गिक आदतें हैं। हमारे पूर्वजों के विशेष प्रकार के कार्य करने से इनकी उत्पत्ति हुई है। ये नैसर्गिक आदतें उनके जीवन में लाभप्रद हुईं अतएव उनका पीढ़ी पर पीढ़ी संन्तति में प्रचार होता रहा। मूल प्रवृत्तियों के रूप में यही आदतें हमें वंशानुक्रम से प्राप्त होती हैं। पशुओं के समस्त जीवन में इनकी प्रधानता रहती है। बालक एक पशु स्थिति में ही रहता है अतएव उसके जीवन में भी मूल प्रवृत्तियों की प्रधानता रहती है। बालक में इस पशु-अवस्था से मुक्त होने की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। समुचित शिक्षा के द्वारा वह पशु-अवस्था से मुक्त होकर मनुष्यत्व को प्राप्त हो जाता है। सच तो यह है कि अपनी मूल प्रवृत्तियों को भली भाँति काम में लाना, उनको नियन्त्रण में रखने में ही मनोविकास का तथ्य है।

मूल प्रवृत्तियों को मैकडूगल ने शक्तियों का केन्द्र कहा है। हमारे अनेक प्रकार के व्यवहार में जो शक्ति काम आती है वह मूल प्रवृत्तियों की ही है। प्रत्येक मूल प्रवृत्ति का संयोग संवेग से रहता है। मूल प्रवृत्ति की व्याख्या करते हुए मेकडूगल ने लिखा है—"मूल प्रवृत्ति वह जन्मजात मानसिक प्रवृत्ति है, जिसके कारण प्राणी का ध्यान विशेष वस्तु की ओर आकर्षित होता है एवं उसकी उपस्थिति में वह विशेष प्रकार के संवेगों का अनुभव करता है और जिसके कारण विशेप प्रकार की क्रियात्मक वृत्ति उसके मन में जाग्रत् होती तथा किसी कार्य के रूप में स्फुरण पाती है*"।

उपर्युक्त मूल प्रवृत्ति की व्याख्या से यह स्पष्ट है कि मूल प्रवृत्तियों का एक ओर प्राणी की ज्ञानात्मक और दूसरी ओर उसकी संवेगात्मक वृत्तियों से घनिष्ठ सम्बन्ध है। बालक के ज्ञान का विकास उसकी मूल प्रवृत्तियों के विकास के

---

*मेकडूगल—आउट लाइन आफ साइकोलाजी, पृष्ठ ११०।

साथ ही साथ होता है। अर्थात् बालक के ज्ञान के विकसित होने में उसकी मूल प्रवृत्तियाँ बड़ी सहायता देती हैं। बालक के संवेगों के साथ मूल प्रवृत्तियों का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि साधारण जनता की समझ में दोनों का अस्तित्व पृथक् है ही नहीं। मनुष्यों की साधारण भाषा में मूल प्रवृत्ति और उनसे सम्बद्ध संवेग का एक ही नाम रहता है। उदाहरणार्थ "भय" शब्द हिन्दी और अंगरेजी दोनों भाषाओं से संवेग और क्रियात्मक वृत्ति का सूचक होता है।

मूल प्रवृत्तियों के प्रकार

मनोवैज्ञानिकों ने मूल प्रवृत्तियों को चौदह प्रकार का बताया है। प्रत्येक मूल प्रवृत्ति का सम्बन्ध, जैसे ऊपर बताया जा चुका है, विशेष प्रकार के संवेग से रहता है। इन चौदह मूल प्रवृत्तियों के नाम तथा उससे सम्बद्ध संवेग निम्नलिखित हैं—

मूल प्रवृत्ति		सम्बद्ध संवेग
१—भोजन ढूँढ़ना[1]	...	भूख[2]
२—भागना[3]	...	भय[4]
३—लड़ना[5]	...	क्रोध[6]
४—उत्सुकता[7]	...	आश्चर्य[8]
५—रचना[9]	...	रचनात्मक आनन्द[10]
६—संग्रह[11]	...	संग्रहभाव[12]
७—विकर्षण[13]	...	घृणा[14]
८—शरणागत होना[15]	...	करुणा[16]
९—काम प्रवृत्ति[17]	...	कामुकता[18]
१०—शिशुरक्षा[19]	...	स्नेह[20]

---

1. Food-seeking instinct. 2. Appetite.
3. Instinct of flight. 4. Fear.
5. Pugnacity. 6. Anger.
7. Curiosity. 8. Wonder
9. Construction. 10. Feeling of creativeness.
11. Hoarding instinct. 12. Feeling of possession.
13. Repulsion. 14. Disgust.
15. Appeal. 16. Distress.
17. Pairing. 18. Lust.
19. Parental instinct. 20. Love.

मूल प्रवृत्ति		सम्बद्ध संवेग
११—दूसरों की चाह[1]	...	अकेलापन[2]
१२—आत्मप्रकाशन[3]	...	उत्साह[4]
१३—विनीत भाव[5]	...	आत्म-हीनता[6]
१४—हँसना[7]	...	प्रसन्नता[8]

उपर्युक्त मूल वृत्तियों को प्रायः तीन वर्गों में विभाजित किया जाता है। पहले वर्ग की मूल प्रवृत्तियाँ आत्म-रक्षा-सम्बन्धी, दूसरे वर्ग की सन्तान-सम्बन्धी और तीसरे वर्ग की समाज-सम्बन्धी होती हैं।* ऊपर की सूची की पहली आठ प्रवृत्तियाँ आत्म-रक्षा-सम्बन्धी हैं। नवीं और दसवीं सन्तान-सम्बन्धी तथा शेष समाज-सम्बन्धी मूल प्रवृत्तियाँ हैं। इन प्रवृत्तियों में से पहली तेरह प्रवृत्तियाँ पशु और मनुष्य में समान रूप से हैं। चौदहवीं प्रवृत्ति मनुष्य की विशेष प्रवृत्ति है। अतएव यदि हम मनुष्य की परिभाषा उसकी प्रवृत्तियों के अनुसार बनाना चाहें तो यह कहेंगे कि 'मनुष्य वह प्राणी है जो हँस सकता है।' हँसने के विषय में मनोवैज्ञानिकों ने अनेक प्रकार के मत प्रकाशित किये हैं। हँसने का कारण क्या है और मनुष्य ही क्यों हँस सकता है?—इस विषय का अभी तक कोई सर्वमान्य मत निश्चित नहीं हुआ है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि हँसना प्राणी के ज्ञान की वृद्धि का परिचायक है। हँसी हमें तभी आती है जब हम अपनी अपेक्षा दूसरों में किसी प्रकार की कमी देखते हैं, अर्थात् जब हमारा ज्ञान इतना बढ़ जाता है कि हम अपने अथवा दूसरों के कार्यों की समालोचना कर सकते हैं।

उपर्युक्त मूल प्रवृत्तियों के अतिरिक्त तीन और जन्मजात प्रवृत्तियाँ हैं। ये हैं—अनुकरण, सहानुभूति और खेल। इन प्रवृत्तियों को मूल प्रवृत्ति कहा जाय अथवा नहीं, इस विषय में मनोवैज्ञानिकों में मतभेद है। मैकडूगल के मतानुसार हमें उन्हीं प्रवृत्तियों को मूल प्रवृत्ति कहना चाहिये, जिनके साथ विशेष प्रकार के

---

1. Social instinct.　　2. Feeling of loneliness.
3. Assertion.　　4. Elation.
5. Submission.　　6. Negative self-feeling.
7. Laughter.　　8. Amusement.

* भारतवर्ष के प्राचीन ऋषियों ने मनुष्य की इच्छाओं को तीन विभागों में विभाजित किया है। इन विभागों का नाम वित्तैषणा, पुत्रैषणा तथा लोकैषणा दिया है। वित्तैषणा आत्म-रक्षा-सम्बन्धी-प्रवृत्तियों की प्रतीक है, पुत्रैषणा सन्तान-सम्बन्धी और लोकैषणा समाज-सम्बन्धी प्रवृत्तियों की प्रतीक है।

संवेग का सम्बन्ध हो। उपर्युक्त तीन प्रवृत्तियों के साथ किसी विशेष संवेग का सम्बन्ध नहीं है वरन् परिस्थिति के अनुसार उन प्रवृत्तियों के उत्तेजित होने पर भिन्न-भिन्न संवेग देखे जाते हैं। अतएव मैकडूगल महाशय ने इन प्रवृत्तियों को "समान्य जन्मजात प्रवृत्तियाँ" कहा है। विषय का अच्छे ढङ्ग से प्रतिपादन करने के लिए हमें ऐसे तर्क-वितर्क करने की आवश्यकता नहीं कि हम अनुकरण, सहानुभूति और खेल को मूल प्रवृत्ति कहें या नहीं। इन प्रवृत्तियों के लक्षण और उपयोगिता जानना ही हमारे लिए पर्याप्त है। ये प्रवृत्तियाँ भी बालक के साथ जन्म से रहती हैं और बाल-मनोविकास में बड़ा कार्य करती हैं।

अब हम क्रम से यह दर्शाने की चेष्टा करेंगे कि बालक की कुछ मूल प्रवृत्तियों का बाल-मनोविकास में क्या स्थान है।

मूल प्रवृत्तियों[1] में परिवर्तन

मनुष्य की मूल प्रवृत्तियाँ दूसरे प्राणियों की मूल प्रवृत्तियों से अधिक परिवर्तनशील हैं। अपनी इस विशेषता के कारण मनुष्य का बालक जहाँ एक ओर पशु-पक्षियों के बच्चों से अधिक असहाय होता है वहाँ उसमें संसार के कठिन से कठिन काम करने की क्षमता भी होती है। यदि बालक को योग्य वातावरण मिले और उचित शिक्षा दी जाय तो वह अपनी प्रतिभा से संसार की सभी प्रकार की परिस्थितियों का सामना कर सकता है। बालक के स्वभाव को भली भाँति पहचानना और उसकी मूल प्रवृत्तियों को उसके मनोविकास के काम में उचित रूप से लाना माता-पिता तथा शिक्षकों का कर्तव्य है।

बालक की मूल प्रवृत्तियों का परिवर्तन निम्नलिखित चार प्रकार से होता है—
(१) दमन[2] (२) विलयन[3], (३) मार्गान्तरीकरण[4] (४) शोध[5]।

हम बालक की मूल प्रवृत्तियों की तुलना जल के प्रवाह से कर सकते हैं। जिस प्रकार झरने से जल निकलकर धारा के रूप में बहने लगता है, उसी प्रकार हमारे अदृश्य व अव्यक्त मन से मूल प्रवृत्ति की शक्ति प्रवाहित होने लगती है। बाँध बाँधकर जल के प्रवाह में परिवर्तन किया जा सकता है, यह प्रवाह का दमन है। उसका रुख मरुस्थल की ओर घुमाकर उसे शोषित किया जा सकता है, यह उसका विलयन है। प्रवाह को नदी या समुद्र की ओर, जो कि उसका सहज मार्ग है, न जाने देकर नहरों द्वारा खेतों की ओर ले जा सकते हैं, यह प्रवाह का मार्गान्तरीकरण है। यदि जल की भाप बना दी जाय, जो मशीन

---

1. Innate Tendencies. 2. Repression. 3. Inhibition.
4. Redirection. 5. Sublimation.

चलाने का काम दे, तो इस क्रिया को शोध कहेंगे। यह तो निर्विवाद है कि यदि बालक की मूल प्रवृत्तियों में कुछ भी परिवर्तन न किया जाय, तो सम्भव है कि वह अपने जीवन को पशु के समान भी व्यतीत न कर सके। समाज के द्वारा इन प्रवृत्तियों में अपने आप परिवर्तन होते रहते हैं। शिक्षा के द्वारा ये परिवर्तन सुगमता से और भली-भाँति किये जा सकते हैं।

यहाँ पाठकों का ध्यान इस बात की ओर आकर्षित करना आवश्यक है कि उपर्युक्त चार प्रकार की मूल प्रवृत्तियों के परिवर्तन की रीतियों में उत्तरोत्तर पहली रीति उसके बादवालीरीति की अपेक्षा, बाल मनोविकास की दृष्टि से निकृष्ट है *अर्थात् यदि हम किसी मूल प्रवृत्ति में परिवर्तन करने के लिए विलयन* की जगह दमन का आश्रय लेते हैं तो बालक के मनोविकास में बाधा डालते हैं। इसी प्रकार जहाँ मार्गान्तरीकरण से काम लिया जा सकता है वहाँ विलयन से काम लेना अनुचित है और जहाँ शोध की सम्भावना है वहाँ मार्गान्तरीकरण से सन्तुष्ट होना उचित नहीं।

दमन—अभिभावक लोग प्रायः बालक की उन प्रवृत्तियों का दमन ही किया करते हैं जो प्रौढ़ लोगों की दृष्टि से अवाञ्छनीय हैं। वे यह सोचने का प्रयास नहीं करते कि बालक की इस प्रकार की प्रवृत्ति को सुयोग्य कार्य में लगाने का कोई उपाय है या नहीं। मनोविज्ञान का ज्ञान न होने के कारण ही अभिभावकगण इस प्रकार की चेष्टा करते हैं। यदि माता-पिता और शिक्षक बालक की मूल प्रवृत्तियों के दमन के दुष्परिणाम को भली भाँति समझ जायँ तो बालक के प्रति उनके व्यवहार में चमत्कारिक परिवर्तन हो जाय। वे अवश्य ही बालक की उस शक्ति को सदुपयोग में लगाने की चेष्टा करने लगेंगे जो दुराचारों के रूप में प्रकट होती है। वास्तव में बालक की निर्दोष प्रवृत्तियों के दमन से ही उसके मन में दुराचारों का बीजरोपण होता है।

उदाहरणार्थ बालक की खेलने और खाने की प्रवृत्ति अथवा चीजों को तोड़ने-फोड़ने या इकट्ठा करने की प्रवृत्ति निर्दोष प्रवृत्तियाँ हैं। किन्तु जब बालक को शिष्ट बनाने के उद्देश्य से उसकी इन प्रवृत्तियों का दमन किया जाता है तो वह धूर्त, झूठा और चोर बन जाता है अथवा यदि दमन का कार्य पूर्ण रूप से हुआ तो बालक जन्मभर के लिए दब्बू, मनहूस और प्रतिभा-हीन हो जाता है अतएव दमन का मार्ग उचित नहीं है। इस मार्ग का अनुसरण जितना कम किया जाय उतना ही अच्छा है। हम आगे किसी परिच्छेद में विस्तार के साथ इसका वर्णन करेंगे।

हम हर एक स्थिति में दमन को अवांछनीय नहीं मानते। अभिभावकों

को कुछ ऐसी परिस्थितियों का सामना अवश्य करना पड़ता जहाँ दमन से ही काम लेना योग्य है। जब बालक कुसंगति में पड़ने के कारण किसी दुर्व्यसन में पड़ जाता है तो उसे दण्ड देना आवश्यक होता है। मूल प्रवृत्तियों में परिवर्तन लाने के लिए सदा सुख-दुःख-विनियमन का सिद्धान्त कार्य करता है। इसको अंगरेजी "हीडोनिक सिलेक्शन का नियम"[1] कहते हैं। जिस प्रवृत्ति के प्रकाश में सुख का अनुभव होता है। वह प्रवृत्ति सबल हो जाती है। अतएव किसी भी प्रवृत्ति को निर्बल करने के लिए दण्ड का अनुसरण करना तथा उसे सबल बनाने के लिए पुरस्कार देना आवश्यक है। किन्तु यह ध्यान में रखना चाहिये जब हम किसी प्रवृत्ति को निर्बल बनाते हैं तो साथ ही साथ बालक के व्यक्तित्व को आघात पहुँचाते हैं। उसका व्यक्तित्व इन्हीं प्रवृत्तियों के समुच्चय से बना है। यदि किसी प्रवृत्ति का पूर्ण रूप से दमन किया जाता है तो उस प्रवृत्ति की शक्ति या तो बालक के व्यक्तित्व के विकास में सहायता नहीं देती अथवा यदि वह अति प्रबल हुई तो बालक के व्यक्तित्व के प्रतिकूल उसके अदृश्य मन में कार्य करने लगती है, अतएव बालक को कम से कम ही दण्ड दिया जाय। बालक को दुराचारों से बचाने के लिए सदा हमें इस सिद्धान्त को ध्यान में रखना चाहिए कि चिकित्सा की अपेक्षा रोग को न आने देना ही उत्तम है।

विलयन—मूल प्रवृत्तियों के परिवर्तन का दूसरा उपाय विलयन है। यह दो प्रकार से हो सकता है। एक निरोध द्वारा अर्थात् प्रवृत्ति को उत्तेजित होने का अवसर न देना और दूसरा विरोध द्वारा अर्थात् जिस समय एक प्रवृत्ति कार्य कर रही हो उसी समय उसके विपरीत दूसरी प्रवृत्ति को उत्तेजित करना। यदि हम बालकों में लड़ने-भिड़ने की प्रवृत्ति को कम करना चाहते हैं, तो हमें बालक के जीवन में ऐसी परिस्थितियों को न आने देना चाहिए जिससे कि उसकी यह प्रवृत्ति उत्तेजित हो। विलियम जेम्स के इस कथन में आंशिक सत्य अवश्य है कि मूल प्रवृत्तियों का उपयोग न करने से विनाश हो जाता है। यह तो निश्चित ही है कि उनका बल कम हो जाता है।*

---

1. Law of Hedonic Selection.

* इस समय भारतवर्ष की अनेक जातियाँ असैनिक जातियाँ कही जाती हैं। वास्तव में असैनिक कोई भी जाति नहीं है। जिस जाति को लड़ाई की परिस्थिति का सामना नहीं करना पड़ता, वह स्वभावतः ही असैनिक जाति बन जाती है। भारतवर्ष के प्रायः सभी लोग डेढ़ सौ वर्ष से पराधीनता की श[illegible] का उपभोग करते-करते असैनिक बन गये हैं।

बालक की झगड़ालू प्रवृत्ति को कम करने का दूसरा उपाय है उसकी सामाजिक भावनाओं को उसी समय उभाड़ना जब कि उसके मन में लड़ने की प्रवृत्ति जाग्रत हो। इसी तरह काम-प्रवृत्ति का विरोध विकर्षण और घृणा के द्वारा किया जा सकता है। जिस व्यक्ति में कामुकता के भाव अधिक हों उसी के प्रति यदि किसी तरह घृणा उत्पन्न की जाय तो अवश्य ही कामुकता का अवरोध हो जायगा।

मार्गान्तरीकरण—मूल प्रवृत्तियों के परिवर्तन का तीसरा उपाय मार्गान्तरीकरण है। प्रत्येक बालक में संग्रह की प्रवृत्ति होती है। इस प्रवृत्ति के कारण वह अनेक व्यर्थ वस्तुएँ एकत्र किया करता है। इस प्रवृत्ति का मार्गान्तरीकरण करके बालक को उपयोगी वस्तुओं के संग्रह में लगाया जा सकता है। उदाहरणार्थ, बालक को देश-देश के डाकखाने के टिकटों के संग्रह में प्रवृत्त करके उसकी संग्रह करने की मूल प्रवृत्ति को एक उपयोगी कार्य में लगाया जा सकता है।

शोध—मूल प्रवृत्तियों के परिवर्तन का चौथा उपाय शोध है। किसी मूल प्रवृत्ति का प्रकाशन शोध की रीति से होने पर वह समाज के लिए परम लाभकारी होता है। उदाहरणार्थ, कविता रचने की कला को लीजिये। ये व्यवसाय संसार को सुखदायी और व्यक्ति को गौरवान्वित करनेवाले हैं, पर वे मनोविज्ञान के अनुसार, काम-प्रवृत्ति के शोध मात्र हैं। जो प्रवृत्ति अपने अपरिवर्तित रूप में निन्दनीय कार्यों में प्रकाशित होती है वही प्रवृत्ति शोधित रूप में सराहनीय हो जाती है। कालिदास, सूरदास और जयदेव आदि की रचनाएँ जगत् को मोहित कर देनेवाली हैं। किन्तु यदि उनके मूल में देखा जाय तो हम उसी बीभत्स काम-प्रवृत्ति को पावेंगे जिसकी निन्दा सभी करते हैं और जिसके साधारण प्रकाशन का दमन किया जाता है।

मूल प्रवृत्ति के शोध और मर्गान्तरीकरण के भेद को यहाँ स्पष्ट करना आवश्यक है। मूल प्रवृत्ति के मार्गान्तरीकरण में प्रवृत्ति के साधारण स्वरूप का परिवर्तन नहीं होता, वह जैसी की तैसी रहकर समाजोपयोगी कार्यों में प्रयुक्त होती है। उदाहरणार्थ, लड़ने-भिड़ने की प्रवृत्ति का देश एवं जाति के हितार्थ लड़ने के कार्य में लाया जाना प्रवृत्ति का मार्गान्तरीकरण है। इसी तरह जब कोई व्यक्ति अपने प्रेम का पात्र एक व्यक्ति को न बनाकर किसी दूसरे व्यक्ति को बनाता है। तब उसकी मूल प्रवृत्ति के स्वरूप में मौलिक परिवर्तन नहीं होता; किन्तु कामुकता जब कला में परिणत हो जाती है तब मूल प्रवृत्ति के स्वरूप में मौलिक परिवर्तन होता है। ऐसे परिवर्तन को शोध कहते हैं; अब निन्दनीय

वस्तु सराहनीय बन गई। कीचड़ का कमल के रूप में और मल का इत्र के रूप में परिणत होना शोध है। वास्तव में सभ्यता का विकास मनुष्य की मूल प्रवृत्तियों के शोध का ही फल है। मनुष्य जितना ही अपनी मूल प्रवृत्तियों का शोध कर सकता है, उतना ही उसका जीवन विकसित हो जाता है। अतएव बालक के मनोविकास के लिए उसकी मूल प्रवृत्तियों का शोध किया जाना परमावश्यक है।

बालक के ज्ञान-विकास में तथा उसके जीवन को सुन्दर बनाने में मूल प्रवृत्तियों का अनेक प्रकार से उपयोग किया जा सकता है। हम यहाँ बालक की कुछ मूल प्रवृत्तियों को लेकर यह बात दर्शाने की चेष्टा करेंगे।

उत्सुकता

उत्सुकता का स्वरूप—प्रत्येक बालक नई बातें जानने के लिए उत्सुक रहता है। उसे सदा नवीन-नवीन वस्तुओं को देखने की इच्छा होती है। बालक में जिन दिनों बोलने की शक्ति नहीं होती उन दिनों भी यह नवीन वस्तुओं को देखकर प्रसन्न होता है। एक वर्ष का बालक भी वह चाहता है कि हम उसको उठा ले जाकर इधर-उधर घुमावें-फिरावें, जिससे वह संसार के बाह्य पदार्थों को देखे।

उत्सुकता और बाल मनोविकास—बालक में जब बोलने की शक्ति आ जाती है। तब वह अपने माता-पिता तथा दाई से नये पदार्थों के बारे में अनेक प्रकार के प्रश्न पूछता है। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिऐ कि जो पदार्थ हमारे लिए नया नहीं है वह बालक के लिए बिल्कुल नया होता है। प्रायः प्रौढ़ लोग बालक के ऐसे प्रश्नों से तङ्ग आ जाते हैं और उसे किसी प्रकार चुप करने की चेष्टा करते हैं। कभी-कभी तो उसे डाँटकर चुप कर दिया जाता है। किन्तु बाल मनोविकास की दृष्टि से यह बड़ी भूल है। बालक तो संसार में एक आगन्तुक के समान है। वह संसार के पदार्थों के विषय में कुछ भी नहीं जानता। उसको इसी वातावरण में रहना है और इसी में रहकर अपना जीवन सफल बनाना है। यदि अभिभावकगण संसार की नवीन वस्तुओं से उसको परिचित नहीं करावेंगे तो वह अपने जीवन को कैसे सफल बनावेगा? बालक की उत्सुकता की प्रवृत्ति ही उसके ज्ञानोपार्जन का साधन है। जब इस प्रवृत्ति का दमन शिशु-काल में ही किया जाता है तो बालक के ज्ञान-विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

दमन के दुष्परिणाम—बालक के कुछ प्रश्न वास्तव में उत्तर देने के

योग्य नहीं होते, किन्तु उस समय भी बालक को डाँटकर चुप करना ठीक नहीं। उसके ध्यान को किसी दूसरी ओर कर देना चाहिए अर्थात् दमन की जगह हम ऐसे अवसर पर विलयन से काम लें। जिस बालक की जिज्ञासा-प्रवृत्ति का दमन बिना समझे-बूझे किया जाता है उसके मन में किसी से प्रश्न करने के सम्बन्ध में एक प्रकार का अज्ञात भय घर कर लेता है। इस प्रकार का भय जब बालक के स्वभाव का अंग बन जाता है, तब बालक उत्साह-हीन हो जाता है। उसको तो यह ज्ञात ही नहीं कि कौन से प्रश्न उचित हैं और कौन से अनुचित। अतएव प्रश्नों के लिए बालकों को धमकाना प्रौढ़ लोगों की भूल है। बालकों के प्रश्नों से उकता जाना तो उनकी सेवा से मुँह मोड़ना है।

उत्सुकता का उपयोग—अभिभावकों एवं शिक्षकों को बालक की उत्सुकता की वृद्धि करनी चाहिये और उसे मार्गान्तरीकरण द्वारा सुयोग्य कार्यों में लगाना चाहिए। शैशवकाल में बालक की जिज्ञासा इन्द्रिय ज्ञान-सम्बन्धी विषयों तक ही सीमित रहती है। इन दिनों बालक को बाहर घुमाते समय अनेक पदार्थों के नाम बताना चाहिए ताकि वह उनके विषय में प्रश्न कर सके।

बालक के प्रथम प्रश्न वस्तु-ज्ञान-सम्बन्धी होते हैं। वह अनेक वस्तुओं के नाम पूछता है। इनका नाम बता देना चाहिए। बालक जिस वस्तु का नाम जान लेता है, उस वस्तु के विषय में वह अपने भावों को सरलता से प्रकाशित कर सकता है। वस्तुओं के नाम न जानने के कारण बालक को अपने भाव प्रकट करने में जैसी अड़चन पड़ती है, इसका अनुमान तभी हो सकता है जब हम ऐसे देश में भ्रमण करें जहाँ की भाषा न जानते हों। हमें तो भाषा ही के कारण भावों के प्रकाशन मात्र में ही कठिनाई होती है किन्तु बालक को इस कठिनाई के अतिरिक्त दूसरी क्षति यह होती है कि भाषा के न जानने से उसके ज्ञान की वृद्धि रुक जाती है।

जब बालक चित्र देखता है तो उसके विषय में अनेक प्रश्न करता है। इन प्रश्नों का उत्तर हमें देना चाहिए। इसके अतिरिक्त हमें भी बालक से ऐसे प्रश्न पूछने चाहियें, जिनसे उसकी उत्सुकता और भी बढ़े। इस प्रकार कहीं घुमाने ले जाते समय बालक का ध्यान किसी नवीन वस्तु की ओर आकर्षित कर उससे उसके विषय में पूछताछ करनी चाहिये। पीछे यही बालक जब दूसरी किसी नवीन वस्तु को देखेगा, तो स्वयं उसके विषय में बड़ों से अनेक प्रश्न करेगा। इस प्रकार उसकी जिज्ञासा की वृद्धि होगी।

बालक के प्रश्न वस्तु-ज्ञान के पश्चात् नवीन क्रियाओं (कामों) के सम्बन्ध

में होते हैं। यह बाल-मन के विकास का सूचक है। इस प्रकार बालक अनेक वस्तुओं के व्यवहारों और उपयोगिताओं को जान लेता है। जब शान्ति (लेखक की ३ वर्ष की बालिका) कबूतर को देखती है तब पूछती है—"कबूतर क्या कर रहा है?" जब वह बोलता है, तो पूछती है—"कबूतर किसको बुला रहा है?" इसी तरह माली को अथवा उसके लड़के को देखकर अनेक प्रकार के प्रश्न उनके काम-काज के विषय में करती है। अर्थात् उसके प्रश्न वस्तु-ज्ञान-सम्बन्धी ही नहीं रहते वरन् क्रिया-ज्ञान-सम्बन्धी भी होते हैं। इस काल में बालक को चित्र दिखाते समय हमें बालक से चित्र के अनेक पदार्थों की क्रिया के विषय में प्रश्न करना चाहिये। इस तरह बालक की कल्पना-शक्ति बढ़ती है।

क्रिया-ज्ञान के पश्चात् बालक में पदार्थों के विशेषणों को जानने की उत्सुकता आती है। बालक का प्रश्न—"यह पदार्थ कैसा है?" उसी काल में सम्भव है जब बालक में वस्तुओं और उनके गुणों को पृथक् करके विचार करने की शक्ति आ गई हो। विश्लेषणात्मक विचार-शक्ति के अभाव में ऐसे प्रश्न सम्भव नहीं। इस प्रकार की शक्ति के उपार्जन करने में शिक्षकगण बड़ी सहायता कर सकते हैं। बालक की जिज्ञासा को पदार्थों के गुणों की पहचान में लगाना उसका सदुपयोग करना है। इसी प्रकार बालक अपने आस-पास के पदार्थों से भली भाँति परिचित होता है तथा उसमें किसी पदार्थ के आकार-प्रकार, रूप-रंग के जानने अथवा विवेचन करने की शक्ति आ जाती है। शिक्षकों अभिभावकों को चाहिये कि बालकों को नई वस्तु दिखाते समय उनसे अनेक ढंग के प्रश्न करें। जैसे—यह वस्तु कैसी है? इसका रंग, आकार-प्रकार कैसा है? इत्यादि। इस प्रकार का अभ्यास हो जाने पर बालक स्वयं ही नवीन वस्तुओं को देखकर दूसरों से उसी प्रकार प्रश्न करेगा।

जब बालक का ज्ञान भली भाँति बढ़ जाता है, तब उसके प्रश्न प्रत्यक्ष पदार्थ, उनकी क्रियाओं तथा विशेषणों तक ही सीमित नहीं रहते, बल्कि उन पदार्थों से भूत और भावी रूपों एवं क्रियाओं को भी बालक जानना चाहता है। कभी-कभी शान्ति अपनी माँ से यह प्रश्न करती है—"कबूतर कहाँ गया था?" इस प्रकार के प्रश्न बालकों की कल्पना को विकसित करते हैं। शिशु-कक्षा में बालकों को पढ़ाते समय शिक्षकों को विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये कि उनके प्रश्न से बालकों की कल्पना-शक्ति कहाँ तक बढ़ रही है। प्रत्यक्ष पदार्थ को प्रश्नों का केन्द्र बनाकर पाठकों को बालकों से ऐसे प्रश्न करने चाहिये जिनसे उन्हें दृष्टि से बाहर की वस्तु के बारे में सोचना पड़े। इस तरह बालक अपनी कल्पना से काम लेना सीखेंगे। उसका पुराना प्रत्यक्ष ज्ञान अब

की आवश्यकता होती है। नींद की अवस्था में बालक प्रकृति देवी की गोद में जाता है और उस अवस्था से फिर जब चैतन्य अवस्था में आता है तो नई शक्ति तथा स्फूर्ति लेकर आता है।

अभ्यास और रुचि—बालक का किसी विषय में थकना उसके अभ्यास और रुचि पर भी निर्भर होता है। जैसा पहले कहा जा चुका है, अभ्यास हमारे शक्ति-संचय का सबसे बड़ा साधन है। जब हम किसी काम के करने में अभ्यस्त हो जाते हैं तो हमें उसके करने में उतना ध्यान नहीं देना पड़ता जितना कि अभ्यास न किए हुए काम में देना पड़ता है। ध्यान को एकाग्र करने में मानसिक शक्ति का व्यय होता है। जब किसी काम को करना हमारे स्वभाव का अंग बन जाता है तो यह शक्ति-व्यय नहीं होती। अतएव थकावट भी शीघ्रता से नहीं आती। यदि मनुष्य अभ्यास की शरण न ले तो संसार का कोई भी बड़ा काम न कर पाये। संसार का प्रत्येक मौलिक काम करने के लिए घण्टों लगातार काम करते रहना पड़ता है। यदि ऐसे कामों में हम उतने ही थकें जितने साधारण थकते हैं तो कुछ भी कार्य भलीभाँति नहीं कर पायेंगे। परन्तु अभ्यास के कारण लगन के साथ काम करनेवालों को थकावट आती ही नहीं। हमें बालकों में काम करने का अभ्यास बढ़ाना चाहिए।

अभ्यास के साथ-साथ काम की रुचि भी थकावट के निवारण में सहायक

अवस्था	घंटे	समय
६ वर्ष के नीचे	१२	६ बजे शाम से ७ बजे सुबह तक
७ ,, ,,	१२½	६½ ,, ,, ७ ,, ,,
८ ,, ,,	१२	७ ,, ,, ७ ,, ,,
९ ,, ,,	११½	७½ ,, ,, ७ ,, ,,
१० ,, ,,	११	८ ,, ,, ७ ,, ,,
१२ ,, ,,	१०½	८½ ,, ,, ७ ,, ,,
१५ ,, ,,	१०	९ ,, ,, ७ ,, ,,
१७ ,, ,,	९½	९½ ,, ,, ७ ,, ,,
१९ ,, ,,	९	१० ,, ,, ७ ,, ,,

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि भारतवर्ष में किशोर बालकों को ५ बजे के बाद सोते न रहने देना चाहिये। हमारी समझ में उनके लिये उपर्युक्त नींद का समय कुछ अधिक भी है।

होती है। वास्तव में अभ्यास और रुचि एक दूसरे पर आश्रित हैं। जिस क
में अधिक रुचि होती है उसका उतना ही अधिक अभ्यास हम करते हैं त
जिस काम में जितना अभ्यास किया जाता है उसमें उतनी ही अधिक रु
बढ़ जाती है।

थकावट का रोकना—हमने ऊपर थकावट के निवारण का उप
बतलाया है। थकावट का रोकना थकावट के निवारण से और भी अधि
महत्व का विषय है; पर इस विषय पर दूसरे प्रसंगों में कहा जा चुका
अतएव यहाँ कुछ महत्व की बातों पर ध्यान आकृष्ट करना पर्याप्त होगा।
थकावट का आना निम्नांकित बातों पर आश्रित है: —

स्वास्थ्य—जब बालक का शरीर स्वस्थ होता है तो वह अस्वस्थता
अपेक्षा अधिक काम कर सकता है। अतएव जो बालक जितना स्वस्थ हो
उसमें उतनी ही अधिक कार्य करने की शक्ति होगी। जिन बालकों को घर
भोजन पर्याप्त नहीं मिलता, जो किसी न किसी बीमारी से पीड़ित रहते हैं
भला अपनी प्रतिभा कैसे दिखा सकते हैं? भारतवर्ष में कितने ही बालक ऐ
होते हैं जिनकी बुद्धि गरीबी के कारण ही अविकसित रह जाती है। शरार
हमारे समस्त मानसिक विकास का आधार है। जिस बालक का शरीर
सुगठित नहीं होने पाता, उसका मन भी विकसित नहीं हो पाता। बालक
मन का विकास काम करने ही से होता है, पर जो बालक थोड़े ही काम
थक जाता है वह मानसिक उन्नति कैसे कर सकता है?

काम का समय—काम का समय भी थकावट लाने में कारण होता है
बालक जितना काम सबेरे कर सकता है उतना दोपहर को अथवा शाम को न
कर सकता। अतएव उसे जटिल तथा महत्व के विषय सबेरे ही पढ़ाये जायँ

काम करने का स्थान—काम करने की शक्ति पर स्थान का भी प्रभा
पड़ता है। खुले मैदान की अपेक्षा बन्द कमरे में पढ़ने से थकावट आती है
प्रयोगों द्वारा यह निश्चय हुआ है कि जो स्थान जितना खुला रहता है, व
उतना ही अधिक पढ़ाई के लिए उपयुक्त होता है। पर यहाँ इस बात को ध्या
में रखना चाहिये कि चित्त को विक्षेप करनेवाले दूसरे प्रकार के पदार्थ वहाँ
हों। खुले स्थान में बालक को पर्याप्त ओषजन मिलती है इससे उसके मस्तिष्क
विषैले पदार्थ जल्दी दूर हो जाते हैं अतएव बालक में काम करने की शा
बनी रहती है। ऊपर कहा जा चुका है कि थकावट का एक प्रधान कार
ओषजन की कमी है। जिस स्थान पर अधिक ओषजन उपलब्ध होता है व
स्थान पढ़ाई के लिए उतना ही उपयुक्त होता है।

प्राकृतिक परिस्थितियाँ—प्राकृतिक परिस्थितियाँ भी थकावट पैदा करती हैं। ग्रीष्म ऋतु की अपेक्षा वसन्त ऋतु में बालक अधिक काम कर सकता है। इसी तरह बरसात के दिनों में उतना काम नहीं हो सकता जितना खुले मौसम में। अधिक जाड़ा पड़ने पर भी काम करने की शक्ति कम हो जाती है।

थकावट और शिक्षा का समय-विभाग—बालकों की शिक्षा का समय-विभाग-चक्र उपर्युक्त सभी बातों पर ध्यान रखकर बनाना चाहिये। जब बालक थका न हो तब कठिन विषय पढ़ाये जायँ। गणित, भाषा आदि विषय समय-विभाग-चक्र के अन्त के घण्टे में न रक्खे जायँ। दो कठिन विषय—जैसे गणित और व्याकरण—एक के बाद एक न पढ़ाये जायँ। एक कठिन विषय के बाद एक सरल विषय रखना उचित है। बालकों से लगातार मस्तिष्क का काम न कराया जाय। मस्तिष्क और हाथ का काम एक के बाद एक होना चाहिये। बालकों की अवस्था के अनुसार उनकी पढ़ाई के घण्टे छोटे-बड़े रक्खे जायँ। प्राइमरी स्कूल के बालकों का घण्टा ३० या ३५ मिनट से अधिक लम्बा न होना चाहिए।* किसी भी कक्षा में ४५ या ५० मिनट से अधिक कोई विषय न पढ़ाया जाय। जहाँ तक हो सके, विषय को बालकों के लिए रुचिकर बनाना चाहिये। खेल के सिद्धान्तों का उपयोग बालकों की शिक्षा में करना अति आवश्यक है।

———

* लिस्टर महाशय ने बालकों की अवस्था के अनुसार ध्यान की एकाग्रता की अवधि निम्नलिखित बताई है—

बालक की अवस्था	ध्यान की एकाग्रता की अवधि
६ वर्ष	१५ मिनट
७ से १० वर्ष	२० मिनट
१० से १२ वर्ष	२५ मिनट
१२ से १६ वर्ष	३० मिनट

इस अवधि के बताने का तात्पर्य यही है कि यदि बालक को इतने समय से अधिक देर तक एक ही विषय पढ़ाया जायगा तो उसको थकावट आने लगेगी और उसका काम पहले जैसा अच्छा न हो सकेगा।

—हाईजीन आफ़ दि स्कूल, पृष्ठ २२७।

बारहवाँ प्रकरण

संवेदना

संवेदना का स्वरूप—मनोविज्ञान के अनुसार हमारे सब प्रकार के ज्ञान का आधार संवेदना है। संवेदना शरीरस्थ अनेक इन्द्रियों की उत्तेजना से पैदा होती है। वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाय तो संवेदना का कारण अंतर्वाही स्नायुओं[1] की उत्तेजना कहा जायगा। हमारे सामने जब कोई पदार्थ आता है तो हमारे मस्तिष्क का प्रभाव जब मस्तिष्क तक पहुँचता है तब हमें विशेष प्रकार की संवेदना होती है।

संवेदना हमारे ज्ञान की सबसे पहली और सरल अवस्था है। यह हमारे सब प्रकार के ज्ञान का आधार होते हुए भी हमें अपने शुद्ध स्वरूप में ज्ञात नहीं होती। संवेदना में ज्ञान की प्रकारता का अभाव रहता है। अर्थात् संवेदना निष्प्रकारक ज्ञान का नाम है। जब हम इस तरह के ज्ञान की खोज करते हैं जो पूर्णतः निष्प्रकारक हो तो हम उसे अपने अनुभव में कहीं नहीं पाते! ज्योंही हमें किसी प्रकार की संवेदना होती है, हम उसका अर्थ तुरन्त लगा लेते हैं। संवेदना का उत्पन्न होना और उसका अर्थ लगाया जाना दोनों क्रियाएँ मानों एक ही साथ होती हैं। जिस ज्ञान में अनेक प्रकार के भेद होते हैं वह ज्ञान संवेदना नहीं वरन् प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है। हमें नीला अथवा कड़वापन का ज्ञान नहीं होता, वरन् हमें "नीला कपड़ा", "नीला आकाश", "कड़वी नीम", "कड़वी दवा" इत्यादि ज्ञान होता है। प्रौढ़ व्यक्तियों का मस्तिष्क ही इस प्रकार का होता है कि कोई ज्ञान उसमें उत्पन्न होकर प्रकारता के बिना नहीं रहता। वह पदार्थ-ज्ञान बन जाता है।

बालकों की संवेदना के विषय में यह नहीं कहा जा सकता। बालक जब संसार में आता है तो उसका ज्ञान संवेदनामात्र रहता है। उसमें किसी प्रकार के भेद नहीं होते। जैसे-जैसे उसका अनुभव बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसके ज्ञान में अनेक प्रकार के भेद उत्पन्न होते जाते हैं। बालक की क्रियात्मक शक्ति और ज्ञानात्मक शक्ति का विकास साथ ही साथ होता है। बालक जब हाथ-पैर चलाता

---

1. Afferent nerves.

या मुँह से आवाज निकालता है तो उसका ज्ञान अनेक प्रकार से विकसित होता है और प्रत्यक्ष ज्ञान में परिणत हो जाता है।

शुद्ध संवेदना के स्वरूप को समझने के लिए दो-एक उदाहरण देना अनुपयुक्त न होगा। मान लो कहीं आग जल रही है और हम उसकी ओर जा रहे हैं। उस समय हमें गर्मी की संवेदना होती है। हमें अभी तक यह ज्ञान नहीं कि हमारे बदन में गर्मी क्यों मालूम हो रही है। इस प्रकार के ज्ञान को संवेदना मात्र कहा जायगा। यदि किसी पदार्थ पर हमारा हाथ पड़ गया और हमें ज्ञान हुआ कि कुछ पदार्थ हमारे हाथ से अवश्य टकराया है, पर हम नहीं जानते कि पदार्थ क्या था पत्थर था अथवा लकड़ी, तो ज्ञान की इस अवस्था का नाम संवेदना मात्र कहा जायगा। इस तरह यदि हमारी आँख में किसी प्रकार का प्रकाश पहुँचे पर हम यह निश्चय न कर सकें कि वह नीला है या पीला या लाल तो हम इस प्रकार के ज्ञान को भी संवेदना मात्र कहेंगे।

बालकों में अनेक प्रकार की संवेदनाओं के भेद के समझने की शक्ति नहीं रहती। अतएव उनकी और हमारी संवेदनाओं में मौलिक भेद होता है। अनुभव के बढ़ने पर बालक में संवेदनाओं के अनेक भेदों का ज्ञान होने लगता है। वास्तव में मनुष्य के मस्तिष्क का विकास इसी प्रकार के भेद समझने में है। विकसित मस्तिष्क में संवेदनाओं के अनेक प्रकार के भेद होते हैं और उन भेदों से पूर्ण संवेदना नई तरह से संगठित रहती है।

संवेदना के भेद

संवेदनाएँ अनेक प्रकार की होती हैं। जब हम कहते हैं कि कड़ुआपन कसैलेपन से भिन्न है अथवा रंग-ज्ञान शब्द-ज्ञान से भिन्न है तो हम संवेदना के एक प्रकार के भेदों को निर्देशित करते हैं। इसी तरह "यह आवाज सुरीली है" और "यह भारी है" इन वाक्यों द्वारा भी संवेदना के दूसरे प्रकार के भेदों की ओर ध्यान आकर्षित किया जाता है।

संवेदना के भेद दो प्रकार के होते हैं—गुण-भेद[1] और शक्ति-भेद[2]। हमारी भिन्न-भिन्न इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की संवेदनाएँ उत्पन्न करती हैं, जैसे आँख रङ्गों का ज्ञान कराती है और कान शब्द का ज्ञान कराता है। ऐसे भेद को गुण भेद कहा जाता है। इसी तरह रंगों में काला और नीला भिन्न-भिन्न प्रकार की संवेदनाएँ हैं। इनके भेद भी गुण-भेद कहे जाते हैं। यदि किसी संवेदना से उसका गुण-भेद निकाल दिया जाय तो फिर वह संवेदना

1. Difference in quality. 2. Difference in intensity.

ही न रह जायगी। संवेदना का गुण-भेद उसके स्वरूप से अभिन्न है। जिस तरह हर एक संवेदना में गुण-भेद होता है, उसी तरह उसमें शक्ति-भेद होता है। कोई संवेदना अधिक शक्तिशालिनी होती है और कोई कम। घण्टे की आवाज घण्टी की आवाज से शक्ति में भिन्न है, इसी तरह बन्दूक और पटाखे की आवाज तोप की आवाज से शक्ति में भिन्न होती है। गुण-भेद संवेदना ग्रहण करनेवाली ज्ञानेन्द्रिय के कारण होते हैं। बाह्य उत्तेजना से संवेदना में शक्ति-भेद पैदा होते हैं।

कई मनोवैज्ञानिकों ने 'संवेदना का फैलाव' और 'संवेदना का जीवनकाल' इस तरह के भेद भी माने हैं। पर जब हम इस प्रकार के भेद संवेदना में करने लगते हैं तो हमारी संवेदना शुद्ध संवेदना नहीं रहती, वरन् वह पदार्थज्ञान में परिणत हो जाती है। अतएव ऐसे भेदों को गौण-भेद मानना चाहिए। संवेदना के फैलाव का ज्ञान तथा उसके जीवनकाल का ज्ञान उस पदार्थ से पृथक् नहीं किया जा सकता जिससे कि संवेदना संबंधित है।

संवेदना और बाल-मनोविकास

ऊपर कहा जा चुका है कि हमारे प्रत्येक बाह्य पदार्थ के ज्ञान का आधार संवेदना है। जैसे-जैसे बालक के मन का विकास होता जाता है, उसकी संवेदनाएँ विभिन्न प्रकार की होने लगती हैं। यही संवेदनाएँ आगे चलकर स्पष्ट पदार्थ ज्ञान में परिणत हो जाती हैं। इस ज्ञान की वृद्धि में बालक की क्रियात्मक वृत्तियाँ बहुत सहायक होती हैं। जो बालक जितना चंचल होता है, उसका इन्द्रिय-ज्ञान और पदार्थ-ज्ञान उतना ही सुदृढ़ होता है। प्रकृति ने बालक को चंचल इसलिए बनाया है कि वह भली-भाँति अपने आस-पास के पदार्थों को समझ ले। उनके रूप-रंग, आकार, मिक आदि को जानने के लिए बालक अनेक तरह की चेष्टाएँ स्वयं करता रहता है। प्रौढ़ व्यक्तियों का कर्तव्य है कि बालक की इस प्रकार की चेष्टाओं का किसी प्रकार से दमन न करें प्रत्युत उसे सब प्रकार से सहायता दें।

तीव्र बुद्धिवाले बालक मंद बुद्धिवाले बालकों की अपेक्षा पदार्थों के आकार, मिक़दार, रूप-रंग इत्यादि को शीघ्रता से जान लेते हैं। वास्तव में मंद बुद्धिवाले बालक को पदार्थों का इन्द्रियज्ञान भी भली-भाँति नहीं होता। बेलजियम के प्रसिद्ध वैज्ञानिक सिगमंड महाशय ने मंदबुद्धिवाले बालकों की शिक्षा का आधार इन्द्रियज्ञान की वृद्धि ही रक्खा था। इसके द्वारा बालक की संवेदनाओं को

सुसंगठित किया जाता था। इनके सुसंगठित होने पर बालक में कल्पना और विचार करने की शक्ति विकसित होती है।

इन्द्रियज्ञान सम्बन्धी शिक्षा

इन्द्रियज्ञान-सम्बन्धी शिक्षा की आवश्यकता—प्रकृति ने हमें अनेक इन्द्रियाँ देकर संसार के ज्ञान प्राप्त करने की सुविधा दे दी है। यदि हम सब इन्द्रियों को भलीभाँति उपयोग कर सकें तो हमारा संसार कितना हरा-भरा और सौन्दर्य से पूर्ण होगा, परन्तु हममें से कितने व्यक्ति हैं जो अपनी इन्द्रियों को उचित उपयोग में ला सकते हैं? प्रकृति ने हमें इन्द्रियाँ तो दी हैं, परन्तु उनका सदुपयोग करना सहज में ही नहीं आ जाता। हाँ, कुछ हद तक हम अवश्य ही अपनी इन्द्रियों से काम लेना सहज में सीखते हैं, परन्तु यदि इन्द्रियों से काम लेने की शिक्षा भलीभाँति न दी जाय तो हममें से कोई भी व्यक्ति उनसे उतना लाभ न उठा सकेगा, जितना उठाना चाहिये।

हमारी प्राकृतिक शक्तियों की वृद्धि अभ्यास से होती है। यही बात हमारे इन्द्रियज्ञान के विषय में है। यदि किसी बालक को अपनी इन्द्रियों को भली भाँति उपयोग में लाने की शिक्षा दी जाय और उससे इन्द्रियों को उपयोग में लाने का अभ्यास कराया जाय तो उसकी इन्द्रियाँ अपने आप ज्ञान प्राप्त करने में सुयोग्य बन जावेंगी। शिक्षा से इन्द्रियों की शक्ति में कितनी वृद्धि हो जाती है, यह आप किसी बाजार में जाकर विभिन्न वस्तुएँ बेचनेवाले व्यापारी को देखकर जान सकते हैं। आप घी की दूकान पर जाइए, घीवाला तुरन्त ही अच्छे और बुरे घी की पहचान कर लेगा। किस घी में कितनी मिलावट है और वह घी कितना पुराना है, यह उसको सूँघते ही मालूम हो जाता है। इसी तरह आप यदि किसी सुनार की दूकान पर जायँ तो आप देखेंगे कि उसकी दृष्टि इतनी तीव्र है कि वह सोने को देखते ही यह जान लेता है कि उसमें दूसरे धातुओं का कितना अंश है। सुनार सोने को कसौटी पर कसता है और उस पर उसकी रंगत देखकर यह जान लेता है कि किस सोने को किस भाव खरीदा जाय। इसी तरह जौहरी जवाहर को देखते ही परख लेता है। यदि हम बजाज के पास जायँ तो देखेंगे कि उसकी उँगलियाँ इतनी अभ्यस्त हैं कि वह कपड़े को छूते ही जान लेती हैं कि कपड़ा कितने मूल्य का है। हम जिस रेशमी कपड़े के खुरदुरेपन और चिकनाई को जान नहीं पाते उसको रेशम का व्यापारी तुरन्त जान लेता है। यह सब उनकी इन्द्रियों की योग्य शिक्षा से ही तो आया।

हमें प्रतिदिन भारीपन और हल्केपन का अन्दाजा लगाना पड़ता है।

आँख से देखकर किसी चीज का मिकदार जानने की आवश्यकता होती है। नाक से सूँघकर किसी चीज की सुगन्ध या दुर्गन्ध को पहचानना पड़ता है। अपने कमरों को सजाने के लिए रंगों के सौंदर्य को जानना पड़ता है। इन सब बातों के लिए शिक्षा की आवश्यकता है। अगर हमारी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयों के ज्ञान में बालपन से ही सुयोग्य बनाई जायँ तो हम संसार में उतने धोखे में नहीं पड़ेंगे जितने इस ज्ञान के अभाव में पड़ते हैं। रंगों के सौन्दर्य और ध्वनि के भेदों को भलीभाँति समझ सकेंगे। अतएव बालपन से ही इन्द्रिय-ज्ञान-सम्बन्धी शिक्षा देना आवश्यक है।

श्रीमती मान्टसरी की शिक्षापद्धति :—इन्द्रियज्ञान-सम्बन्धी शिक्षा देने में जिन्होंने बड़ा प्रयास किया है उनमें श्रीमती मान्टसरी का नाम अग्रगण्य है। श्रीमती मान्टसरी को यह पद्धति मनोवैज्ञानिक सिगमंड के, मन्द-बुद्धि के बालकों को शिक्षित बनाने के, प्रयोगों से प्राप्त हुई। सिगमंड ने मन्द-बुद्धि के बालकों की शिक्षा का आधार इन्द्रियज्ञान की वृद्धि को बनाया, क्योंकि समस्त प्रत्यक्षज्ञान का आधार इन्द्रियज्ञान है। यदि किसी व्यक्ति का इन्द्रियज्ञान भलीभाँति बन जाय तो उसका प्रत्यक्षज्ञान भी ठीक बन जायगा। उसकी शिक्षा-पद्धति में बड़ी और छोटी वस्तुओं को बालकों से उठवाकर और हाथ में लेकर ज्ञान कराया जाता था। इस तरह से मन्द-बुद्धिवाले बालकों को अच्छे ढङ्ग से चीज रखना सिखाया जाता तथा रंगों का ज्ञान कराया जाता था।

इस सिद्धान्त का प्रयोग श्रीमती मान्टसरी ने बालक के इन्द्रिय-ज्ञान की वृद्धि में किया। श्रीमती मान्टसरी की शिक्षा-प्रणाली से बालक अपने विभिन्न स्नायुओं पर अधिकार पाता है। वह अपनी भिन्न-भिन्न इन्द्रियों को भलीभाँति उपयोग में लाना सीखता है तथा उसको साथ ही साथ आत्मनिर्भरता का सबक भी सिखाया जाता है। ये सब बातें बालक खेल-कूद आदि में ही सीख लेता है। श्रीमती मान्टसरी ने विशेष प्रकार के शिक्षा-यन्त्रों का आविष्कार किया है, जिनके द्वारा बालक के स्पर्श एवं चक्षु-ज्ञान आदि की वृद्धि होती है। श्रीमती मान्टसरी के खेल ये हैं—लकड़ी के ब्लाक द्वारा सीढ़ी बनवाना, रंगों की पहचान करवाना, डिब्बों को उनके वजन के अनुसार रखना, चीजों को उनकी जगह पर रखवाना इत्यादि। इन खेलों से बालक से चक्षु-ज्ञान, शब्द-ज्ञान और स्पर्श-ज्ञान की वृद्धि कराई जाती है।

एक साधारण खेल लीजिए। एक बालक की आँखों पर पट्टी बाँध दी जाती है और वर्ग के सब लड़के उसके आस-पास खड़े हो जाते हैं। इनमें से एक लड़का उस बालक से कुछ कहता है जिसकी आँखों पर पट्टी बँधी होती

है। अब आँख बँधे बालक का यह काम है कि उस बालक को छुए, जिसने शब्द का उच्चारण किया है। शब्द उच्चारण करनेवाला बालक अपनी जगह रहता है। परन्तु दूसरे बालक अपना स्थान बदल देते हैं। जब तक बँधी आँखोंवाला बालक ठीक बालक को नहीं छूता तब तक उसे मैदान भर में घूमते ही रहना पड़ता है। इस प्रकार लड़के खूब हँसते-खेलते रहते हैं तथा उनको कान से दूरी समझने की शिक्षा भी सरलता से मिल जाती है।

बालक के सामने बहुत से फीतों का एक डिब्बा रख दिया जाता है। वह उन फीतों को उनके रंग के अनुसार जमाता है। रंगों में थोड़ा-थोड़ा भेद होता है। जब वह ठीक जमा लेता है तब पाठिका को दिखाता है और पाठिका उसे बताती है कि तुम अपने काम में सफल हुए या नहीं। इस तरह आँखों द्वारा रंगों को पहचानने की शक्ति बढ़ती है। बालक को कई प्रकार के सैंड पेपर दिये जाते हैं। वह उनको उँगली से छूता है और उनकी खुरदुराहट से परिचित होकर उन्हें तरतीब से लगाता है। इस तरह उसके स्पर्शज्ञान की वृद्धि होती है। कुछ डिब्बों में भिन्न-भिन्न आकार के छर्रे भरे रहते हैं। उन डिब्बों को कान के पास ले जाकर बालक बजाते हैं और आवाज से यह पहचानने की चेष्टा करते हैं कि किस डिब्बे में बड़े-बड़े छर्रे हैं और किसमें छोटे। फिर वह उन्हें क्रम से एक जगह लगाता है। डिब्बों के नीचे अंक पड़े रहते हैं अतएव बालक स्वयं देख सकता है कि वह अपने काम में सफल हुआ अथवा नहीं।

श्रीमती मान्टसरी ने इस प्रकार के कई खेलों का आविष्कार किया है, जिनसे बालक के इन्द्रिय-ज्ञान की वृद्धि होती है और उसे आत्मनिर्भरता प्राप्त होती है। हम श्रीमती मान्टसरी के द्वारा आविष्कृत शिक्षा-यन्त्रों से ही अपनी शिक्षा-पद्धति को सीमित न कर लें, प्रत्युत हमें उनके सिद्धान्तों को अवश्य मानना चाहिए। श्रीमती मान्टसरी के सिद्धान्तों को ग्रहण करते हुए हम भारत के वातावरण के उपयुक्त ऐसे अनेक यन्त्रों का आविष्कार कर सकते हैं जिनसे बालक का इन्द्रिय-ज्ञान बढ़े।

बालक के इन्द्रियज्ञान की शिक्षा में श्रीमती मान्टसरी की पद्धति की उपयोगिता बताते समय यह कह देना आवश्यक है कि उक्त पद्धति में कई प्रकार की अत्युक्तियाँ हैं। बालकों को एक-एक इन्द्रियज्ञान की अलग-अलग शिक्षा देना उचित नहीं कहा जा सकता। यदि शिक्षा का उद्देश्य बालक को साधारण जीवन में योग्य बनाना है तो उसकी शिक्षा भी उसी प्रकार से हो जिससे वह साधारण जीवन के व्यवहारों में अभ्यस्त हो जाय। साधारण जीवन

में कोई भी इन्द्रिय-ज्ञान दूसरे प्रकार के इन्द्रिय-ज्ञान से पृथक् नहीं पाया जाता। अतएव जो बालक इस शिक्षा-प्रणाली में अभ्यस्त हो जायँगे उनके साधारण जीवन में अधिक योग्य बनने में हमें संदेह है। हम विलियम स्टर्न के इस कथन से सहमत हैं कि बालक को एक संकीर्ण वातावरण में न डालकर उसके शिक्षालय के आस-पास की फूल-पत्तियों तथा अनेक प्रकार की वस्तुओं के रंग, आकार आदि दिखाकर यदि उसके इन्द्रिय-ज्ञान को परिपक्व किया जाय तो अधिक लाभ होगा। हमें श्रीमती मान्टसरी के उत्साह को लेना चाहिये; उनके विशेष आविष्कारों के विषय में अभी तक कहा नहीं जा सकता कि वे बालकों के लिए कहाँ तक उपयोगी हैं।

बालकों की इन्द्रियों के दोष और उनके उपचार

बाह्य जगत् का ज्ञान हमें इन्द्रियों के द्वारा ही होता है। यदि बालक की इन्द्रियों में कोई दोष होगा तो उनका बाह्य जगत् का ज्ञान या तो दूषित हो जायगा या अधूरा रह जायगा। इन्द्रिय-ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति प्रकृतिदत्त होती है, इसमें हम कोई परिवर्तन नहीं कर सकते। पर हम बालक को सावधानी से काम लेकर इन्द्रियों की क्षति से बचा सकते हैं। हमारे अज्ञान और असावधानी के कारण बालकों को कितनी हानि होती है, इसका अनुमान लगाना भी कठिन है। यहाँ पर कुछ ऐसी बातों का कहना आवश्यक है जिनके कारण बालक को स्थायी मानसिक क्षति पहुँचती है।

आँख के दोष—संसार के प्रायः सभी ज्ञान हमें आँख और कान के द्वारा प्राप्त होते हैं। जैसे-जैसे शिक्षा का प्रसार होता है, आँख का महत्त्व बढ़ता जाता है। आँख के बिना संसार में जीवन व्यर्थ है। आँख जीवन की बहुत मौलिक वस्तु है, किन्तु उस पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता। कितने ही बालकों की आँखें माता-पिता की असावधानी के कारण बिगड़ जाती हैं। जब किसी बालक की आँखें एक बार बिगड़ जाती हैं तो उनमें सुधार होना कठिन होता है। पढ़ने-लिखनेवाले बालकों की आँखें ग्रामीण अशिक्षित बालकों की अपेक्षा अधिक बिगड़ती हैं। इसका प्रधान कारण शिक्षित बालकों का आँखों का दुरुपयोग ही है। डाक्टर कोहन की जाँच से पता चला है कि इंगलैण्ड के देहाती बालकों में एक प्रतिशत की आँखें कमजोर रहती हैं तथा शहर के एलीमेन्टरी स्कूलों में कमजोर आँखोंवाले बालकों की संख्या छः प्रतिशत [illegible] हाईस्कूल के बालकों की बीस प्रतिशत रहती है*।

---

* डाक्टर सिग्गेल ने १६०० [illegible] की आँख जाँची।

जिन बालकों की आँखें बिगड़ जाती हैं उनकी बुद्धि वैसी विकसित नहीं हो पाती जैसी कि दूसरे बालकों की होती है। बिगड़ी आँखों के बालक को पुस्तक आँखों के पास रखनी पड़ती है, इससे पढ़ते समय यह किसी पंक्ति का थोड़ा ही भाग एक साथ देख पाता है। जो बालक पूरी पंक्ति को एक साथ नहीं देख पाता उसे लिखित विषय का अर्थ ग्रहण करने में कठिनाई पड़ती है। उसे बार-बार दृष्टि को आगे-पीछे ले जाना पड़ता है। इस तरह बालक की पुस्तक पढ़ने की आदत बिगड़ जाती है। परिणामस्वरूप ऐसा बालक मन्दबुद्धि-सा दिखाई पड़ता है।

आँख की कमजोरी के कारण—आँख की कमजोरी के चार प्रधान कारण हैं—पैतृक दोष, पौष्टिक भोजन की कमी, रोग और आँख का अधिक परिश्रम।

कितने ही बालकों की आँखों की कमजोरी पैतृक होती है। किन्तु यहाँ इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि माता-पिता से प्राप्त आँखों की कमजोरी बालक के स्कूल में जाने से बढ़ जाती है। कितने ही बालक ऐसे मिलेंगे कि यदि वे स्कूल न जायँ तो उन्हें पैतृक आँखों की कमजोरी होते हुए भी चश्मा लगाने की आवश्यकता न पड़े। देखा गया है कि कमजोर आँखवाले बालकों में पचास प्रतिशत ऐसे हैं जिसके माता-पिता की आँखें कमजोर नहीं हैं।

जिन बालकों को उचित भोजन नहीं मिलता उनकी आखें कमजोर हो जाती हैं। जिस प्रकार भोजन की कमी के कारण सारा शरीर निर्बल हो जाता है उसी प्रकार आँखें भी भोजन की कमी के कारण निर्बल हो जाती हैं। ऐसे बालकों में दूर की वस्तु देखने की शक्ति न रहना स्वाभाविक है। भारतवर्ष में ऐसे ही बालकों की अधिकता है जो पौष्टिक भोजन की कमी और पढ़ाई लिखाई में अधिक परिश्रम करने के कारण अपनी आँखों की ज्योति खो देते हैं। जाँच करने

की कमजोरी निम्नलिखित संख्या में पुराने जीवन के अनुसार पाई गई।

पुराना जीवन	आँखों की कमजोरी प्रतिशत
ग्रामीण तथा ग्रामीण पाठशाला में शिक्षित	२
शहर-निवासी मज़दूर	४
कारीगर	५
सौदागर, क्लर्क, कम्पोज़िटर	९
विश्वविद्यालय के छात्र	५८ से ६५ तक

अर्थात् कमजोर आँखोंवाले लोगों में प्रतिशत सबसे अधिक शिक्षित वर्ग के लोग होते हैं।

से पता चला है कि अस्वस्थ बालकों की अपेक्षा स्वस्थ बालकों में आँख की कमजोरी कम रहती है तथा पौष्टिक भोजन की कमी के साथ-साथ आँखों की कमज़ोरी भी पाई जाती है।

रोगों के कारण भी बालकों की आँखें बिगड़ जाती हैं। जब बालक किसी कारण बीमार हो जाता है तो उसके शरीर के साथ-साथ उसकी आखें भी कमज़ोर हो जाती हैं। फिर जब वह स्कूल में आता है और एकाएक आँखों से अधिक परिश्रम करने लगता है तो उसकी आँखें बिगड़ जाती हैं। बीमारी से कमज़ोर हुए बालकों से अधिक परिश्रम कराना उन पर अन्याय करना है।

छोटी अवस्था के बालकों से आँखों का परिश्रम अधिक कराना आँखों को बिगाड़ देना है। पुस्तक को आँखों के नज़दीक करके पढ़ने से भी आँखें बिगड़ जाती हैं। इस प्रकार की क्षति छोटी ही अवस्था में होती है। शरीर-रचनाशास्त्रियों का कथन है कि यदि किसी बालक की आँखें २१ वर्ष की अवस्था तक ठीक बनी रहीं तो उनमें पीछे दोष आना उतना सरल नहीं है। जब बालक के स्नायु नरम रहते हैं तभी दोष सरलता से आ जाते हैं।

आँखों की क्षति से बचने के उपाय—बालकों की आँखों को स्वस्थ रखने का सबसे प्रथम उपाय यही है कि उनसे अधिक परिश्रम न कराया जाय। छोटे बालकों से लिखाई-पढ़ाई का काम अधिक न कराना चाहिये। उनकी शिक्षा आँख की अपेक्षा कान के द्वारा अधिक हो। छोटे बालकों को पहले पहल बातचीत द्वारा अपने वातावरण से परिचित कराना चाहिये तथा कथा-कहानियों द्वारा उन्हें अनेक प्रकार के लोगों एवं पशु-पक्षियों के स्वभाव बताना चाहिये। बातचीत के द्वारा बालकों की वाक्शक्ति बढ़ानी चाहिये। छोटे बालकों से जितना कम आँख का काम लिया जाय उतना ही अच्छा है।

बालकों की पुस्तकें मोटे-मोटे अक्षरों में छपी होनी चाहिये। छोटे अक्षरों में छपी पुस्तकें बालकों को कदापि न देनी चाहिये। पढ़ते समय देखना चाहिये कि बालक पुस्तक को आँख के बहुत पास न ले जाय। पुस्तक आँख से १२ इञ्च की दूरी पर रहे।

बालकों के लिखने में भी इसी बात का ध्यान देना चाहिए। एक तो बालकों से अधिक लिखाना ही बुरा है, दूसरे जो कुछ लिखाया जाय वह बड़े-बड़े अक्षरों में। छोटे बालकों से कागज पर लिखाने की अपेक्षा स्लेट पर लिखाना अच्छा है। शिशु-वर्ग के बालकों से खरियामिट्टी से लकड़ी की तख्ती पर लिखाना अत्युत्तम है।

यदि किसी बालक में आँखों का दोष दिखाई पड़े तो उसका उपचार

शीघ्र ही कराना चाहिये। ऐसा न करने से उसकी आँखों का दोष बढ़ता ही जाता है। कितने ही बालक ऐसे होते हैं जिनकी आँखों में दोष रहते हुए भी वर्षों तक उन्हें अथवा अभिभावकों को उसका पता ही नहीं रहता। इस कारण बालक की आँखों की क्षति ही नहीं होती वरन् उसको अनेक प्रकार की शारीरिक बीमारियाँ भी होती हैं। सिर-दर्द, कब्ज (कोष्ठबद्धता), चिड़चिड़ापन, उत्साह-हीनता आदि दोष आँखों की कमजोरी के कारण आ जाते हैं। अतएव अभिभावक और शिक्षकगण जब कभी बालकों को पढ़ते समय आँखों पर जोर लगाते देखें तो उनकी आँखें डाक्टर से जँचवा लें और बालक को चश्मा दे दें।

कान के दोष—बालकों में आँख की क्षति की अपेक्षा कान की क्षति कम होती है। कान के दोष प्रायः जन्मजात और बीमारी के कारण ही होते हैं। पर इन दोषों को प्रारम्भ में ही जान लेना उचित है। कितने ही बालक कान के दोष के कारण स्कूल की शिक्षा से उतना लाभ नहीं उठा पाते जितना स्वस्थ बालक उठाते हैं। स्टैनले हाल की जाँच से पता चला है कि प्रायः ४ प्रतिशत स्कूल के बालकों में कान के दोष होते हैं। यदि ऐसे बालकों का पता पहले से ही लगा लिया जाय तो उनकी शिक्षा-पद्धति में कुछ परिवर्तन करके शिक्षा से अधिक लाभ पहुँचाया जा सकता है। कम सुनने वाले बालकों को आगे की बेंच पर बैठाया जा सकता है तथा उनके लाभ के लिए पढ़ाई की अपेक्षा लिखाई का काम अधिक लिया जा सकता है। यदि ऐसे बालकों के लाभ के लिए शिक्षकगण तख्ते पर पढ़ाने के विषय की मुख्य बातें लिख दें तो उनका बहुत बड़ा लाभ हो।

———

तेरहवाँ प्रकरण

बालकों का प्रत्यक्ष-ज्ञान[1]

प्रत्यक्ष-ज्ञान का स्वरूप

पिछले प्रकरण में हमने इन्द्रियज्ञान के स्वरूप और उसकी शिक्षा के विषय में विचार किया था। अब इन्द्रियज्ञान पर आधारित प्रत्यक्ष-ज्ञान पर विचार करना आवश्यक है। इन्द्रियज्ञान निर्विकल्पक होता है। हमारा प्रथम सविकल्पक ज्ञान प्रत्यक्षज्ञान कहा जाता है। अतएव इस दृष्टि से हमारे समस्त विकसित ज्ञान का आधार प्रत्यक्षज्ञान ही कहा जा सकता है। प्रत्यक्षज्ञान की अभिवृद्धि होने पर ही स्मृति[2], कल्पना[3] तथा विचार का आविर्भाव होता है। पीछे बताया जा चुका है कि प्रौढ़ अवस्था में प्रकारता-रहित इन्द्रिय-ज्ञान होना सम्भव नहीं। हमें जो कुछ भी इन्द्रिय-ज्ञान होता है उसके साथ दूसरे इन्द्रिय-ज्ञानों का सम्मिश्रण रहता है, अर्थात् हमारा ज्ञान वस्तुज्ञान होता है। वस्तुज्ञान का आधार इन्द्रिय-ज्ञान अवश्य है, किन्तु उसमें अनेक इन्द्रियों का कार्य रहता है तथा स्मृति और कल्पना भी अपना कार्य करती है। प्रौढ़ लोगों के ज्ञान में कल्पना और स्मृति का जितना सम्मिश्रण रहता है, उतना सम्मिश्रण बालक के वस्तु-ज्ञान में नहीं होता। हमारा प्रत्यक्ष-ज्ञान हमारे अनुभव के ऊपर निर्भर रहता है।

बालक में प्रत्यक्ष ज्ञान की वृद्धि—नवजात शिशु का ज्ञान प्रत्यक्ष-ज्ञान नहीं होता वरन् संवेदना मात्र रहता है। बालक के मन में अनेक प्रकार की संवेदनाएँ उत्पन्न होती हैं; बालक का मन उन संवेदनाओं को धीरे-धीरे वस्तु-ज्ञान में परिणित करता है। जब बालक पहले-पहल एक घण्टी देखता है तो वह उसे एक चमकता हुआ पदार्थ दिखाई पड़ता है। वह यह नहीं जानता कि यह चमकता हुआ पदार्थ है क्या। बालक उसके पास आने की चेष्टा करता है और उसे छूता है तथा उसे उठाने की चेष्टा करता है। बालक को घण्टी वजन में भारी मालूम पड़ती है। इस प्रकार वह अपनी दो इन्द्रियों से घण्टी का ज्ञान प्राप्त करता है। आँखों से उसने घण्टी के चमकते हुए आकार को जाना, हाथ से उसके आकार और वजन को मालूम किया। अब ये दोनों इन्द्रियज्ञान मिलकर वस्तु-

---

1. Perception. 2. Memory. 3. Imagination.

ज्ञान में परिणित हो जाते हैं। पहले दिन के अनुभव से उसे इतना ही पदार्थ-ज्ञान हुआ।

दूसरे दिन बालक फिर उसी पदार्थ को देखता है। अब वह उसमें से ध्वनि निकलते सुनता है। इस ध्वनि-ज्ञान से बालक का घण्टी का ज्ञान और भी बढ़ जाता है। उसके पुराने स्पर्श-ज्ञान और चक्षु ज्ञान का संबंध इस शब्द-ज्ञान से भी सम्बधित हो जाता है। कुछ दिनों के पश्चात् बालक यह भी जानने लगता है कि उस घण्टी का प्रयोजन क्या है, वह कब बजाई जाती है। इस प्रकार उसके प्रत्यक्ष-ज्ञान की वृद्धि होती है।। जब पीछे बालक इस घण्टी को देखता है तो उसके मन में समस्त पुराने ज्ञान की स्मृति आ जाती है। उस घंटी को देखने से ही उसकी सब प्रकार की योग्यता का ज्ञान उसे हो जाता है। अर्थात् उसका प्रत्यक्ष-ज्ञान उसके तत्कालीन इन्द्रिय-ज्ञान पर ही निर्भर नहीं रहता वरन् उसकी स्मृति भी उसे सहायता देती है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि किसी भी प्रत्यक्ष-ज्ञान में इन्द्रि-ज्ञान मात्र ही कारण नहीं होता। इन्द्रिय-ज्ञान प्रत्यक्ष-ज्ञान का एक आधार मात्र है। हमारा साधारण प्रत्यक्ष-ज्ञान हमारे इन्द्रिय-ज्ञान के अर्थ लगाने की शक्ति पर ही निर्भर रहता है। जिस व्यक्ति में अर्थ लगाने की जितनी शक्ति होती है, उसका प्रत्यक्ष-ज्ञान उतना ही स्पष्ट और अधिक होता है। अर्थात् जिसका अनुभव जितना अधिक होता है, वह उतनी ही जल्दी इन्द्रियों के समक्ष उपस्थित पदार्थ को जान लेता है। प्रत्येक प्रत्यक्ष-ज्ञान में तीन चौथाई हिस्सा अनुमान का रहता है और यह अनुमान हमारे पुराने अनुभव पर निर्भर रहता है। बालक का अनुभव परिमित होता है, अतएव उसका प्रत्यक्ष-ज्ञान भी अधूरा होता है।

बालकों के प्रत्यक्ष ज्ञान की विशेषताएँ

बालकों का प्रत्यक्ष-ज्ञान कई प्रकार से प्रौढ़ व्यक्तियों से भिन्न होता है। इसका एक कारण है उनमें ध्यान की एकाग्रता की कमी। जिस व्यक्ति में जितनी अधिक ध्यान की एकाग्रता होती है वह उतना ही अधिक इन्द्रिय-ज्ञान का अर्थ लगा सकता है। बालक जैसे-जैसे आयु में बढ़ता है वैसे-वैसे उसकी ध्यान को एकाग्र करने की शक्ति बढ़ती जाती है। ध्यान की एकाग्रता भी पुराने अनुभव पर निर्भर रहती है। हम जिस वस्तु का अर्थ नहीं समझ पाते उस पर अपना ध्यान एकाग्र नहीं कर सकते, अर्थात् जैसे-जैसे बालक का अनुभव बढ़ता है, उसके ध्यान की एकाग्रता बढ़ती है और ध्यान की एकाग्रता बढ़ाने पर उसके प्रत्यक्ष-ज्ञान की शक्ति बढ़ती है।

हम कितने पदार्थों को एक साथ देख सकते हैं, कितनी जल्दी देख सकते हैं और कितनी ठीक तरह से देख सकते हैं, इसमें भी व्यक्तिगत भेद होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि प्रौढ़ अवस्थावालों की अपेक्षा बालक कम पदार्थों को एक साथ देख सकता है। उसको देखने में देरी लगती है तथा अनेक बार भ्रम भी हो जाता है। बालक जितनी भूलें करते हैं उतनी प्रौढ़ावस्था के लोग नहीं करते। प्रौढ़ावस्था के लोग दूसरे के विचारों से प्रभावित भी जल्दी नहीं होते; परन्तु बालक वातावरण तथा दूसरे के विचारों से अत्यधिक प्रभावित होते हैं। अतएव जब उनके मन में किसी विशेष प्रकार के विचार चलते रहते हैं तो वे कुछ का कुछ देख लेते हैं। इसलिए हम बालकों के प्रत्यक्ष-ज्ञान पर कभी भरोसा नहीं कर सकते। हमें बालकों को प्रत्यक्ष-ज्ञान की विशेष प्रकार से शिक्षा देनी आवश्यक होती है। बालक की कितनी ही देखी हुई चीजें अनदेखी ही रह जाती हैं। माता-पिता तथा शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि बालक को भलीभाँति वस्तुएँ दिखावें। बालक से उनके विषय में अनेक प्रकार के प्रश्न पूछना चाहिये। इस तरह बालक उन पदार्थों का भले प्रकार से निरीक्षण करेगा और उसकी दृष्टि पदार्थों की विशेषताओं पर जायगी जिन्हें वह अन्यथा नहीं देखता।

कितने बालक यह जानते हैं कि चींटे के कितने पैर होते हैं? पका आम हरा भी होता है और कच्चा आम पीला भी हो सकता है, इस बात की ओर बालक का ध्यान आकर्षित करना जरूरी है। इस तरह विविध साधारण ज्ञान के बारे में जो अनभिज्ञता बालक में रह जाती है वह प्रौढ़ावस्था तक बनी रहती है। वास्तव में हमें बालक में प्रत्येक पदार्थ को भलीभाँति देखने की योग्यता उत्पन्न करनी चाहिये। फ्री-हैंड ड्राइंग करते समय देखा गया है कि न केवल किशोरावस्था के बालक वरन् प्रौढ़ व्यक्ति भी किसी पेड़ की पत्ती का वास्तविक स्वरूप याद नहीं रख पाते। इसी तरह वे बत्तख के पैर की बनावट, कुत्ते के मुँह इत्यादि को स्मरणशक्ति की सहायता से चित्रित नहीं कर पाते। इसका एक मुख्य कारण यह है कि वे उन्हें भलीभाँति देखते ही नहीं। बत्तख के पैर कैसे होते हैं और टिटिहिरी तथा मोर के कैसे? उनके नाखून कहाँ होते हैं और बाल कहाँ, इन सब बातों की ओर ध्यान आकर्षित किये बिना बालक उन्हें नहीं जानता। बालक को हम शहर में घुमाने ले जाते हैं, परन्तु शहर में जाकर बालक शहर के भड़कीले पदार्थों के सिवा किसी विशेष वस्तु को देखकर नहीं आता।

बालक अपने सामने की वस्तु को तब देखे जब उसके सम्बन्ध में उसका ध्यान आकर्षित कराया जाय जिससे बालक उसे भलीभाँति देखे। इतना ही नहीं, माता-पिता को चाहिये कि बालक के किसी देखे हुए पदार्थ के बारे

में वे प्रश्न करें। प्रश्न का उत्तर देते समय बालक अपनी स्मृति से अवश्य काम लेगा; परन्तु जब उसे ज्ञात होगा कि पुरानी देखी हुई वस्तु मुझे याद नहीं, तब वह दूसरी बार किसी नई वस्तु को भलीभाँति सतर्क रहकर देखेगा।

बालक और प्रौढ़ावस्था के व्यक्ति के स्पर्श-ज्ञान में यह भेद होता है कि किसी भी वस्तु को पहचानने में प्रौढ़ावस्थावाले को थोड़े इशारे की जरूरत होती है; किन्तु बालक को अधिक इन्द्रिय-ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। जब कोई बालक पहले-पहल किताब देखता है तो एक-एक अक्षर मिलाकर किताब पढ़ता है, किन्तु हम लोग किताब पढ़ते समय एक-एक अक्षर की ओर अपना ध्यान नहीं देते। हम जिस विषय को पढ़ते रहते हैं उसकी विचार-धारा को समझने की चेष्टा करते हैं और शब्दों की ओर उतना ही ध्यान देते हैं जितना वे अर्थ समझने में सहायक होते हैं, अतएव हम शब्दों के हिज्जे (वर्ण-विन्यास) की ओर ध्यान नहीं देते। अभ्यास द्वारा हम जल्दी-जल्दी पढ़ते जाते हैं। हमारा पढ़ना अधिकतर शुद्ध भी होता है, किन्तु कभी-कभी हम पढ़ने में ऐसी गलती कर जाते हैं जो एक छोटा बालक नहीं करेगा। बालक के पढ़ते समय हमें इस बात पर ध्यान रखना चाहिये कि वह अर्थ के सहारे शब्दों को नहीं पढ़ता किन्तु अक्षरों के सहारे पढ़ता है, अतएव जल्दी-जल्दी नहीं पढ़ सकता है। जब हम उससे पढ़ने मे जल्दी कराते हैं तब वह पढ़ी हुई बात को समझ नहीं पाता। अधिकतर बालक अक्षरों को पहचान कर शब्दों को जानता है और शब्दों को जानने के बाद अर्थ को समझता है। हमारे पढ़ने में इसका उल्टा होता है। हम पहले अर्थ को जानते हैं और उस अर्थ को भलीभाँति समझने के लिए शब्द को पढ़ते हैं। ऐसा होने से हमारा पढ़ना सुगम और सार्थक होता है। अतएव शिक्षकों को चाहिये कि किसी भी पुस्तक को बालकों के पढ़ाने के पहले उसके विषय की चर्चा कर दें; उन्हें पाठ के विषय पर प्रश्नोत्तर भी करना चाहिये। ऐसा करने से बालक का मन स्वयं ही पढ़ने के लिए तैयार हो जायगा। फिर वह अर्थ की सहायता से शब्दों को अच्छी तरह पढ़ सकेगा।

कितने ही अध्यापक श्यामपट पर इस प्रकार लिख देते हैं जिसे छोटे दरजे के बालक नहीं पढ़ सकते। बालक उन शब्दों का गलत हिज्जे याद कर लेता है। कुछ समय के बाद बालक को ऐसा अभ्यास हो जाता है कि वह शब्दों के हिज्जे के ऊपर ध्यान ही नहीं देता। इस प्रकार उसकी एक ऐसी आदत बन जाती है जो उसके जीवन के अनेक कार्य करने में बाधक होती है। हम लोग जब किसी शब्द को देखते हैं तो उसके एक एक अक्षर को नहीं देखते। हम में इतनी शक्ति है कि विषय के प्रसंग को जानकर उसके सहारे शब्दों के वास्तविक स्वरूप को

समझ लेते हैं। किन्तु बालक में यह शक्ति नहीं होती। अतएव बालक के समक्ष जो कुछ लिखा जाय वह स्पष्ट होना चाहिए। शिक्षकों को जल्दीबाजी में श्यामपट पर किसी अक्षर का विकृत रूप न लिखना चाहिए।

बालक के प्रत्यक्ष-ज्ञान के बारे में हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि बालक प्रौढ़ लोगों की अपेक्षा अधिक संवेगित होता है। अतएव उसका प्रत्यक्ष-ज्ञान संवेगों के कारण विकृत हो जाता है; वह कुछ का कुछ देखने लगता है। यदि कोई बालक भय की अवस्था में है और उस दशा में अँधेरे में एक खूँटी पर कोट को टँगा देखे तो वह सोचेगा कि कमरे में कोई भूत खड़ा हुआ है। इसी तरह बालकगण अपनी कल्पना द्वारा अनेक पदार्थ देखा करते हैं और संवेगों के वश में आकर प्रत्यक्ष पदार्थ का कुछ का कुछ अर्थ लगा देते हैं।

बालक का मन जब किसी उद्वेग से प्रभावित हो जाता है तब उससे सम्बन्धित पदार्थ बालक के मस्तिष्क से जल्दी अलग नहीं होता। बालक देर तक उसी के विषय में सोचता रहता है। ऐसी दशा में वह प्रत्यक्ष पदार्थ का अनुभव नहीं करता। वह कल्पना के जगत् में विचरण करने लगता है। उस समय जो कुछ उससे कहा जाता है उसका ज्ञान उसे नहीं रहता। बालक जब एक कक्षा से दूसरी कक्षा में जाते हैं तब कक्षा में उनके आते ही शिक्षक पढ़ाने न लग जायँ। उसे पहले कुछ ऐसा प्रसंग छेड़ना चाहिये, जिससे बालक का मन पाठ की ओर आकर्षित हो। इसके पश्चात् बालक को पाठ पढ़ाना आरम्भ करें। जर्मनी के प्रसिद्ध शिक्षा-वैज्ञानिक हरबार्ट ने पाठ पढ़ाने के पहले प्रस्तावना की उपयोगिता बतलाई है। बालक के ध्यान को प्रत्यक्ष स्थिति पर आकर्षित करने के लिए इसकी आवश्यकता है।

बालकों का आकार, मिक़दार और दूरी का ज्ञान प्रौढ़ लोगों के ज्ञान की अपेक्षा अस्पष्ट रहता है। जैसे-जैसे बालक का अनुभव बढ़ता है वैसे-वैसे उसका यह ज्ञान भी बढ़ता है। इसी तरह बालक का दूरी का ज्ञान भी पहलेपहल अस्पष्ट रहता है और वह अनुभव बढ़ने पर ही बढ़ता है। हम लोग प्रायः पदार्थों के आकार, मिक़दार और दूरी को आँख से देखकर ही जान लेते हैं। परन्तु वास्तव में यह आँख का ही काम नहीं है जिससे हम उन बातों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। पदार्थों के आकार जानने में दूसरी इन्द्रियों की सहायता की भी आवश्यकता होती है, किन्तु कुछ काल के बाद हम आँख से देखकर ही छोटाई और बड़ाई का ज्ञान कर लेते हैं। इसी तरह नवजात अपने हाथ-पैर चलाकर ही पदार्थ की दूरी का ज्ञान प्राप्त करता है। धीरे वह आँखों से यह जानने लगता है कि अमुक पदार्थ कितनी दूर है।

छः महीने के बच्चे के सामने कोई रंगीन पदार्थ लाया जाय तो वह दूर से ही उसे पकड़ने की चेष्टा करेगा। मुट्ठी खोलेगा, बाँधेगा। उसे अभी तक दूरी और दिशा का ज्ञान नहीं हो पाया। किन्तु धीरे-धीरे जब वह कई पदार्थ इस प्रकार पकड़ने की चेष्टा करता है तो यह जान लेता है कि अपने हाथ को कितनी दूर ले जाना चाहिये।

हम रामचन्द्रजी के शिशुकाल की कथा में सुनते कि वे चन्द्रमा को पकड़ना चाहते थे। प्रत्येक बालक को चन्द्रमा पकड़ने की चाह होती है। वह उसे खिलौना समझता है। उसे चन्द्रमा की दूरी का ज्ञान नहीं रहता, अतएव वह अपने पैरों को ऊँचा करके पकड़ने की चेष्टा करता है। इसी तरह बालक को बहुत दूर का पदार्थ नजदीक ही दिखाई देता है।

वास्तव में हमारी आँखें संसार को सामने के एक चित्र के समान चित्रित करती हैं। जिस प्रकार हम चित्र में छोटे पदार्थ को दूर समझते हैं और बड़े पदार्थ को नजदीक, इसी प्रकार आँखों के पट पर चित्रित जगत् की छोटी वस्तु को हम दूर जानते हैं और बड़ी वस्तु को नजदीक। किन्तु कौन वस्तु बड़ी है और कौन छोटी तथा दूरी के कारण कौन सी छोटी दिखाई पड़ती है, इस बात के लिए उक्त पदार्थों के प्राथमिक अनुभव की आवश्यकता है। इसी तरह एक पदार्थ का दूसरे पदार्थ से ढक जाना भी दूरी का बोधक होता है। यदि किसी मकान के सामने एक पेड़ है तो जितने स्थान में पेड़ है उतना मकान का भाग नहीं दिखाई देगा। अतएव जब कभी हम एक पदार्थ को दूसरे से ढँका हुआ पाते हैं तो हम ढँकनेवाले पदार्थ के नजदीक रहने की कल्पना करते हैं और ढके हुए पदार्थ की कल्पना दूर की करते हैं। किन्तु यहाँ पर भी अनुभव की आवश्यकता है। यदि किसी ने पहले मकान का स्वरूप ही नहीं जाना तो उसे यह नहीं जान पड़ेगा कि मकान पेड़ के द्वारा ढाँका गया है। अतएव पेड़ द्वारा ढँके रहने से उसे दूरी का ज्ञान नहीं होगा। बालक इसी स्थिति में है। उसको जगत् का अनुभव तनिक भी नहीं रहता; उसको तो सभी पदार्थ एक ही से दूरी पर दिखाई देते हैं। यदि किसी जन्म से अन्धे की आँखें एकाएक खुल जायँ तो वह भी दूरी के बारे में उसी स्थिति में रहेगा जैसा कि नवजात शिशु। वह पदार्थों की नजदीकी और दूरी को न पहचान सकेगा। उसको सभी पदार्थ एक ही से दूर अथवा नजदीक दिखाई पड़ेंगे। जब तक उसके चक्षु-इन्द्रिय से प्राप्त ज्ञान और दूसरी इन्द्रिय से प्राप्त ज्ञान का सम्बन्ध न हो जायगा, तब तक वह चक्षु-इन्द्रिय के ज्ञान के विषय में बालक के समान ही रहेगा। उसे दूरी के विषय में शिक्षित होना पड़ेगा।

यह दूरी और आकार तथा मिकदार का ज्ञान प्राप्त करने के लिए हमारी क्रियात्मक वृत्तियों की आवश्यकता है। इसके कारण चक्षुज्ञान का सम्बन्ध शिशु की दूसरी इन्द्रिय के ज्ञान से तो हो ही जाता है, साथ ही उसे यह भी मालूम हो जाता है कि किस पदार्थ के दूर रहने के कारण उसे कितना परिश्रम करना पड़ता है। जिस पदार्थ को प्राप्त करने के लिए जितना अधिक चलना-फिरना पड़ता है वह उतना ही दूर समझा जाता है।

जिस प्रकार पदार्थ को देखकर बालक की दूरी का ज्ञान नहीं कर पाता इसी प्रकार ध्वनि से भी उसे दूरी का पता नहीं चलता। वास्तव में हम अपने पुराने ज्ञान के आधार पर ही ध्वनि से यह पता चलाते हैं कि अमुक पदार्थ कितनी दूर है। यदि कहीं तोप का गोला छूटा हो तो हम पुराने अनुभव के आधार पर ही यह कहते हैं कि तोप बड़ी दूर पर छूटी होगी। इसलिए हमें उसकी आवाज कम सुनाई पड़ती है। किन्तु यदि हमारा पुराना अनुभव तोप की आवाज के विषय में कुछ भी न हो तो हम उसकी आवाज सुनकर दूरी का पता कदापि न चला सकेंगे। इसी तरह घण्टे की आवाज कुत्ते के भूँकने की आवाज या मनुष्य की चिल्लाहट इत्यादि की दूरी हम अपने पुराने अनुभव के आधार पर ही स्थिर करते हैं। बालक को इस प्रकार का अनुभव तनिक भी नहीं रहता, अतएव उसकी कर्णेन्द्रिय उसे दूरी जानने में अधिक सहायता नहीं देती। परन्तु अनुभव की वृद्धि होने पर बालक को कर्णेन्द्रिय के द्वारा दूरी का ज्ञान प्राप्त कर लेने की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

भ्रम

प्रत्यक्ष-ज्ञान को प्राप्त करने में सभी को भ्रम होता है, इसी प्रकार बालक को भी होता है। भ्रम की उत्पत्ति दो प्रकार से होती है; एक तो हमारी इन्द्रियों की निर्बलता के कारण और दूसरे अयथार्थ अर्थ लगाने के कारण। हमारी इन्द्रियाँ हमें किस प्रकार धोखा देती हैं, इसका प्रत्यक्ष उदाहरण सिनेमा फिल्म में है। सिनेमा-फिल्म में वास्तव में हमें बहुत सी तसवीरें ही एक के बाद एक दिखलाई जाती हैं, परन्तु हम उन तसवीरों को तसवीर के रूप में नहीं देखते, किन्तु चलते-फिरते आदमियों के रूप में देखते हैं। यहाँ हम अपनी चक्षु-इन्द्रिय की दुर्बलता पाते हैं, उसमें वह शक्ति नहीं कि वास्तविकता और तसवीर में भेद कर सके। इसी तरह कभी-कभी जब कोई चिल्लाहट हमारे सामने से आ रही हो तो हम भ्रम में पड़ जाते हैं। हम सोचने लगते है कि आवाज कहीं पीछे से न आ रही हो।

वास्तव में हम जिन पदार्थों को देखते हैं उनकी जैसी प्रतिमा हमारी आँख की रेटिना पर पड़ती है, उसी तरह का हम उन पदार्थों को नहीं जानते। जिस

पदार्थ को हम चौकोन देखते हैं। वास्तव में उस पदार्थ का आँख के ऊपर जो प्रतिबिम्ब होता है वह चौकोन नहीं होता। हम अपने पुराने अनुभव के आधार पर ही चौकोन पदार्थ को चौकोन कहते हैं। इसी तरह हमारे सामने जब कोई मनुष्य खड़ा होता है तो हम उसका आकार बड़ा देखते हैं, जब दूर वह जाता है तब भी उसका आकार पहले जैसा ही देखते रहते हैं यद्यपि उसके आकार में परिवर्तन होता जाता है। हमारी आँख पर उसका जो प्रतिबिम्ब पड़ता है वह छोटा होता जाता है।

हमारी आँख एक प्रकार के कैमरे के समान है। जैसे कैमरे में दूर का पदार्थ छोटा आता है और नजदीक का बड़ा चित्रित होता है वैसे ही आँख के चित्रपट पर नजदीक का पदार्थ बड़ा चित्रित होता है और दूर का छोटा। किन्तु इस चित्र-भेद को हम ठीक तरह से नहीं जान पाते। यदि किसी बाँस के डण्डे को सीधा खड़ा किया जाय तो वह लम्बा दिखाई देता है; यदि उसे आड़ा कर दिया जाय तो छोटा दिखाई देता है। दो आदमी साथ-साथ जा रहे हों तो जो व्यक्ति एक ही प्रकार का कपड़ा पहने हो वह ऊँचा दिखाई देगा और जो कई प्रकार के कपड़े पहने हो वह छोटा दिखाई देगा। इस तरह हमारी आँखें अनेक प्रकार से धोखा देती हैं, किन्तु हमें अपना पुराना अनुभव ही उस धोखे से बचाता रहता है। शिशुओं को पुराना अनुभव बहुत कम रहता है, इसलिए उन्हें भ्रम से बचने के लिए कोई उपाय ही नहीं रहता।

दूसरे प्रकार का भ्रम बुद्धि-जनित होता है। यह हमारी मानसिक स्थिति के कारण उत्पन्न होता है। यदि हम किसी विशेष विचारधारा में पड़े हुए हैं तो हम उसके अनुकूल ही वास्तविकता का अर्थ लगाते हैं। हम किसी मित्र के आने की आशा कर रहे हैं और किसी दूसरे ही व्यक्ति ने दरवाजा खटखटा दिया तो हम कुछ समय के लिए यही सोच बैठते हैं कि हमारा मित्र आ गया। यदि आप किसी पुस्तक में डाकू की कहानी पढ़ रहे हों और तुरन्त अँधेरे में कुछ रुपये पैसे लेकर अपने स्थान से दूसरी जगह जाने का अवसर पड़े तो एक पेड़ के ठूँठ को भी आप डाकू समझ लेंगे। इसी तरह जिस मनुष्य का मन भूतों की बातों से भरा रहता है वह जुगनू की चमक और पेड़ के पत्तों की खरखराहट को भी भूतों का आगमन समझ लेता है। यहाँ पर अपने मन के विचार और संवेग भ्रम उत्पन्न करने में कारण होते हैं। भय और आशा की अवस्था में मनुष्य कुछ का कुछ देखने लगता है। *

---

* एक बार गत महायुद्ध के समय ब्रिटेन के लोग बड़े संकट में पड़ गये थे। वहाँ के नर-नारी इस भय से त्रस्त हो गये थे कि उनके देश पर जर्मन

बालकों का जीवन उद्वेग से भरा रहता है, अतएव उन्हें ऐसे अनेक भ्रम होते हैं जो हमें नहीं होते। बालकों की कल्पनाशक्ति प्रबल या सजीव होती है, इस कारण वे जिस बात की आशा करते हैं उसको प्रत्यक्ष जगत में देखने लगते हैं। इसी तरह जिस बात से बालक डरता है उसको भी प्रत्यक्ष देखता है। इस बात को हमें बालक के झूठ के विषय में ध्यान में रखना चाहिये। बालक के जीवन में वास्तविक झूठ बहुत कम होता है। वह जिस बात को कहता है वह वास्तव में उसकी प्रत्यक्ष देखी हुई ही होती है। हाँ, यह अवश्य है कि अपने संवेगों के कारण वह अपने इन्द्रिय-ज्ञान का विकृत अर्थ लगाता है। इसी तरह जब बालक राक्षसों या भूतों की कहानी सुनता है तो उसके मन में भय पैदा हो जाता है। ऐसी अवस्था में वह अनेक पदार्थों को राक्षस या भूत के रूप में देखने लगता है। जब बालक को बार-बार भेड़िये, हौवे और मगर की कहानी सुनाई जाती है तो वह अपनी कल्पना के द्वारा तथा भय से उद्विग्न होकर उनको वास्तविक जगत् में चलते-फिरते देखने लगता है। इस प्रकार के भ्रमों का कारण बालक का उद्वेजित मन ही है। ऐसा भ्रम प्रौढ़-वस्था के लोगों को भी हो सकता है, वे उसका निवारण अपने पुराने ज्ञान से कर लेते हैं। परन्तु बालक को इस प्रकार का पुराना ज्ञान नहीं रहता। वह प्रत्येक असम्भव बात को सम्भव रूप में देख सकता है। उसकी कल्पना के लिए यह असम्भव नहीं कि देवता विमान में बैठ कर ऊपर से नीचे उतर आये अथवा देवी पत्थर की मूर्ति से एकाएक स्त्री के रूप में परिणत हो गई। जब बालक को इस प्रकार की कथा सुनाई जाती है तो उसका भ्रम बढ़ जाता है। बालक के ज्ञान की अभिवृद्धि से ही इस प्रकार के भ्रम का निवारण होता है।

निरीक्षण

निरीक्षण का स्वरूप—किसी प्रत्यक्ष पदार्थ को भलीभाँति देखना, उसकी उपयोगिता समझना तथा अपने अन्य पदार्थों के ज्ञान से उसको सम्बद्ध

लोग आक्रमण करेंगे। वे दूसरे देशवालों से सहायता पाने के लिए बहुत उद्विग्न हो उठे थे। इसी समय यह चर्चा चल रही थी कि रूस के सिपाही उनकी मदद के लिए ब्रिटेन में आवेंगे। कुछ लोगों ने एक समय रूस के सिपाहियों को आते देखा। उनके आने की अफवाह इतनी फैली कि हजारों लोग कहने लगे कि रूस के लोग इंगलैण्ड में आ गये हैं। वास्तव में रि[illegible] ऐसी थी कि रूस के लोग इंगलैण्ड में जा ही नहीं सकते थे और सिपाहियों का पहुँचना इंगलैण्डवालों का भ्रम मात्र था।

करना निरीक्षण कहलाता है। निरीक्षण का आधार प्रत्यक्ष-ज्ञान अवश्य है, किन्तु प्रत्यक्ष-ज्ञान के अतिरिक्त निरीक्षण की अवस्था में हम अपनी स्मृति, कल्पना और तर्कशक्ति से भी काम लेते हैं। निरीक्षण करने में हम जितने क्रियमाण होते हैं, उतने सक्रिय हम प्रत्यक्ष-ज्ञान के प्राप्त करने में नहीं होते। निरीक्षण की क्रिया में ध्यान की एकाग्रता और बुद्धि की अर्थ लगाने की शक्ति की परिपक्वता प्रत्यक्षीकरण से अधिक पाई जाती है। जैसे-जैसे मनुष्य का सांसारिक ज्ञान बढ़ता है, उसकी विवेचना-शक्ति बढ़ती है तथा जैसे-जैसे उसकी रुचियों की वृद्धि होती है वैसे-वैसे उसकी निरीक्षण करने की शक्ति का विकास होता है। ध्यान की एकाग्रता रुचि की प्रबलता पर निर्भर रहती है और रुचि की प्रबलता ज्ञान की वृद्धि पर अवलम्बित रहती है। बालक का ज्ञान परिमित रहता है, उसकी रुचियों में किसी प्रकार का विकास नहीं हो पाता, वह देर तक अपने ध्यान को एक जगह पर नहीं लगा पाता। इसलिए स्वभावतः उसकी निरीक्षण करने की शक्ति प्रौढ़ लोगों की तुलना में कम रहती है।

निरीक्षण की शिक्षा—पाठकगण जब बालकों को किसी नये स्थान में ले जावें, अथवा कलाभवन या अजायबघर दिखावें तो उन्हें उपर्युक्त कथन ध्यान में रखना चाहिये। बालक अपने आप कलाभवन या अजायबघर में रक्खी हुई वस्तुओं की खूबी को नहीं समझ सकता। सम्भव है, वह उक्त स्थानों पर रक्खे हुए अनेक विचित्र पदार्थों को देखे ही नहीं। बालक उन्हीं पदार्थों को देख सकता है जो उसे दिखाये जाते हैं तथा जिनके विषय में उससे पहले चर्चा की जाती है और जिनके प्रति उसके मन में रुचि पैदा कर दी जाती है। कितने ही माता-पिता और शिक्षक ऐसे हैं जो बालकों को अनेक नये स्थानों पर तो ले जाते हैं किन्तु उन स्थानों की नई-नई वस्तुओं पर बालक का ध्यान आकर्षित करने की चेष्टा नहीं करते। प्रौढ़ लोगों का यह सोचना कि बालक सदा प्रश्न किया करता है अतएव वह सुयोग्य निरीक्षक है, एक भूल है। वास्तव में बालक के प्रश्न ऊपरी उत्सुकता से भरे हुए रहते हैं; उसके मन में खोज करने की दृढ़ भावना नहीं रहती। इस प्रकार की भावना ज्ञान वृद्धि से प्राप्त होती है। ज्ञान-वृद्धि के पश्चात् ही बालक किसी विचित्र पदार्थ की विचित्रता को समझने योग्य होता है। बालक की बुद्धि का जितना विकास होता है अथवा उसके ज्ञान की वृद्धि होती है उतनी ही उसकी निरीक्षण-शक्ति बढ़ती है।

हम बालक से काम कराकर भी निरीक्षण की शक्ति बढ़ा सकते हैं। किसी वस्तु का निरीक्षण उसके देखने मात्र से नहीं होता। शिशु किसी नये पदार्थ को पाता है तो उसे वह उलटता-पलटता है, पटकता है और इस क्रिया से पदार्थ

पर उसका असर जानने की चेष्टा करता है। किसी बालक को एक घड़ी दे दीजिए। वह पहले-पहल इस घड़ी को देखकर प्रसन्न होगा। उसको हाथ में लेकर वह इधर-उधर दौड़ने लगेगा। थोड़ी देर बाद उसका ध्यान घड़ी की टिक-टिक आवाज पर जायगा। अब बालक घड़ी की टिक-टिक की आवाज का कारण जानने की चेष्टा करेगा, वह उसे उलटेगा-पलटेगा और फिर संभव है जमीन पर पटक दे। इस प्रकार बालक अपनी अनेक क्रियाओं से घड़ी के चिकनेपन, वजन, उसके चिह्नों की बनावट, आवाज तथा दूसरी विशेषताओं से परिचित होता है। जो बालक जितना ही किसी नये पदार्थ को हाथ में लेता और उलटता-पलटता है वह उससे उतना ही परिचित होता है।*

उपर्युक्त सिद्धान्त को ध्यान में रखते हुए आजकल बालकों की निरीक्षण-शक्ति बढ़ाने के लिए अनेक प्रकार के पाठ पढ़ाये जाते हैं और उनसे हाथ से काम कराया जाता है। प्राइमरी कक्षा के बालकों से हाथ से काम कराने का मुख्य उद्देश्य यह नहीं है कि वे रोजी कमाने के किसी धन्धे को सीख जायँ अथवा ऐसा काम करें जिससे उनकी पढ़ाई का खर्च निकल सके; किन्तु हाथ के काम सिखाने का उद्देश्य तो उनकी निरीक्षण-शक्ति को बढ़ाना है। बालक जितना ही हाथ से काम करता है, उसका प्रत्यक्ष-ज्ञान स्पष्ट हो जाता है, उसके

---

* डंभिल महाशय का कथन यहाँ उल्लेखनीय है—

"The chief object of woodwork in schools is not to prepare boys for carpentry as a trade, nor even as a means of accustoming them to use their hands in order, that they may be ready for any kind of manual work in later life, though such benefits do follow and are not to be despised. Woodwork, as well as other forms of handwork, such as paper-folding, cardboard modelling, clay-modelling, and reffia-work is a **method** in education. It involves the great psychological principle of **learning by doing.**"

—**Fundamentals of Psychology, P. 65.**

लड़कों से लकड़ी का काम कराने का मुख्य उद्देश्य उन्हें बढ़ई बनाना नहीं है और न उन्हें किसी प्रकार का हाथ का काम करने के लिए तैयार ही करना है। ये लाभ तो होते ही हैं, पर इस प्रकार के सभी हाथ के कार्य कराने का उद्देश्य बालक के सीखने को स्थायी बनाना है। यह एक शिक्षा-पद्धति है। काम करने ही से बालक किसी बात को भलीभाँति सीख सकता है—यह सिद्धान्त उपर्युक्त शिक्षा-पद्धति में निहित है।

चित्त की एकाग्रता बढ़ती है, स्मरणशक्ति परिपक्व होती है और उसके विचार का विकास होता है। जो बालक किसी प्रान्त का मानचित्र मिट्टी से बनाता है उसे उस प्रान्त की सीमा का भलीभाँति परिचय हो जाता है।

न्यून बुद्धिवाले बालकों से हाथ का काम कराना उनके बुद्धि-विकास के लिए अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ है। बेलजियम के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक इटार्ड ने न्यून बुद्धिवाले बालकों की शिक्षा के लिए एक नई शिक्षा-पद्धति का निर्माण किया है। इस शिक्षा पद्धति को डिक्रोली पद्धति कहते हैं। इस पद्धति में न्यून बुद्धिवाले बालकों को संसार का अनेक प्रकार का ज्ञान स्थूल पदार्थों के द्वारा तथा बालकों से काम कराकर कराया जाता है। यदि बालक को यह सिखाना है कि दो सेर वजन एक सेर से दूना होता है तो उससे दोनों वजनों को उठवाया जायगा। इसी तरह लम्बाई का ज्ञान प्रत्यक्ष नाप करा करके कराया जाता है।

निरीक्षण के प्रकार—निरीक्षण को ग्युमेन ने तीन भेदों में विभाजित किया है—हेतुपूर्ण निरीक्षण[1], अहेतुपूर्ण निरीक्षण[2], हेतुसाधक निरीक्षण[3]।

हम यहाँ तीनों प्रकार के निरीक्षणों की संक्षिप्त विवेचना करेंगे तथा बालक के जीवन में प्रत्येक का स्थान बताने की चेष्टा करेंगे।

हेतुपूर्ण निरीक्षण—हेतुपूर्ण निरीक्षण वह है जिसका कारण विशेष जिज्ञासा होती है। जब हमें किसी विशेष प्रश्न का उत्तर जानने की उत्कण्ठा होती है तो हमारा निरीक्षण हेतुपूर्ण हो जाता है। ऐसी स्थिति में हमारे चित्त की एकाग्रता बढ़ जाती है और हम जो कुछ देखते-सुनते हैं उसका स्मरण ठीक-ठीक रहता है। मान लीजिए, हम किसी कला-भवन में इसलिए जाते हैं कि राजपूत-कला और मुग़ल-कला के भेदों को जानें, तो हमारा कला-भवन के चित्रों का निरीक्षण हेतुपूर्ण कहा जायगा। ऐसी स्थिति में हम दोनों प्रकार की कलाओं की उन विशेषताओं को देखेंगे जो हम अन्यथा न देख पाते। हमें विशेषताएँ याद भी रहेंगी। जब हम बालक को किसी नये स्थान के बारे में बातचीत द्वारा परिचित करा देते हैं और फिर उसे उस स्थान पर ले जाते हैं तो उसका निरीक्षण हेतुपूर्ण हो जाता है। उसके मन में अनेक प्रकार के प्रश्न आते हैं और वह अपने निरीक्षण द्वारा उन प्रश्नों का समाधान करता है।

बालकों की शिक्षा में इसी प्रकार के निरीक्षण का विशेष महत्त्व है। बालकों द्वारा किसी वस्तु का निरीक्षण करने के पहले पाठकों को उनके सामने कुछ प्रश्न रखना चाहिये। जब बालकों के मन में इस प्रकार के प्रश्न उपस्थित रहते हैं तो

1. Purposeful observation. 2. Non-purposive observation.
3. Purposive observation.

उनके ध्यान की एकाग्रता बढ़ जाती है तथा वे अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए पूरी चेष्टा करते हैं। उनकी इन्द्रियाँ पूरी तरह सजग होकर काम करती हैं और वे छोटी-छोटी बातों पर भी ध्यान देते हैं। बालक जो बातें इस प्रकार देखता है उन्हें भलीभाँति स्मरण रख सकता है तथा जो कुछ भी ज्ञान प्राप्त करता है वह उसे इस प्रकार स्पष्ट रहता है कि समय आने पर उसका अच्छी तरह उपयोग कर सके।

अहेतुपूर्ण निरीक्षण—अहेतुपूर्ण निरीक्षण वह है जिसमें निरीक्षक कोई प्रश्न लेकर निरीक्षण का कार्य आरम्भ नहीं करता, वरन् उसे बरबस निरीक्षण करना पड़ता है। निरीक्षित पदार्थ में निरीक्षक की विशेष रुचि नहीं होती, किन्तु निरीक्षण की क्रिया इसलिए होती है कि उसके किये बिना निरीक्षक रह नहीं सकता। मान लीजिए, हम एक कमरे में बैठे हुए कोई किताब पढ़ रहे हैं, पीछे से कोई खड़खड़ाहट की आवाज आई। हमारा मन अब पढ़ाई से उचट जाता है और एकाएक उस आवाज की तरफ जाता है। हम जब तक उस आवाज के कारण को नहीं जान पाते, बेचैन बने रहते हैं। यहाँ हमें निरीक्षण का कार्य बरबस करना पड़ता है। ऐसा निरीक्षण अहेतुपूर्ण कहा जाता है। ऐसे निरीक्षण का जीवन में महत्व अवश्य है। इससे हम अनेक सङ्कटों से बचते हैं। बालक के जीवन में ऐसे निरीक्षण का और भी महत्वपूर्ण स्थान है। जीवन की कितनी ही मौलिक वस्तुओं का ज्ञान बालक इस प्रकार के निरीक्षण से प्राप्त करता है। हम जब बालक को किसी नये स्थान पर ले जाते हैं तो वह यह नहीं जानता कि वह क्या देखने जा रहा है; किन्तु जो हजारों वस्तुएँ उसकी आँखों के सामने आती हैं, उनमें से किसी विशेष वस्तु पर उसकी चमक-दमक या आवाज के कारण उसका ध्यान आकर्षित हो जाता है और वह उसका निरीक्षण करने लग जाता है। इस प्रकार अकस्मात् उसके ज्ञान की वृद्धि होती है। यदि प्रकृति इस प्रकार बालक को निरीक्षण करने के लिए प्रोत्साहित न करती तो वह संसार के अधिक ज्ञान से वञ्चित ही रह जाता।

हेतुसाधक निरीक्षण—तीसरे प्रकार का निरीक्षण हेतुसाधक निरीक्षण है। इसी प्रकार के निरीक्षण में लगा हुआ व्यक्ति किसी प्रश्न को लेकर निरीक्षण का कार्य शुरू नहीं करता, परन्तु वह नई परिस्थितियों के विषय में सदा सतर्क रहता है। निरीक्षण करने के लिए उसकी मानसिक तैयारी काफी रहती है।

मान लीजिए, आप किसी नये देश में भ्रमण कर रहे हैं। भ्रमण करते समय आपके मन में कोई विशेष प्रश्न न होते हुए भी आप नई वस्तुओं

की ओर सदा सतर्क रहते हैं। इस प्रकार आप मनुष्यों के रीति-रिवाज, बोलने के ढंग और देश की विशेषताओं को जान लेते हैं। यह हेतु-साधक निरीक्षण का कार्य है।

एक तरह से देखा जाय तो हेतुपूर्ण निरीक्षण की अपेक्षा हेतुसाधक निरीक्षण अधिक उपयोगी होता है। हेतुपूर्ण निरीक्षण कभी-कभी भ्रमोत्पादक होता है, किन्तु इसकी सम्भावना हेतुसाधक निरीक्षण में नहीं। जब हमारे मन में विशेष प्रकार के प्रश्न रहते हैं तो हम अपने देखे हुए पदार्थ को भी उन्हीं प्रश्नों के अनुकूल पा लेते हैं। किन्तु हमें इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि बालक में हेतुसाधक निरीक्षण करने की शक्ति परिमित रहती है। निरीक्षण के विषय में जब तक बालक की मानसिक तैयारी भलीभाँति नहीं की जाती, उसमें निरीक्षण करने की योग्यता नहीं आती। वही व्यक्ति हेतुसाधक निरीक्षण करने की योग्यता रखता है जिसका संसार का साधारण ज्ञान परिपक्व हो गया है और जो पहले से ही अनेक बार हेतुपूर्ण निरीक्षण कर चुका है। छोटा बालक स्वतन्त्र विचार करने की अवस्था में नहीं रहता। अतएव शिक्षकों या माता-पिताओं को उसके सामने भलीभाँति सोचकर कुछ प्रश्न रखना चाहिए जिसके आधार पर वह किसी वस्तु का निरीक्षण करे। जब पाठक बालक को मच्छर, चींटी या तितली का पाठ पढ़ावें अथवा जब उन्हें खेत में अनेक प्रकार की फूल-पत्तियाँ दिखाने के लिए ले जावें तो पहले से ही बालक को उन वस्तुओं की विशेषताएँ देखने के लिए उनके समक्ष योग्य प्रश्न रक्खें।

बालकों का चित्र-निरीक्षण

बालकों की निरीक्षण-शक्ति बढ़ाने के लिए चित्र दिखाना बहुत ही उपयोगी है। चित्र देखने से न केवल निरीक्षण की शक्ति बढ़ती है किन्तु उससे विचार-शक्ति की भी वृद्धि की जा सकती है। बालक चित्रों को बड़े चाव से देखते हैं। जब हम कोई किताब पढ़ते रहते हैं तो बालक भी हमारे पढ़ने की नकल करना चाहता है और जब उसमें उसे कोई चित्र दिखाई देता है तो वह बहुत प्रसन्न हो जाता है। उसमें वह अनेक वस्तुओं को देखता है और उनके नाम बताने की चेष्टा करता है। चित्र देखकर नाम बताने की शक्ति बहुत छोटी ही अवस्था से हो जाती है। डेढ़ वर्ष तक का बालक चित्र देखकर कोई-कोई वस्तु पहचान लेता है। यह मनोविज्ञान का भारी प्रश्न है कि बालक इतनी छोटी अवस्था में ही वस्तुओं की पहचान कैसे कर लेता है। न तो चित्र की वस्तुओं में वास्तविक वस्तु का रंग-रूप ही होता है और न आकार ही उतना बड़ा होता है।

चित्र की विशेषताओं पर ध्यान—बालक जब चित्र देखता है तो निम्नलिखित बातों पर अपनी आयु के अनुसार कम और अधिक ध्यान देता है—चित्रित वस्तु का खाका, उसका रंग, आकार और उसकी जगह।

सबसे पहले बालक चित्रित वस्तु का खाका पहचानता है। इसके लिए अगर उसे थोड़ा सा भी सहारा मिले तो वह वस्तुओं को बता देगा। दो वर्ष के एक बच्चे के सामने जब यह चित्र |—| लाया गया तो उसने उसे कुर्सी कह दिया। यह बात सच है कि बच्चा इस समय वस्तु का ठीक नाम नहीं कहता, वह उनका जो कुछ अर्थ समझता है उसी के अनुसार उनका नाम कहता है जैसे शान्ति (एक वर्ष ८ माह) ने एक चित्र में बहुत से लोगों को देखकर बाबा, काका आदि कहा; एक बुड्ढी को देखकर बाऊ (दादी) कहा। प्रायः किसी भी चार पैर के जानवर को देखकर वह उसे "तू तू" कहने लगती है। एक बार उसे शेर की तसवीर दिखाई गई तो उसने उसे "म्याउँ म्याउँ" कहा। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि बालक साधारण रेखा के खींचते ही उसका अर्थ तुरन्त लगा लेता है। दो तीन लकीरें खींचिए और वह उतना ही देखकर समझ जायगा कि यह आदमी का चेहरा बन रहा है अथवा फ्राक, जूता, कोट या कुरता का। इस प्रकार की योग्यता दो वर्ष से नीचे तक के बालक में भी पाई जाती है। बालक जब कुछ बड़ा होता है, तो उसमें चित्र की छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देने की शक्ति बढ़ता है, किन्तु कुछ विशेष बातों को बालक बहुत पहले से ही पहचान लेता है। उसके पहचानने के लिए निम्नलिखित प्रयोग किया जा सकता है। बालक को एक ऐसा चित्र दिखाइए जिसमें उसके बाप, माँ और भाई कई अन्य व्यक्तियों के साथ हों। अब बालक से कहिए कि अपनी माँ, बाप या भाई की तसवीर दिखाओ। इस प्रयोग द्वारा पता चला कि १ वर्ष तीन महीने तक का बालक इस प्रकार की पहचान कर लेता है। किन्तु जब उसे किसी ऐसी वस्तु की पहचान करनी होती है जिसको वह भलीभाँति नहीं जानता अथवा जिसे प्रतिदिन नहीं देखता तो पहचान नहीं कर पाता।

रंग—बालक को रंगीन वस्तुओं या रंगों को देखकर बड़ी प्रसन्नता होती है चित्र में रंग जितना ही चटकीला-भड़कीला होता है उतना ही उसे चित्र अच्छा लगता है। कुछ लोगों का यह कहना कि बालक रंग के अन्धे होते हैं, ठीक नहीं। वास्तव में बालक को रंगों के विभिन्न नामों का ज्ञान नहीं होता, इससे वह रंगों का ठीक नाम नहीं बता पाता। दूसरे जब रंगों में थोड़े-थोड़े भेद होते हैं तो उन भेदों को बालक नहीं पहचान पाता। तीन वर्ष की आयु में बालक रंगों का नाम सीखता है पर उनका प्रयोग ठीक-ठीक नहीं करता।

बालक प्रायः ४ वर्ष की अवस्था में रंगों के ठीक नाम लेना सीख जाता है। बालक रंगों से अधिक आकृष्ट होता है पर वस्तुओं के पहचानने में उसके लिए रंगों का अधिक महत्त्व नहीं है। गेंद का रंग चाहे हरा हो, चाहे लाल अथवा काला, उसके लिये एक ही बात है इसी तरह गुलाब का फूल लाल या पीला कुछ भी हो सकता है। तसवीर में यदि किसी वस्तु का रंग गलत हो तो भी बालक तसवीर में उस वस्तु की पहचान कर सकता है। इस बात की जाँच हम बालक को सूचीपत्र या समाचारपत्रों की तसवीरें दिखाकर—जो सफेद या काले ही रंग की रहती हैं—कर सकते हैं। फोटोग्राफ में से भी बालक तसवीर को पहचान लेता है।

आकार—तसवीर में चित्रित वस्तु छोटे आकार की होती है किन्तु बालक को यह छोटा आकार वस्तु के पहचानने में बाधा नहीं देता। इसका एक कारण यह हो सकता है कि वास्तव में हमारी दृष्टिगोचर वस्तु भिन्न-भिन्न आकार और दूरी के अनुसार हमारी रेटिना पर चित्रित होती है। जब हम अधिक दूरी पर किसी आदमी को देखते हैं तो छोटा दिखाई देता है किन्तु यह बात हमें उस आदमी के पहचाने में बाधा नहीं देती। ऐसे ही बालक को वस्तुओं के पहचानने में उसका बड़ा या छोटापन बाधा नहीं देता। किन्तु बालक चित्र की वस्तुओं की आपस की छुटाई-बड़ाई पर विशेष ध्यान देता है। यदि चित्र में कुत्ते और बिल्ली दोनों का आकार बराबर बना दिया जाय और यदि बालक ने छोटे कुत्ते को देखा नहीं है तो उसे भ्रम हो जायगा कि वास्तव में यह कुत्ते की तसवीर है या नहीं।

चित्रित वस्तु की जगह—बालक को यदि चित्र उल्टा करके दिखाया जाय तो भी उसको पहचान लेगा। जब पाँच-सात बालक किसी तसवीर को कई ओर से देख रहे हों तो सभी उसके दृश्य से आनन्दित होते हैं, उसमें चित्रित वस्तु को समझ सकते हैं। एक साढ़े तीन वर्ष के बालक को गाड़ी की तसवीर उल्टी करके दिखाई गई तो उसने उसे झट पहचान लिया कि वह गाड़ी है। प्रश्न करने पर उसके पहिए और छत को ठीक बताया।

कला-ज्ञान—बालक को कला-ज्ञान बहुत धीरे-धीरे होता है। यह बालक के वतावरण पर निर्भर रहता है। किन्तु कला की कुछ बातों को बालक पहले से ही पहचान लेता है। जैसे टेबुल चौकोन होता है, किन्तु चित्र में उसके दो कोने छोटे किये जाते हैं और दो बड़े। इसी तरह थाली का चित्र, जो गोल होता है, अण्डाकार बनाया जाता है।

संकलित चित्रों की पहचान—बालक जैसे-जैसे आयु में बढ़ता है और

उसके अनुभव की वृद्धि होती है, वैसे-वैसे वह अकेली तसवीरों में रुचि न रख-कर कई वस्तुओं की संकलित तसवीरों में रुचि रखने लगता है। पर जिस समय बालक का शब्द-ज्ञान या अर्थ लगाने की शक्ति बढ़ जाती है उसी समय वह अकेली वस्तु के चित्र में रुचि न रखकर कई वस्तुओं को दर्शानेवाले चित्र में रुचि दिखाता है और उनके आपस के सम्बन्ध की समझने को चेष्टा करता है। देखा गया है कि बालक संकलित पदार्थों के चित्र का अर्थ भिन्न-भिन्न अव-स्थाओं में भिन्न-भिन्न लगाता है। इससे उसके बुद्धि-विकास का पता चलता है।

बालक को चित्र-निरीक्षण की अवस्थाएँ—मनोवैज्ञानिकों ने बालक की चित्र-निरीक्षण की तीन अवस्थाएँ मानी हैं—वस्तुज्ञान, क्रियाज्ञान और सम्बन्धज्ञान।

वस्तुओं की अवस्था—दो वर्ष का बालक चित्र में से वस्तु को पहचान सकता है, किन्तु जब किसी चित्र में बहुत सी बातें दिखाई जाती हैं तो उसके ध्यान को अनेक पदार्थ आकर्षित नहीं करते। बालक इस प्रकार के चित्रों का स्वतन्त्र वर्णन बहुत ही कम कर सकता है; किन्तु प्रश्न पूछने पर वह अनेक उत्तर दे सकता है। दो वर्ष की अवस्था तक बालक वस्तुओं का नाम ही बता सकता है, उनका काम नहीं बता सकता। इस अवस्था में बालक बहुत देर तक किसी एक तसवीर को नहीं देख सकता, वह बहुत सी तसवीरों को देखना चाहता है।

क्रियाज्ञान की अवस्था—जब ढाई वर्ष के बालक में स्वतन्त्र वस्तुओं के नाम बताने की शक्ति बढ़ जाती है और साथ-साथ उसका क्रियाज्ञान भी बढ़ जाता है, वह पदार्थों को उनके नाम से ही नहीं वर्णन करता वरन् उसके साथ उनकी क्रियाओं का भी वर्णन करने लगता है। चित्र में कुत्ते के मुँह में रोटी का टुकड़ा देखकर बालक कहेगा कि "कुत्ता रोटी खा रहा है।" दो वर्ष का बालक केवल "कुत्ता और रोटी" कहेगा। तीन वर्ष की अवस्था तक पहुँचते ही बालक उसकी क्रिया भी जोड़ देता है। किन्तु इस अवस्था तक बालक को तसवीरों की अनेक वस्तुओं का आपस के सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता। यदि किसी तसवीर में पाँच-सात वस्तुएँ हों तो वह दो-तीन को ही एक साथ देख सकता है। अतएव पूरी तसवीर का अर्थ लगाना उसकी बुद्धि के लिए कठिन कार्य है।

सम्बन्ध-ज्ञान की अवस्था—साढ़े चार वर्ष से पाँच वर्ष तक के बालक में सम्बन्ध-ज्ञान का विकास होता है। यदि किसी कहानी को बालक ने सुना है और फिर उसे चित्र में चित्रित देखा है तो चित्र को देखने से उसे उस कहानी

की याद आ जायगी और उस कहानी को वह कह सकेगा; किन्तु यदि तसवीरों को देखकर स्वतन्त्र कहानी के रचने की योग्यता का विकास हम देखना चाहें तो इसे आठ-दस वर्ष के बालक में ही पावेंगे। एक बालक को उसकी भिन्न-भिन्न अवस्था में एक ऐसी तसवीर दिखाई गई जिसमें एक स्त्री अपने हाथ में एक बच्चा लिये हुए थी। जब बालक १ वर्ष ९ महीने का था तो उसने उस तसवीर को देखकर कहा "माँ और मुन्ना।" जब वही तसवीर सवा तीन वर्ष की उम्र में दिखाई गई तो उसने कहा "माँ खड़ी है और मुन्ना को बाहर घूमने ले जा रही है।" साढ़े चार वर्ष की अवस्था में इसी बालक ने कहा कि "यह माँ है" और जब उससे कहा गया कि यह माँ तो नहीं है तो उसने इस प्रश्न के उत्तर में कहा "यह हम लोगों की पड़ोसिन है।

बुद्धि-माप की परीक्षा के प्रसिद्ध आविष्कारक फ्रान्स के डाक्टर बिने ने श्रमजीवो बालकों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के ज्ञान की भिन्न-भिन्न आयु बताई है, जो यहाँ दी जाती है।

आयु	ज्ञान
३ वर्ष	चित्र में वस्तुओं का नाम बताना (वस्तुज्ञान की अवस्था)
७ वर्ष	उनकी क्रिया का वर्णन करना (क्रियाज्ञान की अवस्था)
१२ वर्ष	पूरे चित्र का समझना (सम्बन्ध-ज्ञान की अवस्था)

बोअर टाग महाशय के प्रयोग से पता चला है कि उपर्युक्त ज्ञान की अवस्था ३ साल, ६ साल और ९ साल में होती है। ९ साल की अवस्था में बालक प्रश्न द्वारा चित्र को समझ सकता है; किन्तु १२ साल की अवस्था में वह चित्र का स्वतन्त्र अर्थ लगा सकता है। बोअर टाग महाशय ने सब प्रकार के बालकों की औसत उम्र बताई है। बिने ने केवल श्रमजीवी बालकों का निरीक्षण किया था।

बालकों को चित्र दिखाने की रीति—जिस प्रकार बालक स्वतन्त्र बुद्धि से थोड़ी ही क्रियाएँ कर सकता है, इसी प्रकार वह स्वतन्त्र रूप से चित्र भी नहीं देख सकता। इसके लिए बालक को प्रौढ़ लोगों की सहायता की आवश्यकता होती है। बालक के हाथ में चित्र दे देने से न तो वह उसे भली भाँति देख पायेगा और न वह उसे रुचिकर लगेगा। बालक को चित्र दिखाने की प्रक्रिया इस प्रकार है।

(१) चित्र दिखाकर बालक से पूछा जाय कि चित्र में क्या देख रहे हो।

(२) फिर उसको चित्र की एक-एक चीज पर प्रश्न पूछा जाय।

(३) अब उससे उन चीजों के विषय में प्रश्न पूछा जाय जो चित्र में तो

नहीं हैं; किन्तु चित्र में उपस्थित पदार्थ से संकेतित होती हैं, जैसे कि चित्र के लोगों की क्रियाएँ और पदार्थों के रंग।

(४) बालक से चित्र के विषय में कल्पना द्वारा वर्णन करने को कहा जाय। वह किसी भी चित्र के अनेक अर्थ लगा सकता है। फिर उन कल्पनाओं को प्रकट करने के लिए कहा जाय। इस प्रकार चित्र देखने से बालक की निरीक्षण तथा स्मरण-शक्ति की वृद्धि होती है। बालक को लगातार चित्र न दिखाकर बीच-बीच में चित्र हटा लेना चाहिए और उस दशा में बालक से पूछना चाहिये कि तुमने क्या देखा।

बाजू में दिया हुआ अभिमन्यु और सुभद्रा का चित्र एक साढ़े तीन वर्ष की बालिका को दिखाया गया। उस चित्र का स्वतन्त्र वर्णन और प्रश्नोत्तर द्वारा वर्णन निम्नलिखित था—

चित्र का स्वतन्त्र वर्णन

यह रानी (माँ) है। यह भगवान् हैं। रानी पैजना पहने हैं और कड्डोरा (करधनी) पहने हैं। चूड़ियाँ पहने हैं। धोती पहने हैं।

प्रश्नोत्तर द्वारा वर्णन

रानी क्या कर रही है ?—बैठी है।

और क्या कर रही है ? गिलास दे रही है।

गिलास किसको दे रही है ?—भगवान् को दे रही है। भगवान् गिलास को नहीं ले रहे हैं।

रानी कहाँ देख रही है ?—भगवान् की तरफ देख रही है।

भगवान् क्या पहने हैं ?—माला पहने हैं।

पाँव में क्या पहने हैं ?—चप्पल पहने हैं।

भगवान् सिर पर क्या लगाये हैं ?—टोप लगाए हैं।

रानी और भगवान् कहाँ हैं ?—घर में बैठे हैं।

रानी भगवान् से क्या कह रही है ?—मत जाओ।

यह क्या है ? (झण्डे की ओर बताकर)—झण्डा है।

उसके नीचे क्या है ?—फूल है।

फूल किसके ऊपर है ?—मन्दिर के ऊपर।

मन्दिर में कौन है ?—आदमी हैं और शान्ति और बच्चा और भगवान् हैं।

उपर्युक्त प्रयोग में हम देखते हैं कि बालिका ने स्वतन्त्र वर्णन में उन्हीं चीजों का नाम लिया जो उसे प्रिय हैं, अथवा जिन्हें वह लेना चाहती थी। प्रश्नोत्तर

द्वारा वर्णन करने में उसने बहुत सी चित्र की बातें बताईं। उसने अपनी कल्पना-शक्ति से काम लिया, इसमें उसने कुछ भूलें भी कीं। पर उसका निरीक्षण अब अधिक सार्थक हो गया।

प्रयोगों द्वारा देखा गया है कि जिस बालक को चित्र निरीक्षण का अभ्यास रहता है, वह अपने आप ही बहुत से प्रश्न दूसरों से पूछने लगता है। चित्र को देखते ही उसके मन में अनेक विचार उठने लगते हैं और चित्र के पदार्थों के तथा उसमें अंकित पात्रों के हाव-भावों के अनेक अर्थ वह लगाने लगता है। जब बालक इस प्रकार चित्र देखने में चतुर हो जाय तब हमें समझना चाहिये कि बालक का चित्र निरीक्षण सार्थक हुआ।

चित्र दिखाने में सावधानी—बालक को चित्र दिखाते समय कुछ विशेष बातों पर हमें ध्यान देना चाहिए। छोटे बालकों को कोई चित्र अधिक देर तक न दिखाया जाय। उनके ध्यान व रुचि के अनुसार ही उन्हें चित्र दिखाया जाना चाहिये। दूसरे, बालक जितना छोटा हो उतना ही सरल चित्र उसे दिखाया जाना चाहिये। उसमें बहुत सी वस्तुएँ न दिखाई गई हों। इससे बालकों में ध्यान की एकाग्रता न आकर उसकी कमी होती है। तीसरे, बहुत से चित्र बालकों को एक साथ नहीं दिखाने चाहिये। इससे बालक किसी चित्र का निरीक्षण भली तरह से नहीं कर पाता तथा चित्रों की आकर्षकता ही चली जाती है। चौथे, बालकों का चित्र देखना स्वयंसाध्य कार्य न मान लेना चाहिये। चित्र-निरीक्षण बाल-मनोविकास व बालकों की शिक्षा का साधनमात्र है।

चित्र निरीक्षण और शिक्षा—ऊपर कहा जा चुका है कि चित्र-निरीक्षण से बालक का प्रत्यक्ष-ज्ञान, स्मृति, कल्पना और विचार-शक्ति की वृद्धि होती है। साथ ही साथ बालक का भाषा-ज्ञान विकसित होता है। जब किसी पाठ में चित्र का संयोग हो जाता है, तो वह पाठ बालक को रोचक बन जाता है। पाठकों को चाहिये कि वे, जहाँ तक संभव हो, छोटे बालकों को पढ़ाते समय चित्रों का प्रयोग अवश्य करें। एक चित्र को लेकर शिक्षकगण भाषा का सुन्दर आदर्श-पाठ दे सकते हैं।

बाजू में दिया हुआ चित्र एक दस वर्ष के बालक को दिखाया गया। चित्र पर निम्नलिखित प्रश्नोत्तर हुआ—

यह चित्र कैसा है?—बहुत अच्छा है।

यह किस स्थान का चित्र है? —राजसभा का।

यह तुमने कैसे जाना?—इसमें राजा लोग, दरबारी, सेनापति तथा सरदार लोग बैठे हैं।

यह कैसे जाना गया ?—राजमुकुट से राजा जाना गया; बाकी सेनापति और सरदार हैं।

और किन बातों से जाना जा सकता है कि यह राजसभा है ?—सबके लिए निश्चित स्थान है।

(इसके बाद चित्र का नाम 'दूत श्रीकृष्ण' दिखाया गया। इस बालक ने कृष्ण की कथा सुनी थी जिसमें वे पाण्डवों के दूत बनकर दुर्योधन के यहाँ गये थे।)

यहाँ श्रीकृष्ण किस लिए आये हैं ?—दुर्योधन को समझाने के लिये दूत बनकर आये हैं।

चित्र में श्रीकृष्ण कौन हैं ?—मोर-मुकुटवाले श्रीकृष्ण हैं।

और उनकी क्या पहचान है ?—खड़े होकर कुछ कहते हुए दिखाई दे रहे हैं।

दुर्योधन कौन है ?—वह हाथ में तलवार लेकर बाईं ओर खड़ा है।

यह कैसे जाना कि यही दुर्योधन है ?—वह राजा का पहनावा पहने है, सिर पर मुकुट है। श्रीकृष्ण उसी से बात करने गये थे। इस चित्र में उसी से बात कर रहे हैं।

उसके भाव कैसे हैं ?—वह क्रोधित-सा दीख रहा है।

दुर्योधन क्या कर रहा है ?—अपने दरबारियों से श्रीकृष्ण को मारने को या पकड़ने को कह रहा है।

कृष्ण के पास आसन पर बैठा आदमी कौन है ?—एक सेनापति है।

उसके भाव कैसे हैं ?—दुर्योधन की बात उसे अच्छी नहीं लगती।

यह कैसे जाना ?—वह दूसरी ओर देख रहा है।

दुर्योधन के पीछे कौन बैठा है ?—भीष्म पितामह।

कैसे जाना ?—उनकी आकृति से, बुड्ढे हैं, दाढ़ी बढ़ी है।

कृष्ण अपने कामों में सफल होंगे या नहीं ?—नहीं, क्योंकि दुर्योधन हठी था; वह किसी की बात नहीं मानता था।

दुर्योधन कृष्ण को कैद करने में सफल होगा या नहीं ?—नहीं।

क्यों नहीं ?—उसे सब लोग धिक्कारेंगे।

इस प्रश्नोत्तर में बालक को चित्र का भलीभाँति निरीक्षण ही नहीं करना पड़ा, बल्कि उसे अपनी कल्पना-शक्ति और विचार से भी काम लेना पड़ा। इस तरह पाठकगण किसी भी चित्र को बालकों के लिए सार्थक बना सकते हैं।

चौदहवाँ प्रकरण

स्मृति

स्मृति का मनोविकास में स्थान—प्राणी का जीवन-विकास दो प्रकार की प्रवृत्तियों से होता है—एक तो आत्म-प्रकाशन की प्रवृत्ति से और दूसरे अपने अनुभवों को सञ्चित करने की प्रवृत्ति से। प्राणियों का पुराना अनुभव स्मृति के रूप में सञ्चित होता है। इस सञ्चित अनुभव के आधार पर ही वह संसार में उन्नति करता है। प्राणी के पुराने अनुभव आत्म-प्रकाशन में अनेक प्रकार से सहायता पहुँचाते हैं। जो प्राणी जितना ही अपनी स्मृति से लाभ उठा सकता है, वह उतना ही उन्नतिशील होता है। स्मृति ही कल्पना और विचार की आधार होती है। मनुष्य विचारशील प्राणी कहा गया है, किन्तु स्मृति के अभाव में उसका विचार करना असम्भव है।

स्मृति का आधार—जब हम किसी पदार्थ का अनुभव करते हैं तो वह अनुभव संस्कार के रूप में हमारे मस्तिष्क में स्थिर हो जाता है। इन संस्कारों के आधार पर ही हम अनुभवों के चित्र मानस-पटल पर खींच सकते हैं। एक प्रकार से देखा जाय तो प्रत्येक प्राणी में कुछ न कुछ स्मरण करने की शक्ति रहती है; किन्तु मनुष्य में यह विशेषता है कि उसकी स्मरणशक्ति दूसरे प्राणियों से बढ़ी-चढ़ी और स्पष्ट होती है। इसका एक कारण यह है कि मनुष्य की कल्पनाशक्ति प्रवीण होती है और वह अपनी कल्पना को शब्दों द्वारा स्थिर कर सकता है। मनुष्य में भाषाज्ञान प्राप्त करने की शक्ति दूसरे प्राणी से अधिक है, जिसके कारण उसका सब प्रकार का ज्ञान बढ़ जाता है।

किसी अनुभव के स्मरण करने के लिये हमें तीन बातों की आवश्यकता होती है—अनुभव का मन में स्थिर रहना, उसका पुनः मानस-पटल पर चित्रित होना और उसका अपने पुराने अनुभव के रूप में पहचान में आना; अर्थात् धारणा[1] पुनश्चेतना[2] और पहचान[3]। यहाँ हम स्मृति के इन तीनों अंगों पर क्रमशः विचार करेंगे।

धारणा

अनेक मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि मनुष्य की धारणा-शक्ति उसके

---

1. Retention. 2, Recall. 3. Recognition.

मस्तिष्क की बनावट के ऊपर निर्भर है। जिस प्रकार मनुष्यों के मस्तिष्कों की बनावट में भेद होता है इसी प्रकार उसकी धारणा-शक्ति में भेद होता है। ये भेद जन्म से ही रहते हैं। इस जन्मजात धारणाशक्ति का बढ़ाया जाना संभव नहीं। मनुष्यों के मस्तिष्क में ऐसे भेद भी हैं जिनके कारण वे किसी अनुभव को देर तक स्मरण किये रहते हैं अथवा तुरन्त भूल जाते हैं। कोई-कोई व्यक्ति किसी नई बात को जल्दी याद कर लेते हैं किन्तु वे उसे उतनी ही जल्दी भूल जाते हैं और कई याद करने में अधिक समय लगाते हैं; परन्तु उनका याद किया हुआ विषय उनकी स्मृति में बहुत दिनों तक बना रहता है।

धारणाशक्ति की वृद्धि बालक की अवस्था की वृद्धि के साथ-साथ होती है। यह शक्ति तेरह वर्ष की अवस्था तक धीरे-धीरे बढ़ती है। तेरह से सोलह वर्ष की अवस्था के बीच इस शक्ति की वृद्धि का वेग बढ़ जाता है और सोलह से पचीस वर्ष की अवस्था तक फिर वह धीरे-धीरे बढ़ती रहती है। इसके उपरान्त उसमें कोई उन्नति नहीं होती।

बालक की धारणाशक्ति की एक विशेषता है जिसे शिक्षकों या अभिभावकों को सदा ध्यान में रखना चाहिये। बालक के मन पर जो संस्कार भलीभाँति अङ्कित हो जाते हैं वे बहुत दिनों तक ठहरते हैं। जिस प्रकार कच्चे घड़े पर बनाया हुआ चित्र सदा अङ्कित रहता है उसी तरह बालक जो कुछ बचपन में सीखता है वह उसे जीवन भर काम देता है। उसके लड़कपन के संस्कार उसके स्मृतिपटल से लुप्त नहीं होते। किन्तु बालक उतनी बातें स्मरण नहीं रख पाता, जितनी बातें प्रौढ़ अवस्था के लोग रख पाते हैं। बालक में तुरन्त की बातें स्मरण रखने की शक्ति प्रौढ़ अवस्था के व्यक्तियों से कम होती है। उसमें ध्यान की एकाग्रता की शक्ति कम होती है। अतएव वह तुरन्त के अनुभवों को भूल जाता है। किन्तु जिस अनुभव में उसकी रुचि होती है वह सदा के लिए उसके जीवन का साथी बन जाता है।

प्रौढ़ अवस्था के लोग किसी भी बात को रटकर याद नहीं कर पाते। बालकों में रटने की शक्ति प्रौढ़ अवस्थावालों से कहीं अधिक होती है। अतएव जिन विषयों में रटने का काम अधिक होता है वे बालक को बचपन में सिखाना चाहिये। बालक जितनी सुगमता से भाषा सीखता है, उतनी सुगमता से या जल्दी प्रौढ़ अवस्था के लोग नहीं सीख सकते। किसी भी नई भाषा का सीखा जाना किशोर अवस्था के उपरान्त कठिन है। अतएव नई भाषा का सीखना इसी अवस्था में अथवा इसके पूर्व होना चाहिये।

किसी भी संस्कार का स्मृति में स्थिर रहना निम्नलिखित चार बातों पर

निर्भर रहता है। इन चार बातों के प्रभाव को जानना बालक की शिक्षा के लिए परम आवश्यक है।

(१) अनुभव का समीप काल में होना।

(२) अनुभव का बार-बार होना।

(३) अनुभव का रुचिकर होना।

(४) अनेक अनुभवों से सम्बन्धित होना।

समीपता[1], सघनता[2], रोचकता[3] और सम्बन्ध[4] ये चार बातें किसी भी अनुभव के संस्कार को मन में स्थिर रखने के लिए आवश्यक हैं। अब हम क्रम से एक-एक का वर्णन करेंगे।

समीपता—जो संस्कार जितना ही समीप काल में मन पर पड़ा हो वह उतना ही सजीव होता है। धारणाशक्ति का यह साधारण नियम है कि अधिक काल व्यतीत होने पर उससे पुराने संस्कार अपने आप लुप्त हो जाते हैं। यदि ऐसा न होता तो हमारे सभी पुराने संस्कार ऐसे सजीव रहते जैसे कि तुरन्त के संस्कार। इससे हमारे जीवन में स्मृति की उपयोगिता बहुत ही घट जाती। हमें बहुत सी निरर्थक बातों की याद बनी रहती और जब हमें किसी पुराने मौलिक अनुभव को ढूँढ़ने की आवश्यकता होती तो हमें स्मृति-पटल पर लिखी हुई अनेक बातों को पढ़ना पड़ता। जिस प्रकार हमारे पुराने पत्र कुछ काल के बाद बेकार हो जाते हैं और हम अपना कमरा साफ़ करते समय उन्हें फेंक देते हैं, इसी प्रकार हमारी धारणाशक्ति भी उस घटना को, जो हमारे उपयोग में बार-बार नहीं आती, भुला देती है। हम सभी अपने बालपन के अनेक अनुभवों को भूल गये हैं। बालक प्रौढ़ लोगों की अपेक्षा और भी अधिक भूलता है। वह किसी अनुभव की मौलिकता को नहीं समझता अतएव उसे तुरन्त के पैदा हुए अनुभव का विस्मृत हो जाना स्वाभाविक है।

सघनता—जो संस्कार बार-बार बालक के मन पर पड़ते हैं वे उसकी स्मृति पर एक ही बार होनेवाले संस्कारों की अपेक्षा अधिक देर तक ठहरते हैं। जिस पाठ को हम बालक को याद करवाना चाहते हैं उसे हमें कई बार दुहरवाना चाहिये*। किसी पाठ को दुहराने में बालक के मन पर उसके संस्कार

---

1. Recency. 2. Frequency. 3. Interest. 4. Association.

*यहाँ तीन प्रश्नों का एक ही उत्तरवाली किंवदन्ती को स्मरण कराना अनावश्यक न होगा। किसी व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति से प्रश्न किया—"मेरे इन तीन प्रश्नों का एक ही उत्तर दो—घोड़ा क्यों अड़ा? पान क्यों सड़ा? विद्या क्यों भूली?" तीनों का एक ही उत्तर है 'फेरा नहीं'।

दृढ़ हो जाते हैं। पुराने समय में, जब पुस्तकों की कमी थी और जब किसी भी विद्या का लाभ उठाने के लिए मनुष्य को अपनी स्मृति के भरोसे रहना पड़ता था, गुरु लोग मौलिक बातें सूत्रों, कारिकाओं या श्लोकों के रूप में बालकों को रटा दिया करते थे। इन सूत्रों, कारिकाओं और श्लोकों का पारायण प्रतिदिन बालक किया करते थे जिससे वे विस्मृत न हो जायँ। पुस्तकों की वृद्धि के कारण अब इस तरह की शिक्षा-प्रणाली की उपयोगिता कम हो गई है; किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि हम मन में बिना दुहराये किसी बात को देर तक स्मरण रख सकते हैं। अब रटने की प्रथा तो जाती रही, किन्तु किसी दूसरे तरह से पाठ को दुहराने की आवश्यकता में कोई सन्देह नहीं करता। हम जिस विषय के बारे में बार-बार चिन्तन किया करते हैं वही हमारे स्मृति-पटल पर ठीक-ठीक अङ्कित रहता है। पढ़ने-लिखने में होशियार बालक अपने पढ़ने-लिखने की बातें मन में दुहराया करता है और खेल-कूद में होशियार खेल-कूद की बातों को दुहराया करता है।

रोचकता—अनुभव की रोचकता या प्रियता एक तीसरा कारण उसके स्मृति में स्थिर रहने का है। जिस व्यक्ति को जिस बात में अधिक रुचि रहती है, उसे वह बात याद रह जाती है, दूसरी बातों को वह भूल जाता है। हमारी स्मृति हमारे स्वार्थों के अनुकूल होती है। यदि हमारी स्मृति हमारे स्वार्थों के साधन में सहायता न दे तो उसकी उपयोगिता ही जाती रहे। इस बात को हमें बालक को शिक्षा देते समय सदा ध्यान में रखना चाहिये। माता-पिता तथा शिक्षकों का यह कर्तव्य है कि बालकों की रुचियों को समझें और उन्हें ध्यान में रखकर बालकों को पाठ पढ़ावें। किसी बात को बरबस बालक के मन में ठूँस देने से वह उसे याद न रहेगी। बालक की स्मृति एक श्यामपट अथवा मोम की तख्ती के समान नहीं है जिस पर यदि कोई दाग लगा दिया जाय तो वह उस पर तब तक ठहरा रहेगा, जब तक उसे कोई मिटा न दे। स्मरणशक्ति एक सजीव पदार्थ है। पहले तो वह अरुचिकर बातों को ग्रहण ही नहीं करती, यदि किसी तरह ग्रहण भी कर ले तो तुरन्त ही उन्हें भुला देती है।

बालक को पाठ पढ़ाते समय शिक्षक उस पाठ को रोचक बनाने के अनेक उपायों को सोचे। साधारणतः प्रत्येक बालक की रुचि खेल-कूद, चंचलता और चमक-दमक में होती है। वह सूक्ष्म की जगह स्थूल बातों को जानने में अधिक रुचि रखता है। अतएव शिक्षक अपने पाठ को चित्रों और मैजिक लैन्टर्न द्वारा वस्तुएँ दिखाकर तथा अभिनय द्वारा रुचिकर बनावे। जो

किसी पाठ को बालकों की स्मृति पर अङ्कित करने के लिए रटने मात्र पर ही भरोसा करता है वह बालकों का बड़ा अनर्थ करता है*। इस तरह से उनकी स्मरणशक्ति का ह्रास होता है और उनकी स्वतन्त्र सोचने की शक्ति नष्ट हो जाती है। स्वतन्त्र सोचने के लिए स्मरणशक्ति की बड़ी आवश्यकता पड़ती है, किन्तु जो बातें रटकर याद की जाती हैं उनका स्वतन्त्र विचार में अधिक मूल्य नहीं होता।

बालकों में रुचि-भेद होते हैं। जिस बालक को जिस विषय में रुचि होती है उसे वह भलीभाँति याद कर सकता है। जिस विषय में उसकी रुचि नहीं होती उस विषय को वह याद नहीं कर पाता। किसी बालक को भाषा पाठ में रुचि होती है तो किसी को गणित में; कोई मेनुअल ट्रेनिंग में रुचि रखता है तो कोई ड्राइङ्ग, प्रकृति-निरीक्षण अथवा गाने में। खेल में रुचि रखनेवाला बालक खेल की बातें ठीक-ठीक याद रखता है और पढ़ने में रुचि रखनेवाला पढ़ने की। रुचि के कारण बालक अपनी रुचिकर बातों को अनेक बार मन में दुहराया करता है। इस तरह रुचिकर बातों के संस्कार बालक की स्मृति पर दृढ़ हो जाते हैं। इन संस्कारों के कारण बालक की रुचि और भी पाठ्य-विषय में बढ़ जाती है। पाठकों का कर्तव्य है कि वे इस प्रकार की बालकों की रुचियों को जानें और उन्हें उनके योग्य मार्ग में लगावें ताकि उनकी शिक्षा का काल व्यर्थ न जाय।

बालकों को दण्ड के रूप में कोई याद का काम देना उनकी शक्ति को व्यर्थ नष्ट करना है। जो कविता 'डिटेंशन' क्लास में याद करने के लिए दी जाती है, वह इतनी अरुचिकर हो जाती है कि बालक यदि उसे एक बार याद करने में समर्थ भी हो जाय तो उसे तुरन्त भूल जाता है। इतना ही नहीं, उसके मन में उस कविता का सम्बन्ध एक दुःखद घटना से हो जाने के कारण उसका अदृश्य मन उससे घृणा करने लगता है और यदि वह कभी स्मरण भी हो तो उसे भुलाने की चेष्टा करता है। हमें बालक से कदापि यह आशा न करनी

---

* हमारे देश के हिन्दी-उर्दू मिडिल स्कूलों के पाठकों का ध्यान इस ओर आकर्षित करने की विशेष आवश्यकता है। लेखक ने एक हिन्दी मिडिल स्कूल में देखा कि वहाँ के बालकों को इतिहास की मुख्य घटनाएँ रटा दी गई हैं। १८५७ के विद्रोह के १५ कारणों को कम से कम कक्षा के सब बालकों ने रट लिया था। किन्तु बालकों ने जो कुछ रट लिया था, उसका पूरा-पूरा अर्थ नहीं समझते थे।

चाहिये कि वह अरुचिकर बात को याद रक्खेगा अथवा जिस बात को दुःख से सम्बन्धित कर दिया गया है, उसे याद रक्खेगा।

सम्बन्ध—संस्कारों का स्मृति में स्थिर रहना उसके आपस के सम्बन्धों पर भी निर्भर रहता है। वास्तव में ज्यों ही कोई संस्कार मनुष्य के मानस-पटल पर अंकित होता है, वह दूसरे संस्कारों से तुरन्त ही सम्बन्धित हो जाता है। हम किसी भी नये अनुभव को अपने पुराने अनुभव के सहारे समझते हैं और पुराने अनुभव ही नये अनुभव को स्थिर बनाने में सहायक होते हैं। अतएव जब किसी प्रकार का कोई नया अनुभव हम बालक को करावें तो उसे बालक के दूसरे अनुभवों से सम्बन्धित करा दें। जिस प्रकार किसी नगर में आनेवाला कोई व्यक्ति जब वहाँ रहने की इच्छा करता है तो नगर के अनेक लोगों से परिचय बढ़ाता और मित्रता स्थापित करता है, इसी तरह कोई भी नया अनुभव पुराने अनुभवों से अपने आप सम्बन्धित होने की चेष्टा करता है। यदि इस ओर जानबूझकर कुछ प्रयत्न किया जाय तो अनुभव की स्थिरता और भी निश्चित हो जाय।

संस्कारों के आपस के सम्बन्ध तीन प्रकार के होते हैं—सहचारिता[1], समानता[2] और विरोध[3]।

सहचारिता—एक साथ होनेवाले दो अनुभव एक-दूसरे से इस प्रकार सम्बन्धित हो जाते हैं कि जब एक स्मृति में आता है तो दूसरे का भी स्मरण अपने आप होने लगता है। एक अनुभव के संस्कार दूसरे अनुभव के संस्कारों को सजीव करने में उत्तेजक का कार्य करते हैं। अतएव यदि हम बालक की स्मृति में किसी अनुभव को स्थिर बनाना चाहते हैं तो हमें उस अनुभव का साथ दूसरे अनुभव से कर देना चाहिये। हम देखते हैं कि बालक से जब गिनती गिनाई जाती है तो वह एक के बाद दूसरे अंक को अपने आप कहता जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि बालक की स्मृति में अंकों के बीच सहचारिता का सम्बन्ध दृढ़ हो गया है। पाठक को भूगोल पढ़ाते समय नक्शे की सहायता लेनी चाहिये तथा इतिहास पढ़ाते-समय टाइमचार्ट का उपयोग करना चाहिए। इन साधनों के द्वारा बालक की धारणाशक्ति पर पाठ के संस्कार दृढ़ता से अंकित हो जाते हैं। नक्शा और टाइमचार्ट पाठ की मौलिक बातों के बीच सहचारिता का सम्बन्ध स्थापित करने में बड़ी सहायता करते हैं।

समानता—किसी नई बात को स्मरण रखने में उसके समान लक्षणों की दूसरी बात सहायता देती है। हम एक घटना की तुलना जितनी दूसरी

---

1. Contiguity. 2. Similarity. 3. Contrast.

घटना से करते हैं, उतनी ही वह हमें याद रहती है। बालक को इतिहास और भूगोल पढ़ाते समय तथा प्रकृति-निरीक्षण कराते समय समान परिस्थिति, देश और वस्तुओं का स्मरण करना चाहिए। इतिहास के एक व्यक्ति की तुलना दूसरे से करनी चाहिए। भूगोल पढ़ाते समय किसी देश के जलवायु, उपज और निवासियों की तुलना दूसरे देशों के जलवायु, उपज और निवासियों से करनी चाहिए। इस तरह एक बात की तुलना दूसरी बात से करते रहने से दोनों बातों के संस्कार दृढ़ होते हैं, पुरानी बात दुहरा ली जाती है, उसकी विशेषताओं की ओर दृष्टि जाती है और नई बात पुरानी बातों के बीच एक निश्चित स्थान पा लेती है। जब पुरानी बातों की फिर से याद आती है तो वह नई बात भी याद आ जाती है। कोई नया शब्द पढ़ाते समय शिक्षक को पर्य्यायवाची दूसरे शब्द का स्मरण बालकों को कराना चाहिए। समभाव की दो कविताओं की तुलना करनी चाहिए।

विरोध—दो अनुभवों के बीच जहाँ समानता के लक्षण न दिखाई पड़ें वहाँ बालकों को विरोधी लक्षण बता दिए जायँ। औरंगजेब अदूरदर्शिता को बालक के मन पर बैठाने के लिए उसकी नीति की तुलना अकबर की नीति से की जाती है। इस प्रकार दोनों बादशाहों की मुख्य-मुख्य बातें बालक को याद रहती हैं। किसी देश की गरीबी दिखाने के लिए उसकी तुलना किसी धनी देश से करानी चाहिए। किसी कठिन शब्द का अर्थ समझाने के लिए पाठक को उसके विपरीत अर्थवाले शब्द से तुलना करनी चाहिए। जैसे 'सहिष्णुता' 'निर्दयता' का उल्टा है; 'जंगम' 'स्थिर' का उल्टा है।

पुनश्चेतना

हमारे स्मृति-पटल पर जो संस्कार अंकित हो जाते हैं, उनका फिर चैतन्य मन में आना पुनश्चेतना कहलाता है। वास्तव में स्मृति का यही प्रधान अंग है। अतएव प्रायः इसे स्मरण भी कहा जाता है। बालकों में संस्कारों के ग्रहण करने की शक्ति पर्याप्त मात्रा में होती है, किन्तु उनकी पुनश्चेतना की शक्ति परिमित होती है। बालक के किसी अनुभव के स्मरण करने की योग्यता से कदापि इस निष्कर्ष पर न पहुँचना चाहिए कि बालक की वैसी ही परिमित धारणाशक्ति भी है। बालक के मानस-पटल पर जो बात अंकित हो जाती है उसे वह तुरन्त याद न आवे, किन्तु कालान्तर में उसे याद आ सकती है। संस्कारों के पुनश्चेतन होने की शक्ति धारणाशक्ति ही पर निर्भर है। जिस मनुष्य की धारणाशक्ति जितनी बढ़ी-चढ़ी होती है उतनी ही वह पुरानी बात

को स्मरण में ला सकता है। जिस संस्कार को हम एक बार अभ्यास करके, उसे कई दूसरे संस्कारों से सम्बद्ध करके मन में दृढ़ कर लेते हैं वही हमें शीघ्रता के साथ याद आते हैं। किन्तु मन में स्थित सब संस्कारों का पुनश्चेतन होना न सम्भव ही है और न आवश्यक ही।

मन की कोई भी शक्ति अभ्यास से बढ़ती और अनभ्यास से घटती जाती है। बालक को अपने पुराने संस्कारों को स्मरण करने की आवश्यकता नहीं पड़ती, अतएव उसकी स्मरणशक्ति परिमित जान पड़ती है। जैसे-जैसे उसको अपने जीवन में पुराने अनुभव को स्मरण करने की आवश्यकता पड़ती है, वैसे-वैसे उसकी स्मरणशक्ति बढ़ती जाती है। संस्कारों की पुनश्चेतना उनकी उत्तेजना के ऊपर निर्भर है। जो संस्कार जितने ही दूसरे संस्कारों से अधिक सम्बद्ध रहते हैं, वे उतनी ही सरलता से उत्तेजित किए जा सकते हैं। फिर जिस अनुभव का सम्बन्ध बालक ने अपने पुराने अनुभवों के साथ कर लिया है वे अनुभव याद आने पर बालक को अवश्य ही ताजे हो जायँगे। उसके उत्तेजक अनेक अनुभव हो जाने के कारण वह सदा सजीव बना रहता है। स्मरण करते समय एक अनुभव यदि दूसरे अनुभव से सम्बद्ध होता है तो वह दूसरे अनुभव की याद अपने आप दिलाता है। इसी तरह यह दूसरा अनुभव तीसरे अनुभव को ले आता है और यह क्रम आगे चलता जाता है। हमें यहाँ इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि यदि किसी प्रकार इन अनुभवों का आपस में सम्बन्ध टूट जाय तो फिर एक अनुभव दूसरे की याद नहीं करता। सम्बन्धों को स्थिर रखने में आत्म-विश्वास बड़ा काम करता है। किसी बात को स्मरण करते समय हमें बालक को प्रोत्साहन देना चाहिये कि वह उस बात की याद अवश्य कर लेगा। इस प्रकार के निर्देश बालक की स्मरणशक्ति को बढ़ाते हैं। यदि किसी बात को स्मरण करते समय बालक को सन्देह हो जाय तो उसे स्मरण करने में बाधा पड़ जाती है। इससे अनुभवों का सम्बन्ध टूट जाता है; फिर कुछ का कुछ याद आने लगता है। शिक्षकों को चाहिये कि बालक को पढ़ाते समय इस बात का ध्यान रखें कि दो मिलती-जुलती बातों को एक साथ ही न पढ़ा दें, नहीं तो उन्हें याद करते समय एक-दूसरे के विषय में अवश्य भ्रम पैदा हो जायगा। छोटे बालक को पढ़ाते समय श्यामपट पर किसी शब्द के गलत हिज्जे न लिखना चाहिये, क्योंकि यह गलत हिज्जे भी बालक के स्मृतिपटल पर अंकित हो जाता है और सही हिज्जे के स्मरण में बाधा डालने लगता है। उदाहरणार्थ 'विकास', 'प्रशंसा, और 'शासन, ऐसे शब्दों के गलत हिज्जे श्यामपट पर लिखकर कुछ शिक्षक बालकों के हिज्जे के याद करने में

बाधा डाल देते हैं। सौभाग्यवश हमारे देश से निकली हुई भाषाओं में इस प्रकार के भ्रमात्मक हिज्जे के लिए कम स्थान है।

उपर्युक्त कथन का यही तात्पर्य है कि किसी भी प्रसङ्ग को स्मरण करने के लिए निर्विघ्नता आवश्यक है। संशय एक प्रकार का विघ्न है। जिस प्रकार संशय हमारी दूसरी शक्तियों को नष्ट कर देता है उसी प्रकार यह स्मरणशक्ति का भी नाश कर देता है। बालक को पाठ पढ़ाते समय उसके मन को सदा निस्संशय बनाये रखने की चेष्टा करनी चाहिये।

पहचान

पहचान स्मृति का तीसरा अंग है। इसका आधार भी पुराने संस्कारों का मन में स्थिर रहना है। जो व्यक्ति हमारा दो-तीन बार का देखा हुआ रहता है, उसे हम तुरन्त पहचान लेते हैं कि वह हमारा देखा हुआ व्यक्ति है। शिक्षक लोग कहा करते हैं कि मुझे पुराने विद्यार्थियों के नाम नहीं मालूम हैं, किन्तु मैं उन्हें पहचान अवश्य सकता हूँ। इससे यह स्पष्ट है कि हमारी पहचान की शक्ति स्मरणशक्ति से कितनी अधिक है। बालक की पहचानने की शक्ति उसकी शब्दावली से कर सकते हैं। डेढ़ वर्ष के बालक की प्रयोग-शब्दावली[1] बीस शब्दों के लगभग होती है किन्तु उसकी बोध-शब्दावली[2] डेढ़ सौ शब्दों के लगभग होती है। बालक के पहचानने या स्मरण करने की शक्ति का तुलनात्मक ज्ञान निम्नलिखित प्रयोग से प्राप्त हो सकता है।

बीस कार्डों के ऊपर ऐसी भिन्न वस्तुओं के नाम लिखिए जो बालक की परिचित हों। उन्हें एक-एक कार्ड आठ-दस सेकंड पर दिखाया जाय। जब सब कार्ड दिखा दिये जायँ तो बालक को जितने के नाम स्मरण रहें उन्हें कहने को कहा जाय। इससे बालक की स्मरणशक्ति का पता चलेगा। अब उन बीस कार्डों को दूसरे सौ कार्डों में मिला दीजिए। बालक से कहिए कि उन कार्डों को उठाकर दे, जिनको उसने पहले देखा था। इससे बालक की पहचानने की शक्ति का पता चलेगा। इस प्रयोग में छोटी अवस्था के बालकों के लिए हम चित्रों को काम में ला सकते हैं। बीस परिचित पदार्थों के चित्र बालक को दिखाये जायँ और इसके बाद जो पदार्थ उसे याद रहें वह उनके नाम बतावे। फिर जैसा पहले किया गया था, इन चित्रों को भी दूसरे चित्रों में मिलाकर बालक से उन चित्रों को उठा-उठाकर देने को

---

1. Application Vocabulary. 2. Recognition Vocabulary.

कहे, जिनको उसने पहले देखा था। इस प्रकार के प्रयोगों से पता चलता है कि बालक की पहचानने की शक्ति उसकी स्मरणशक्ति से कहीं अधिक होती है।

मनुष्य अपने बाल्यकाल में अनुभवों को संचित करता है। वह उनका उपयोग प्रौढ़ावस्था में करता है। बालक बहुत से अनुभवों को याद नहीं कर पाता। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि उसका अनुभव उसके बुद्धि विकास में काम नहीं देता। बालक का पुराना अनुभव बालक को नई परिस्थिति में पड़ने पर सहायता देता है। पुराने अनुभवों से उसकी वस्तुओं को पहचानने अथवा उसकी बोधीकरण की शक्ति बढ़ जाती है। यह बोधीकरण की शक्ति बालक की समझ का सहारा है। अतएव जैसे-जैसे मनुष्य की पहचानने की शक्ति, जो अनुभव पर निर्भर है, बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे उसकी समझ में विकास होता जाता है। इस मनोवैज्ञानिक तथ्य से हम एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। बालक की परीक्षा में हमें उसकी केवल स्मरणशक्ति की जाँच पर ही ध्यान न देना चाहिये, प्रत्युत हमें उसकी पहचानने की शक्ति पर भी ध्यान देना चाहिये। कभी-कभी देखा जाता है कि दो बालकों में से एक जो वास्तव में अधिक विद्वान् है तथा जिसका अनुभव अधिक विस्तीर्ण है दूसरे बालक से, जो मन्दबुद्धि है और जिसका अनुभव संकुचित है, कम नम्बर पाता है। कक्षा में प्रायः सभी परीक्षाएँ बालक की स्मरणशक्ति की ही जाँच करती हैं, इसलिए बालक की वास्तविक प्रतिभा तथा अनुभव का पता नहीं चलता। हमें इस प्रकार की परीक्षा लेनी चाहिये जिससे बालक के वास्तविक ज्ञान या प्रतिभा का पता चले। साधारण परीक्षाओं में रटनेवाला बालक प्रायः अधिक नम्बर पाता है। आजकल बुद्धिमापक की परीक्षाओं का आविष्कार हुआ है। इन परीक्षाओं में बालक की पहचानने की अथवा बोधीकरण की शक्ति की जाँच की जाती है, इससे उसके वास्तविक ज्ञान या प्रतिभा का पता चलता है। बालक को जो प्रश्न दिये जाते हैं उनका उत्तर भी प्रश्नपत्र में लिखा रहता है। केवल बालक को पहचान करके सही उत्तर के नीचे रेखा खींचनी पड़ती है। बालक की स्मरणशक्ति पर उतना जोर नहीं पड़ता जितना कि उसकी साधारण समझ पर पड़ता है। इस तरह बालक की बुद्धि की वास्तविक परीक्षा हो जाती है।

पहचानने की शक्ति और स्मरणशक्ति में पारस्परिक सम्बन्ध निश्चित करने की चेष्टा कई मनोवैज्ञानिकों ने की है। दोनों ही स्मृति के अंग हैं; किन्तु पहचानने में पुराने संस्कारों को उत्तेजित करनेवाला कोई प्रत्यक्ष पदार्थ होता है। स्मरण में इस प्रकार की सुविधा नहीं होती। अतएव किसी वस्तु का पहचानना उसके स्मरण करने की अपेक्षा सरल होता है। परन्तु साधारणतः जिस व्यक्ति

जितनी अधिक पहचानने की शक्ति होती है, उतनी ही अधिक उसको पुराने अनुभव को पूर्णतया स्मरण करने की भी शक्ति होती है। प्रयोगों द्वारा पता चला है कि किसी भी व्यक्ति की दोनों प्रकार की योग्यताओं में ८८ प्रतिशत सह-सम्बन्ध[1] होता है। अतएव यदि हम किसी बालक की पहचानने की योग्यता के विषय में कोई निश्चित पता चला लें तो हम उसकी स्मरणशक्ति के विषय में भी मौलिक अनुमान कर सकते हैं।

स्मृति-वर्द्धन

प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्मरण-शक्ति की वृद्धि करना चाहता है। इसी तरह प्रत्येक शिक्षक या माता-पिता चाहते हैं कि उनके बालकों की स्मरणशक्ति अच्छी हो। अतएव हर एक व्यक्ति आशा करता है कि मनोवैज्ञानिक स्मृति-वर्द्धन के उपायों को बतावें।

अभ्यास की उपयोगिता—स्मृति-वर्द्धन पर पुराने लोगों का विचार था कि जिस प्रकार हम शारीरिक व्यायाम करके शरीर की शक्ति को बढ़ा सकते हैं, उसी प्रकार मानसिक व्यायाम करके मन की शक्ति को बढ़ाया जा सकता है। इस धारणा से प्रेरित होकर अनेक शिक्षक कविताएँ या इतिहास की तारीखें बालकों से याद करवाते थे। फिस्ट महाशय का कहना है कि यदि कोई व्यक्ति 'मार्निंग पोस्ट' के अग्रलेख को प्रतिदिन याद करे तो उसकी स्मरणशक्ति अवश्य बढ़ जायगी।

आधुनिक मनोवैज्ञानिकों के प्रयोग सिद्ध करते हैं कि उपर्युक्त धारणा भ्रमात्मक है। हमें बालकों की स्मरणशक्ति को ऐसी बातों के याद करने में कदापि नहीं लगाना चाहिये जो उनके भविष्य जीवन में उपयोगी न हों। कोलम्बिया युनिवर्सिटी के प्रसिद्ध विद्वान् थार्नडाइक ने इस विषय में अनेक प्रयोग किये हैं। उनकी खोजों का निष्कर्ष यह है कि हमारी स्मरणशक्ति हमारी शारीरिक शक्तियों के समान व्यायाम द्वारा नहीं बढ़ाई जा सकती। स्मरण करने का अभ्यास हमें लाभदायक अवश्य होता है किन्तु इस अभ्यास द्वारा हम ऐसी ही बातों को स्मरण कर सकते हैं जिनको हमने अभ्यास करते समय काम में लाया हो। जिसे कविताएँ स्मरण कराई जाती है ऐसा बालक एक नई कविता को ही शीघ्रता से याद कर सकता है, किन्तु यह विज्ञान-सम्बन्धी किसी विषय को स्मरण करने में अपने अभ्यास के कारण अधिक समर्थ नहीं होता। यदि कविताएँ याद करनेवाले बालक को गद्य-साहित्य याद कराना पड़े तो वह उन दूसरे बालकों की अपेक्षा सरलता से याद कर लेगा, जिन्हें किसी प्रकार के

1. Coefficient of Correlation.

साहित्य के स्मरण करने का अभ्यास नहीं है। इसका प्रधान कारण यह है कि गद्य और पद्य दोनों में ही भाषा-ज्ञान की आवश्यकता होती है और दोनों में ही अनेक समान-भाव प्रकाशित होते हैं। जब कविता याद करनेवाले बालक को रसायन-शास्त्र के सिद्धान्त (फारमूला) याद करने पड़ते हैं तो इन दोनों विषयों की विषमता इतनी अधिक हो जाती है कि एक विषय में किया हुआ अभ्यास दूसरे विषय के स्मरण करने में कुछ भी सहायता नहीं देता। इससे स्पष्ट है कि बालक को उपयोगी ही बातें सिखाई जायँ और उससे मानसिक व्यायाम के लिए कोई स्मृति का कार्य न कराया जाय। इस प्रकार के अभ्यास से उसे कोई लाभ नहीं होता।

विलियम जेम्स का कथन है कि हर एक बालक की धारणा-शक्ति उसके जन्म के साथ आती है। हम अभ्यास के द्वारा इस धारणा-शक्ति में परिवर्तन नहीं कर सकते। हाँ, उचित उपयोग के द्वारा उसे बालक के लिए अधिक लाभकारी बना सकते हैं, जिस तरह कि थोड़ी पुस्तकों का मालिक उन पुस्तकों का सदुपयोग करके उनसे अधिक लाभ उठा सकता है जब कि दूसरा व्यक्ति अधिक संख्या में पुस्तकें रखकर भी विशेष लाभ नहीं उठा सकता। इसी तरह धारणा-शक्ति परिमित रहने पर भी हम उचित उपयोग करके उसको अपने लिये अधिक लाभकारी बना सकते हैं। अनुभवों को सुसंगठित करके स्थिर रखने से धारणा-शक्ति की उपयोगिता बढ़ जाती है। जो व्यक्ति अधिक बातों को याद रखता है, वह संसार में अधिक प्रतिभाशाली नहीं गिना जाता है। अधिक प्रतिभाशाली तो वही है जो अपनी स्मृत बातों को सुसंगठित रूप में धारण करता है और समय आने पर उनको काम में ला सकता है।

हमें बालकों की स्मरणशक्ति को व्यर्थ बातों के याद करने में न लगाना चाहिये। हमें उन्हें ऐसी बातें याद करने को देनी चाहिये जो उन्हें रुचिकर हों, जिन पर उनके ध्यान की एकाग्रता हो सकती हो और जो उन्हें सफल जीवन बनाने में सहायक हों। प्रत्येक बालक अपनी रुचि की वस्तुओं को सुगमता से याद कर सकता है। जो बालक किसी विशेष विषय के पढ़ने में मन्दबुद्धि जान पड़ता है, वही पढ़ने का विषय बदल देने पर, अपनी विशेष प्रतिभा दिखलाता है। हमें शिक्षा के कार्य में रुचि-वैचित्र्य का सदा स्मरण रखना चाहिये।

रटाने की उपयोगिता—प्रायः देखा गया है कि शिक्षकगण किसी पाठ की मौलिक बातें बालकों को रटाकर याद कराने की चेष्टा करते हैं। इसके विषय में ऊपर थोड़ा सा विचार किया गया है। यहाँ हम उसके दोष और गुण पर पूर्णतः विवेचन करेंगे।

किसी विषय के याद करने में रटने से अवश्य सहायता मिलती है। रटने से पुराने संस्कार गहरे हो जाते हैं। ऊपर यह कहा जा चुका है कि जिस बात को बार-बार दुहराया जाता है उसके संस्कार मानस-पटल पर दृढ़ हो जाते हैं। बालकों का भाषा-ज्ञान प्रायः रटाकर ही बढ़ाया जाता है। इसी तरह साहित्य की अनेक सुन्दर कविताएँ बालकों को रटाकर याद करानी चाहिये। जीवन की कोई-कोई मौलिक बातें रटाकर ही याद कराई जा सकती हैं। पुराने समय में संसार के सभी देशों में रटने के ऊपर विशेष जोर दिया जाता था। आजकल पुस्तकों की वृद्धि हो जाने के कारण इसकी आवश्यकता नहीं।

पर अधिक रटने से बालकों की मानसिक क्षति होती है। बालकों में स्वतन्त्र सोचने की शक्ति नहीं रह जाती। जब बालक किसी बात को रटने लगता है तो उसके अर्थ पर ध्यान नहीं देता। इस कारण रटे हुए विषय का सम्बन्ध बालक के दूसरे अनुभवों से दृढ़ नहीं होता अतएव अधिक परिश्रम करने के बाद भी रटी हुई चीज़ को प्रायः बालक भूल ही जाया करता है। रटने में एक ही क्रिया को बार-बार करते रहना पड़ता है। इस कारण वह कार्य अरुचिकर हो जाता है। अरुचिकर काम करने में थकावट बहुत जल्दी आती है। इस थकावट के कारण बालक का ध्यान पाठ से विचलित हो जाता है। यदि ऐसा अभ्यास कई दिनों तक चलता रहे तो बालक अपने ध्यान की एकाग्रता खो देता है।

रटने के स्थान पर बालक को समझाकर नई बात बताई जानी चाहिये। एक संस्कार का सम्बन्ध अन्य संस्कारों से जोड़ना चाहिये। जिस बात का रटना आवश्यक हो उसका अर्थ बालक को पहले भलीभाँति समझा देना चाहिये। शिक्षक बालकों को जो कविता या परिभाषा रटावें उसे भलीभाँति समझा दें और उन्हें आदेश करें कि कविता या परिभाषा रटते समय वे उसके अर्थ पर भी ध्यान दें।

पाठ याद कराने के सुगम उपाय

मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोगों द्वारा बालकों को पाठ याद कराने के कुछ सुगम उपायों का पता चलाया है। प्रत्येक शिक्षक को इनका जानना आवश्यक है।

समय-विभाग—लगातार याद करने की अपेक्षा बीच-बीच में समय देकर याद करना अधिक लाभदायक होता है। इस विषय में जोस्ट महाशय का एक प्रयोग उल्लेखनीय है। जोस्ट ने दो बालकों को कुछ निरर्थक शब्द याद करने के लिये दिये। दोनों को भिन्न-भिन्न तरह से उन शब्दों को याद कराया गया। दोनों बालकों ने २४, २४ बार उन शब्दों को पढ़ा। पहली बार प्रत्येक बालक ने आठ-आठ बार प्रतिदिन शब्दों को दुहराया। इस तरह २४ बार तीन दिन में

उन शब्दों को दुहराया। दूसरी बार छै-छै बार प्रतिदिन इन शब्दों को दुहराया गया। इस तरह २४ बार दुहराने में चार दिन लगे। तीसरी बार दो-दो बार प्रतिदिन १२ दिन तक दुहरवाया गया। प्रत्येक समय के नम्बर इस प्रकार बालकों को मिले—

पढ़ने की रीति (कुल संख्या २४)	पहले लड़के के प्राप्त नं०	दूसरे के प्राप्त नं०
३ दिन ८ बार प्रतिदिन पढ़ना।	१८	७
४ दिन ६ बार ,, ,,	३६	३१
१२ दिन २ बार ,, ,,	५३	५५

उपर्युक्त प्रयोग से यह निश्चित है कि हमें बालकों को कोई विषय लगातार न पढ़ाना चाहिये। यदि कोई कविता बालकों को याद करानी हो तो लगातार उसे न दुहरवाकर कई दिनों तक उसे दुहरवाना चाहिये। हिन्दी प्राइमरी स्कूलों में बालकों को प्रतिदिन खड़ा करके गिनती या पहाड़ा कहलवाना याद कराने का बहुत सरल उपाय है। लगातार एक ही बात को कहने से मन उकताने लगता है, थकावट जल्दी आती है और रुचि नष्ट हो जाती है। जब एक बार और दूसरी बार के दुहराने में कुछ समय का अन्तर रहता है तो मस्तिष्क ताजा रहता है। दूसरे एक बार जो संस्कार पड़ जाते हैं वे स्थिर होने के लिए कुछ समय लेते हैं। जब हम किसी भी बात के दुहराने में कुछ अवकाश लेते हैं तो इस बीच में पुराने संस्कार पक्के हो जाते हैं तथा नये संस्कार इसके कारण मस्तिष्क पर और भी अधिक प्रभाव डालते हैं। जितने छोटे बालकों की कक्षा हो उतनी ही जल्दी-जल्दी पढ़ाते समय विषय-परिवर्तन होते रहना चाहिये। बालकों को लगातार एक ही विषय न पढ़ाना चाहिये।

अर्थ की प्रधानता—जो बात बालकों को अर्थ के सहारे पढ़ाई जाती है वह अधिक स्थायी रहती है। किसी बात का अर्थ समझाने का तात्पर्य यह है कि उस बात को बालक के दूसरे अनुभवों से सम्बन्धित किया जाय। जब बालकों से कविता रटवानी हो तो कविता की भिन्न-भिन्न कल्पनाओं का अर्थ समझाने से वह बालकों को शीघ्र याद होगी। यहाँ कविता के याद कराने की भिन्न-भिन्न रीतियों पर विचार करना आवश्यक है।

कविता तीन प्रकार से याद कराई जा सकती है। पूरी कविता कई बार पढ़ाकर, कविता को भागों में विभाजित कर एक-एक भाग को याद कराकर और इन दोनों प्रकारों को मिलाकर। इन प्रकारों को सम्पूर्ण-प्रकार, विभाग-प्रकार तथा मिश्रित-प्रकार कहा गया है। देखा गया है कि २४० पंक्तियों तक की कविता को प्रायः सम्पूर्ण-प्रकार से अच्छी तरह याद किया जा सकता है। सम्पूर्ण-प्रकार से याद करने में कविता का अर्थ सहायक होता है। यह सहायता विभाग-प्रकार से नहीं मिलती। दूसरे विभाग-प्रकार से याद करने में एक पद और दूसरे पद के बीच अवांछनीय सम्बन्ध स्थापित हो जाते हैं जिससे कविता लगातार स्मरण में नहीं आती।*

---

* मान लीजिए, बालक को निम्नलिखित कविता याद करनी है—

एक सफ़ेद बड़ा सा ओला,
था मानो हीरे का गोला।
हरी घास पर पड़ा हुआ था,
वहीं पास मैं खड़ा हुआ था॥
मैंने पूछा क्या है भाई,
तब उसने यों कथा सुनाई।
जो मैं अपना हाल बताऊँ,
कहने में भी लज्जा पाऊँ॥
पर मैं तुम्हें सुनाऊँगा सब,
कुछ भी नहीं छिपाऊँगा अब।
जो मेरा इतिहास सुनेंगे,
वे उससे कुछ सार चुनेंगे॥
यदपि न मैं अब रहा कहीं का,
वासी हूँ मैं किन्तु यहीं का।
सूरत मेरी बदल गई है,
दीख रही वह तुम्हें नई है॥
मुझ में आर्द्र भाव था इतना,
जल में हो सकता हो जितना।
मैं मोती जैसा निर्मल था,
तरल; किन्तु अत्यन्त सरल था॥

यह 'ओले की आत्मकथा' नाम की कविता के कुछ पदों का उद्धरण है। पूरी कविता का एक अर्थ उसके किसी एक पद से व्यक्त नहीं होता; जब एक-

पुनरावृत्ति—जब कोई पाठ पढ़ाया जाय तो पाठ के पूरे होने पर बालकों से प्रश्न द्वारा उसके मुख्य-मुख्य अङ्गों को दुहरवाना चाहिये। इस प्रकार का अभ्यास नये अनुभवों के संस्कारों के दृढ़ करने में बड़ा लाभदायक होता है। किसी कविता को याद कराते समय लगातार उसको दुहराने की अपेक्षा बीच-बीच में आत्मपरीक्षा करते रहने से कविता अधिक शीघ्रता से याद होती है। जो बालक किसी पाठ को पढ़ते ही रहते हैं और यह जानने की चेष्टा नहीं करते कि उन्हें कितना याद हुआ, उन्हें अपने ज्ञान के ऊपर भरोसा नहीं रहता। शिक्षकों को चाहिये कि बालकों को पाठ याद करने का उचित उपाय बतावें। वे लगातार पाठ को याद न करें, बीच-बीच में पुस्तक बन्द करके यह जानने की चेष्टा करें कि उन्हें कहाँ तक पाठ याद हुआ है। इस प्रकार याद किया जानेवाला विषय शीघ्रता से याद होता है। साथ ही बालक को अपने ज्ञान के ऊपर भरोसा हो जाता है।

इस प्रकार की पुनरावृत्ति किसी पुस्तक या पाठ के पढ़ने के बाद तुरन्त ही बालकों को करनी चाहिये। प्रयोगों द्वारा देखा गया है कि इस पुनरावृत्ति के कार्य में जितनी देर होती है उतने ही नये अनुभव के संस्कार शिथिल हो जाते हैं। इबिंगहास और बेलार्ड महाशय ने इस विषय में बहुत से प्रयोग किये हैं। इबिंगहास के प्रयोगों का फल दर्शाता है कि किसी भी स्मृत विषय का ५८ प्रतिशत ही २० मिनट के उपरान्त हमें याद रहता है। एक घण्टे के बाद ४४ प्रतिशत, ६ घण्टे के बाद ६६ प्रतिशत, १ दिन के बाद ३४ प्रतिशत, दो दिन के बाद २८ प्रतिशत, छः दिन के बाद २५ प्रतिशत तथा ३० दिन के पश्चात् २१ प्रतिशत विषय का भाग याद रहता है। अतएव किसी विषय

एक पद करके कविता याद की जाती है तो बालक को अर्थ की सहायता नहीं मिलती। दूसरे, अवांछनीय सम्बन्ध पहले पद के अन्त के शब्द और उसी पद के पहले शब्द में हो जाता है। उदाहरणार्थ, जब बालक पहले पद की "वहीं पास में खड़ा हुआ था" इस पंक्ति को कह चुकता है तो उसे दूसरे पद की पंक्ति "मैंने पूछा क्या है भाई" स्मरण होनी चाहिये न कि "एक सफ़ेद बड़ा सा ओला" पहली पंक्ति याद आवे। "था" शब्द का सम्बन्ध "मैंने" से जुड़ना चाहिये न कि "एक" से। किन्तु जब बार-बार "था" के बाद "एक" आया करेगा तो उन दोनों शब्दों में सम्बन्ध जुड़ना अवश्यम्भावी है। इस प्रकार पूरी कविता के याद करने में विभाग-प्रकार उतना लाभदायक नहीं होता जितना कि सम्पूर्ण-प्रकार। हाँ, जब बहुत लम्बी कविता हो तब उसको अर्थ के अनुसार विभाजित करना अनुचित नहीं है।

को पढ़ाने के बाद अथवा बालक द्वारा पढ़े जाने के बाद उसकी तुरन्त ही पुनरावृत्ति करना और कराना आवश्यक है। जिस पाठ को हम ३५ मिनट तक पढ़ाते हैं उसको ८ या १० मिनट में अवश्य ही बालकों द्वारा दुहरवाना चाहिये। पाठ को दुहराने का अर्थ यह नहीं कि हम उसे फिर से पढ़ाने लग जायँ, वरन् उसका यही अर्थ है कि प्रश्नों द्वारा बालक से मुख्य-मुख्य बातें दुहरावें।

बाह्य-क्रिया का सहयोग—बालक के मन में किसी विषय के संस्कार दृढ़ करने के लिए बाह्य-क्रिया का सहयोग वांछनीय है। पाठ पढ़ाते समय शिक्षक को मस्तिष्क के काम के साथ-साथ हाथ का काम कराते रहना चाहिये। जब हम कोई नया शब्द पढ़ावें तो उसका उच्चारण बालकों द्वारा करावें और उनकी नोटबुक पर भी लिखवा दें। भूगोल और इतिहास पढ़ाते समय बालकों से नक्शे या टाइमचार्ट बनवाना चाहिये। रेखगणित पढ़ाते समय यदि बालकों से कागज की तख्ती से भिन्न-भिन्न चित्रों के नमूने बनवावें तो उन चित्रों की परिभाषा याद करने में बालक को बड़ी सहायता मिले।

आत्म-प्रकाशन—किसी संस्कार को दृढ़ करने में सब से महत्त्व की बात आत्म-प्रकाशन है। विलयम जेम्स का कथन है कि हम जिस विषय में जितना ही आत्म-प्रकाशन करते हैं उतना ही वह हमें अधिक देर तक याद रहता है। हाथ से काम करवाना एक प्रकार का आत्म-प्रकाशन है, किन्तु शिक्षकगण दूसरे आत्म-प्रकाशन के उपाय सोच सकते हैं। बालकों को पाठ पढ़ाते समय प्रत्येक बालक से प्रश्न पूछना चाहिये। जिस प्रश्न का उत्तर देने में बालक समर्थ होता है ऐसा प्रश्न और उसका उत्तर बालक के मन पर दृढ़ता से बैठा जाता है। बालकों में पढ़ाई के विषय पर वाद-विवाद करने की रुचि बढ़ानी चाहिये। इस प्रकार से उनके विचार स्पष्ट हो जाते हैं और देर तक स्मृत रहते हैं। कक्षा के प्रतिभाशाली बालकों को अपने पिछड़े हुए सहपाठियों की सहायता करने के लिए उत्तेजित करना चाहिये और उन्हें इस कार्य में अनेक प्रकार से प्रोत्साहन देना चाहिये। ज्ञान का यह सहज गुण है कि वह जितना अधिक दूसरों को दिया जाता है उतना ही अधिक बढ़ता है। जो बालक दूसरों को अपना ज्ञान देने की चेष्टा करता है उससे दूसरे बालक का लाभ होता है तथा उसका अपना ज्ञान भी परिपक्व हो जाता है।

बालकों द्वारा पढ़े हुए पाठ के विषय पर समय-समय पर अभिनय कराना चाहिये। बालक जब इस प्रकार अपनी योग्यता का प्रदर्शन दूसरों के सामने करता है तो उसका आत्म-विश्वास बढ़ जाता है। मनुष्य की प्रत्येक मानसिक शक्ति की वृद्धि के लिए आत्म-विश्वास की बड़ी महत्ता है।

पन्द्रहवाँ प्रकरण

बालकों की भूल

पिछले प्रकरण में हमने स्मृति के साधारण नियम बताये हैं। जिन संस्कारों को बार-बार दुहराया जाता है, वे दृढ़ता से मन में बैठ जाते हैं। जो संस्कार रुचिकर हों और दूसरे संस्कारों से गुथे हुए हो वे देर तक स्मरण रहते हैं अन्यथा वे नष्ट हो जाते हैं। ये स्मृति के साधारण नियम हैं। समय व्यतीत होने पर साधारणतः सभी संस्कार शिथिल हो जाते हैं और धीरे-धीरे मिटते जाते हैं। यदि हम किसी पाठ को पढ़कर न दुहरावें तथा उसको प्रयोग में भी न लावें अथवा उसकी आवश्यकता भी हमें न पड़े तो वह विस्मृत हो जायगा। हम यहाँ पर बालकों की भूलों की विशेषताओं और उनके कारणों पर विचार करेंगे।

बालक की भूलने की विशेषताएँ

बालक की भूलों की पहली विशेषता यह है कि उसके मन में जितने संस्कार पड़ते हैं उनमें से बहुत थोड़ों का वह स्मरण कर सकता है। बालक की भूलों की दूसरी विशेषता यह है कि बालक एक घटना की जगह दूसरी घटना को आरोपित कर देता है; एक वस्तु की जगह दूसरी का चिन्तन करता है; किसी वस्तु के एक गुण की जगह दूसरे गुण को बता देता है।

बालक की भूलों की तीसरी विशेषता यह है कि वह लगातार क्रम से किसी घटना का वर्णन नहीं कर पाता। यदि हम बालक से प्रश्न पूछकर किसी घटना के बारे में जानना चाहें तो हम उससे अधिक बातें जान सकते हैं। किन्तु जब बिना प्रश्न किये ही उससे अपने आप घटना सुनाने को कहा जाता है तो वह बहुत थोड़ी बात कह पाता है।

बालक बहुत सी बातों को इसलिए भूल जाता है कि उनके ऊपर वह ध्यान को एकाग्र नहीं करता। बालक के ध्यान की वस्तुएँ प्रौढ़ावस्थावालों के ध्यान की वस्तुओं से अधिक होती हैं। वह अपनी स्मृति में स्थित पुराने संस्कारों से किसी अनुभव को सम्बन्धित नहीं करता है। इस कारण उनका स्मरण करते समय उसके पास संस्कारों को उत्तेजित करनेवाले सम्बन्धों का अभाव रहता है। बालक के मन में पड़ा हुआ प्रत्येक संस्कार सक्रिय होता है। उसके मन में जब अनेक संस्कार बैठ जाते हैं तभी नये और पुराने संस्कारों में सम्बन्ध जुड़ने का

को पढ़ाने के बाद अथवा बालक द्वारा पढ़े जाने के बाद उसकी तुरन्त ही पुनरावृत्ति करना और कराना आवश्यक है। जिस पाठ को हम ३५ मिनट तक पढ़ाते हैं उसको ८ या १० मिनट में अवश्य ही बालकों द्वारा दुहरवाना चाहिये। पाठ को दुहराने का अर्थ यह नहीं कि हम उसे फिर से पढ़ाने लग जायँ, वरन् उसका यही अर्थ है कि प्रश्नों द्वारा बालक से मुख्य-मुख्य बातें दुहरावें।

बाह्य-क्रिया का सहयोग—बालक के मन में किसी विषय के संस्कार दृढ़ करने के लिए बाह्य-क्रिया का सहयोग वांछनीय है। पाठ पढ़ाते समय शिक्षक को मस्तिष्क के काम के साथ-साथ हाथ का काम कराते रहना चाहिये जब हम कोई नया शब्द पढ़ावें तो उसका उच्चारण बालकों द्वारा करावें औ उनकी नोटबुक पर भी लिखवा दें। भूगोल और इतिहास पढ़ाते सम बालकों से नक्शे या टाइमचार्ट बनवाना चाहिये। रेखागणित पढ़ाते समय य बालकों से कागज की तख्ती से भिन्न-भिन्न चित्रों के नमूने बनवावें तो चित्रों की परिभाषा याद करने में बालक को बड़ी सहायता मिले।

आत्म-प्रकाशन—किसी संस्कार को दृढ़ करने में सब से महत्त्व की आत्म-प्रकाशन है। विलयम जेम्स का कथन है कि हम जिस विषय में जि ही आत्म-प्रकाशन करते हैं उतना ही वह हमें अधिक देर तक याद रहत हाथ से काम करवाना एक प्रकार का आत्म-प्रकाशन है, किन्तु शिक्ष दूसरे आत्म-प्रकाशन के उपाय सोच सकते हैं। बालकों को पाठ पढ़ाते प्रत्येक बालक से प्रश्न पूछना चाहिये। जिस प्रश्न का उत्तर देने में समर्थ होता है ऐसा प्रश्न और उसका उत्तर बालक के मन पर दृढ़ता जाता है। बालकों में पढ़ाई के विषय पर वाद-विवाद करने की रुचि चाहिये। इस प्रकार से उनके विचार स्पष्ट हो जाते हैं और देर तक र हैं। कक्षा के प्रतिभाशाली बालकों को अपने पिछड़े हुए सहपाठियों की करने के लिए उत्तेजित करना चाहिये और उन्हें इस कार्य में अनेक प्रोत्साहन देना चाहिये। ज्ञान का यह सहज गुण है कि वह जितना अ को दिया जाता है उतना ही अधिक बढ़ता है। जो बालक दूसरों ज्ञान देने की चेष्टा करता है उससे दूसरे बालक का लाभ होता है त अपना ज्ञान भी परिपक्व हो जाता है।

बालकों द्वारा पढ़े हुए पाठ के विषय पर समय-समय पर अ चाहिये। बालक जब इस प्रकार अपनी योग्यता का प्रदर्शन दू करता है तो उसका आत्म-विश्वास बढ़ जाता है। मनुष्य की प्रत्ये शक्ति की वृद्धि के लिए आत्म-विश्वास की बड़ी महत्ता है।

बौछार सहने की शक्ति नहीं होती। अतएव जब बालकों से प्रश्न पर प्रश्न पूछे जाते हैं तो उनसे अधिक भूलें होती हैं।

भूल सम्बन्धी प्रयोग

बालक की भूलों की जाँच प्रत्येक माता-पिता कर सकता है। इस जाँच के द्वारा अभिभावकगण बालक की स्मरणशक्ति के विषय में बहुत सी महत्त्व की बातें जान सकते हैं। यह जाँच दो प्रकार से की जाती है। एक तो किसी अतीत घटना का वर्णन कराने तथा उसके विषय में प्रश्न करके, दूसरे चित्र के द्वारा उनकी स्मरणशक्ति का निरीक्षण करके।

अतीत घटना द्वारा जाँच—बालक ने कल क्या-क्या खाया था, इस विषय में हम उससे प्रश्न कर सकते हैं। प्रश्न पूछने पर बालक बहुत सी बातों का नाम लेगा। अब यदि हम कहें कि तुमने हलुवा भी खाया था, तो उसने चाहे हलुवा न खाया हो चाहे एक दिन पहले हलुवा खाया हो; वह कह देगा कि हलुवा भी खाया है। इसका मुख्य कारण यह है कि बालक हलुवा खाने की इच्छा रखता है। दूसरे हमारा प्रश्न उससे हलुवा के बारे में विचार करने को निर्देश कर देता है। इसी तरह बालक अतीत काल के विषय में और भी दूसरी भूलें किया करता है। उसको स्थान का भी भ्रम होता है। जो वस्तु एक स्थान में हो, उसे बालक उसके बदले दूसरे स्थान में बता सकता है। एक बालक ने एक चित्र बहुत दिनों तक एक कमरे में टँगा देखा था। उस चित्र को उस कमरे से १० दिन पहले हटा लिया गया था और तब बातचीत में बालक से चित्र का स्थान पूछा गया तो उसने चित्र का कमरा वही पुराना स्थान बतलाया। कई दिनों के पड़े हुए संस्कार को उसके मस्तिष्क से निकलने में देर लगती है। अभ्यास के कारण बालक के मन में चित्र का सम्बन्ध पुराने कमरे से ही बना रहा।

चित्र द्वारा बालक की स्मरणशक्ति की जाँच—बालक की स्मरणशक्ति की जाँच चित्र द्वारा भलीभाँति की जा सकती है। बालक को कोई चित्र दिखाया जाय और फिर उसको हटाकर उससे वर्णन करने को कहा जाय। इसके बाद उस चित्र पर उससे प्रश्न किये जायँ। अब हमें बालक की स्वतन्त्र-वर्णन की शक्ति और प्रश्न पूछे जाने पर उत्तर देने की शक्ति की तुलना करनी चाहिये। इस प्रकार उसकी स्मरणशक्ति या भूलों का पता चलेगा।

विलियम स्टर्न महाशय ने एक चित्र के ऊपर निम्नलिखित प्रयोग अपनी बालिका 'आइभा' के ऊपर किया था जिसकी उम्र २ साल ११ महीने की थी।

उसे एक चित्र दिखाया गया था, जिसमें उसका भाई गन्थूर भोजन कर रहा था, उसकी नौकरानी थैला लिये खड़ी थी और कुछ अन्य चीजें भी रक्खी हुई थीं। उससे कहा गया कि इस चित्र का वर्णन करो और फिर उसके सम्बन्ध में प्रश्न किया गया। चित्र को दो मिनट देखकर जो परिणाम निकला उसे यहाँ दिया जाता है।

स्वतन्त्र वर्णन	प्रश्नोत्तर से परीक्षा	
	प्रश्न	उत्तर
गन्थूर रोटी खा रहा है और यहाँ टानी है, दाई है, फूल हैं।	१—यह स्त्री बैठी है या खड़ी है?	खड़ी है। गन्थूर बैठा है।
और यह क्या है?	२—क्या वह चोंगा पहने है?	चोंगा उसके आस-पास बँधा है।
यह आलमारी है और वह कमरा है। (दरवाज़े की तरफ़ बताकर)	३—उसका रंग कैसा है?	हरा।
	४—उसके हाथ में क्या है?	मैं नहीं जानती जब तक तुम नहीं कहोगे।
तुम किसमें जाती हो, और यह रसोईघर है।	५—क्या तुम टेबुल को देख सकती हो?	हाँ।
यह गन्थूर क्या खा रहा है?	६—टेबुल के ऊपर क्या रक्खा है?	रोटी।
रोटी खा रहा है।	७—और क्या है?	कुछ नहीं।
	८—क्या उसके ऊपर मक्खन भी रक्खा है?	नहीं।
	९—क्या उस स्त्री के हाथ में चाकू है?	नहीं।

इस प्रयोग में यह भी देखा गया कि बालिका से चित्र देखने के बाद तुरन्त ही जो प्रश्न पूछे गये थे उनमें उसने ३५ उत्तर दिये, जिनमें ५ गलत निकले। तीन दिन बीतने के बाद उसने जो जवाब दिये उनमें ३५ में से ८ गलत निकले। इससे यह पता चलता है कि इस बालिका की स्मरणशक्ति बहुत अच्छी है।

दूसरे, हम देखते हैं कि तीन साल का बालक अपने आप बहुत थोड़ी ही बातें याद कर सकता है। किन्तु वह चित्र सम्बन्धी बहुत से प्रश्नों के उत्तर दे सकता है। बालक से समय के बीतने पर भूलें होती हैं। इसका कारण यह है कि बीच के समय में वह दूसरे चित्रों को भी देखता है और उन चित्रों के संस्कार उसको भ्रम में डालने लगते हैं। 'आइभा' से पूछा गया कि दाई क्या कर रही है? उसने जवाब दिया कि 'शोरबा बना रही है।' इस गलत जवाब का कारण दूसरे चित्र के संस्कार थे।

यह बालिका निर्देक द्वारा सरलता से प्रभावित नहीं होती है। उससे दो-तीन प्रश्न ऐसे किये गये थे जिनका वह गलत उत्तर दे सकती थी; जैसे कि "क्या लड़का नंगे पैर नही था?" "क्या टेबुल के ऊपर मक्खन नहीं रक्खा था?" उसका जवाब बालिका ने "नहीं नहीं" दिया। बालिका ने अपनी स्मृति पर ही विश्वास किया। यह उसके व्यक्तित्व को प्रदर्शित करता है। इस प्रकार हम परीक्षा के द्वारा ही बालक की जाँच भलीभाँति कर सकते हैं।

यही चित्र फिर उसके भाई गन्थूर को, जो उससे अवस्था में ढ़ाई साल अधिक था, दिखाया गया और उसकी उसी प्रकार परीक्षा ली गई। इस परीक्षा से यह पता चला कि उसके बयान प्रायः आइभा के दुगुने थे। सबसे बड़ी महत्त्व की बात यह है कि उसने अपने आप जो बयान दिया, उसकी संख्या प्रश्न के उत्तरों की अपेक्षा कहीं अधिक थी। आइभा ने अपने उत्तरों में प्रायः वस्तुओं के ही नाम रक्खे थे, किन्तु गन्थूर ने अपने वर्णन में क्रिया को भी बताया। उसे दूसरा चित्र एक हफ्ते बाद दिखया गया तो पहली बार की अपेक्षा दूसरी बार उसकी स्मृति खराब नहीं पाई गई। आइभा की अपेक्षा गन्थूर की भूलें अधिक थीं। देखा गया कि गन्थूर निर्देशात्मक प्रश्नों का उत्तर गलत देता है।

इस परीक्षा के बाद बालक को गलती जानने के लिए चित्र दिया गया। इसमें देखा गया कि बालक बिना दूसरे की सहायता के अवस्था के अनुसार अपनी गलती ढूँढ़ने में अधिक समर्थ होता है अर्थात् उसमें अपने को सुधाने की की शक्ति बढ़ जाती है। गन्थूर के तथा दो-एक और बालकों के प्रयोगों से पता चला है कि चार या पाँच वर्ष के बाद बालक में अपने को सुधारने की शक्ति पैदा हो जाती है। वे अपने आप कहने लगते हैं कि मैंने अमुक बात में गलती की है। इस प्रकार बालकों द्वारा उनकी गलती का पता लगवाना बहुत ही लाभदायक है। जिस बालक को इस प्रकार का अभ्यास हो जाता है, वह वस्तुओं को भलीभाँति देखता है और भूलों की संख्या भी

कम कर देता है। धीरे-धीरे उसकी गलत उत्तर देने की प्रवृत्ति कम हो जाती है। बालकों के चित्र के वर्णन करने के विषय में हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि भिन्न-भिन्न प्रकार के बालकों की कल्पनाशक्ति भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। जिन बालकों की दृष्टि-कल्पना दूसरे से कम होती है, वे बहुत सी देखी हुई बातों को भूल जाते हैं। इसी तरह हमें इस बात का भी ध्यान रखना चाहिये कि बालकों को रंग का ज्ञान ठीक नहीं होता। अतएव रंग के विषय में वे अनेक भूलें करते हैं। कितने ही बालक रंग के विषय में अन्धे होते हैं। उनसे रंग के विषय में गलती होना स्वाभाविक ही है।

जिस प्रकार कुछ मिनट तक देखे हुए चित्र के बारे में स्मरण सम्बन्धी प्रयोग किया जा सकता है उसी तरह बहुत देर तक देखे हुए चित्र के विषय में प्रयोग किया जा सकता है। ऐसा प्रयोग चित्र को हटाकर हम तुरन्त कर सकते हैं अथवा कई दिनों के बाद कर सकते हैं। ऐसे प्रयोगों से पता चला है कि बालक के अधिक देर तक देखे चित्र के स्मरण और थोड़ी देर तक देखे चित्र के स्मरण में प्रायः बराबर भूलें होती हैं। अर्थात् बालक जितनी गलती किसी चीज को थोड़ी देर तक देखकर कहने में करता है प्रायः उतनी ही वह बहुत देर तक देखकर कहने में करता है। इसका एक अर्थ यह हो सकता है कि वास्तव में बालक बहुत देर तक अपने सामने रहनेवाली चीजों को भली-भाँति देखता ही नहीं। जब तक बालक को निरीक्षण करने के लिये विशेष रूप से उत्तेजित न किया जाय तब तक वह किसी वस्तु को भलीभाँति ध्यान देकर नहीं देखता इसीलिए उनके विषय में प्रश्नों के उत्तर देने में उससे भूलें होती हैं।

इच्छित भूल

आधुनिक मनोविश्लेषण-विज्ञान ने मनुष्य की भूलों के विषय में एक नया प्रकाश डाला है। किसी बात को साधारणतः मनुष्य की स्मृति इसलिए ही विस्मृत कर देती है कि उसके संस्कार दृढ़ नहीं थे; अथवा उसमें मनुष्य की रुचि नहीं थी; किन्तु कितनी ही बातों के भूलने का कारण मनुष्य की भूल जाने की अव्यक्त या अदृश्य इच्छा होती है। हम देखते हैं कि दूसरों से ली हुई चीजों को प्रायः सभी लोग भूल जाते हैं किन्तु अपनी उधार दी हुई चीजें नहीं भूलतीं। मूर्ख से मूर्ख व्यक्ति को स्मरण रहता है कि उसने किसको कितने रुपये दिये हैं। जो रुपये उसे दूसरों से वापस मिले हैं, उनका उसे स्मरण नहीं रहता। दूसरों की पुस्तकें लौटाने की याद न रहना हमारे अनुभव की साधारण

सी बात है। इन भूलों का कारण पुराने संस्कारों का मिट जाना नहीं है। वरन् अदृश्य मन की इच्छा है। इन भूलों को प्रयत्नात्मक अथवा इच्छित भूल कहा जाता है। जिस व्यक्ति को हम पत्रोत्तर नहीं देना चाहते उसको पत्र लिखना ही हम भूल जाते हैं। जिस सभा में हम नहीं जाना चाहते उसका समय ही भूल जाते हैं। जब सभा का समय खतम हो जाता है तब हमें याद आता है कि हमें किसी विशेष अधिवेशन में जाना था। दूसरों के दिये हुए जिस काम को हम भार समझते हैं, उसे हम करना भूल जाते हैं। कोई मनुष्य जिस व्यक्ति से द्वेष रखता है उसके प्रति सम्मान प्रदर्शित करना भी वह भूल जाता है। ऐसी भूलें मनुष्य की आन्तरिक इच्छा की परिचायक हैं।*

निम्नलिखित इच्छित भूल का उदाहरण फ्राइड ने अपनी पुस्तक 'साइको-पैथालाजी आफ एब्रीडे लाइफ' में दिया है—

एक व्यक्ति का विवाह एक ऐसी महिला से हो गया था जिसके प्रति उसका कोई विशेष आकर्षण न था। वह स्त्री कर्त्तव्यपरायण थी, अतएव उस मनुष्य की नैतिक बुद्धि भी उसे पत्नी के प्रति कर्त्तव्यपालन करने के लिए बाध्य करती थी। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य के व्यक्त और अव्यक्त मन में सदा अन्तर्द्वन्द्व बना रहता था अतएव उस मनुष्य के द्वारा विचित्र प्रकार की भूलें होती थीं। एक बार उस स्त्री ने अपने पति को प्रसन्न करने के लिए एक सुन्दर पुस्तक खरीदी और पति को दे दी। पति के लिए पुस्तक थी तो रुचिकर किन्तु उसका अव्यक्त मन ऐसी किसी बात को स्मरण नहीं रखना चाहता था, जो पत्नी के

---

* इस सम्बन्ध में ए० जी० टेन्सले का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है—

"The mechanism of repression involves the cutting off of the obnoxious complex from the rest of the mind, so that it no longer has normal access to consciousness and the conflict is automatically brought to an end. The process of repression is in itself in most cases unconscious—the mental elements of the complex are simply forgotten—but the forgetting may sometimes follow a deliberate effort to banish the complex from the mind. The repressed complex is not destroyed, as is clearly shown by its subseqaent vitality. It is not allowed to manifest itself directly in consciousness, it is dissociated from the rest of the mind, but may find its expression in indirect, symbolic, and often curiously distorted forms."

—New Psychology and Its' Relation to Life. p.

प्रेम की परिचायक हो। उस मनुष्य ने वह पुस्तक किसी जगह रख दी और उस स्थान को भूल गया। बार-बार ढूँढ़ने पर भी वह पुस्तक उसे नहीं मिलती थी।

एक बार इस व्यक्ति की माँ बीमार हुई। उसकी पत्नी ने माँ की सेवा बड़ी लगन के साथ की। यह देखकर पति का हृदय द्रवित हो गया; अपनी स्त्री के प्रति उसके हृदय में प्रेम का संचार हो गया। ऐसा होते ही खोई हुई पुस्तक का स्थान एकाएक याद आ गया और पुस्तक मिल गई। वास्तव में पुस्तक उसकी टेबुल की ड्राअर में ही रक्खी थी, पर खोजते समय वह सब स्थानों को तो देखता था, किन्तु जहाँ पुस्तक रक्खी थी उसे ही देखना भूल जाता था।

मन की किसी ग्रन्थि के कारण मनुष्य अनेक प्रकार की विचित्र भूलें करता है। वह कुछ का कुछ कह देता और कुछ का कुछ लिख देता है। टेन्सले महाशय का दिया हुआ निम्नलिखित उदाहरण बड़ा मनोरंजक और शिक्षाप्रद है।

एक शिक्षक एक लड़के के प्रति द्वेष-भाव रखता था। जब परीक्षा का समय आया तो यह शिक्षक परीक्षक नियुक्त हुआ। परीक्षा के विषयों में बालक की योग्यता अच्छी थी, इससे परीक्षक के दूसरे साथियों की सम्मति थी कि वह बालक द्वितीय श्रेणी में रक्खा जाय; किन्तु परीक्षक उस बालक को इतना ऊँचा स्थान नहीं देना चाहता था। उसकी आन्तरिक इच्छा बालक को अनुत्तीर्ण करने अथवा तृतीय श्रेणी में रखने की थी, पर उसका कुछ वश न चला; उसे अपने साथियों की बात माननी ही पड़ी। पर जब परीक्षक परीक्षाफल लिखने लगा तो उसकी आँखों के सामने अन्धकार छा गया और उस लड़के के नाम के सामने उसने द्वितीय श्रेणी की जगह तृतीय श्रेणी लिख दिया।

एक बार आस्ट्रिया देश की व्यवस्थापिका सभा का सभापति जब उस सभा का उद्‌घाटन कर रहा था तो उसने अपने भाषण के अन्त में कह दिया—"मैं अब सभा को विसर्जित करता हूँ।" वास्तव में उसे कहना यह चाहिये था कि "मैं अब सभा का उद्‌घाटन करता हूँ।" बात यह है कि सभापति सभा का उद्‌घाटन हृदय से नहीं चाहता था।

बालकों की इच्छित भूल[1] के कारण

बालकों द्वारा भी इस प्रकार की अनेक भूलें होती हैं। जब शिक्षकगण देखें कि बालक किसी विषय की नोटबुक लाना भूल गया तो उन्हें इससे यह

1. Active forgetting.

निष्कर्ष निकालना चाहिये कि सम्भव है, बालक को जो काम दिया गया है उसे उसने न किया हो अथवा वह कार्य उसे अरुचिकर हो। जब बार-बार किसी विषय के बारे में बालक भूलें करता है तो हमें समझना चाहिये कि बालक को वह विषय अच्छा नहीं लगता। यदि हम बालक को उसकी इच्छा के विरुद्ध काम करने को दें तो उसे भूल जाना उसके लिए स्वाभाविक ही है।

एक बार लेखक ने एक बालक को किसी विशेष व्यक्ति के बुलाने के लिए भेजा। उस व्यक्ति का नाम उसे भलीभाँति याद करा दिया गया किन्तु उस व्यक्ति को बुलाने जाना उसकी इच्छा के प्रतिकूल था। जब बालक उस बताये हुए स्थान पर गया तो उस आदमी का नाम ही भूल गया। घर लौटते समय उसे नाम स्मरण आया। वह फिर उस व्यक्ति को बुलाने के लिए गया, किन्तु अब वह उस स्थान पर था ही नहीं।

उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि इच्छा से विरुद्ध बालकों से कोई काम कराना उनकी शक्ति का अपव्यय कराना है। बालक को जो पाठ जबरदस्ती पढ़ाया जाता है उसे बालक एक बार याद करके भी भूल जाता है। हम पहले भी कह चुके हैं कि 'डिटेन्शन क्लास' में याद की हुई कविता अरोचक मनोवृत्ति से सम्बन्धित हो जाने के कारण बालक को याद नहीं होती।

स्मरणशक्ति संवेगों से कितनी प्रभावित होती है, इसका दृष्टान्त हम बालक के किसी विशेष विषय के भूल जाने में देखते हैं। यदि किसी विषय को कोई ऐसा शिक्षक पढ़ाता है जिसके प्रति बालक के अनुदार भाव हों अथवा जिससे बालक डरता हो तो बालक उस विषय की पढ़ाई जल्दी ही भूल जाता है। प्रिय शिक्षकों की पढ़ाई जितनी लाभकर होती है उतनी अप्रिय शिक्षकों की नहीं होती। शिक्षक के प्रति बालक के भाव पढ़ाये जानेवाले विषय से सम्बन्धित हो जाते हैं; यदि कोई व्यक्ति अप्रिय है तो उसके द्वारा पढ़ाया जानेवाला विषय भी अप्रिय हो जाता है फिर ऐसे विषय को भूल जाना स्वाभाविक ही है।

फ़िस्टर महाशय ने एक ऐसे बालक का उदाहरण दिया है, जो गणित में तो बहुत ही कमजोर था पर भाषा याद करने में बड़ा प्रवीण था। शिक्षकों और अभिभावकों के लाख प्रयत्न करने पर भी वह गणित नहीं सीख पाता था। यह बालक दूसरे बालकों से सामान्यतः मन्दबुद्धि न था, किन्तु इसे एक ही विषय याद नहीं होता था। बालक में यह विचित्रता देखकर उसे मनोवैज्ञानिक के पास मनोविश्लेषण के लिए भेजा गया। बालक के अदृश्य मन के अध्ययन से पता चला कि उसके मन में गणित के प्रति द्वेष की भावना-ग्रन्थि थी। इस ग्रन्थि का कारण उसके पिता का उसके प्रति दुर्व्यवहार था।

बालक के पिता को गणित जानने का अभिमान था और पहले-पहल उसके पिता ने ही उसे गणित सिखाया था। जब बालक गणित में कोई गलती करता तो उसके लिए उसे डाँट-फटकार मिलती थी। बालक का पिता के प्रति पहले से ही सद्भाव न था, अतएव पिता के द्वारा गणित सीखते और गणित सीखने में डाँट-फटकार पड़ने से पढ़ाई के विषय में भी उसकी द्वेष-भावना आ जमी। बालक को भाषा की शिक्षा उसकी माँ देती थी। बालक माँ को प्यार करता था। अतएव भाषा का सीखना माँ के प्रेम से सम्बद्ध होकर प्रिय हो गया। यही कारण है कि यह बालक भाषा सीखने में अधिक उन्नति करता था और गणित पढ़ने में पिछड़ता जाता था।

यहाँ लेखक को अपने जीवन की कुछ अनुभूतियाँ स्मरण आती हैं। लेखक अंग्रेजी भाषा की व्युत्पत्ति में आज दिन तक कमजोर है पर अंग्रेजी के व्याकरण में उसे उतनी ही रुचि है। सम्भव है कि इस प्रकार की कमजोरी तथा रुचि का कारण अदृश्य मन की भावना-ग्रन्थि ही रही हो। अंग्रेजी भाषा सीखने की प्रारम्भिक अवस्था में व्युत्पत्ति भूलने से मार पड़ा करती थी। एक गलती के कारण एक बेंत की सजा निश्चित थी, पर उस भाषा के व्याकरण में प्रारम्भिक क्लास के शिक्षक की कुशलता के कारण रुचि हो गई थी। यही रुचि आज तक व्याकरण याद करने में सहायता देती है।

लेखक के एक परिचित व्यक्ति ऐसे हैं, जिन्हें अपने एक पुत्र के प्रति बचपन से ही यह धारणा थी कि वह मन्दबुद्धि है। लेखक ने इस बालक को भाषा पढ़ाई। इसमें उसको मन्दबुद्धि न पाया। बालक के पिता स्वयं उसे गणित पढ़ाते थे, जिसके कि वे विशेषज्ञ हैं। गणित पढ़ाने के पहले से ही बालक के प्रति पिता का प्रोत्साहन का भाव न था। जब बालक गणित पढ़ने में पिछड़ने लगा, तब पिता को निश्चय हो गया कि यह मन्दबुद्धि है। जब कभी बालक किसी प्रश्न को हल करने में असमर्थ होता तो उसे पिता से बड़ी डाँट-फटकार मिला करती। परिणामस्वरूप बालक को गणित से ही नहीं, किन्तु दूसरे विषयों की पढ़ाई से तथा घर में रहने से भी घृणा हो गई। किन्तु बेचारा पढ़ाई और घर छोड़कर जाय कहाँ? इस प्रकार के प्रतिकूल वातावरण में रहने के कारण बालक वास्तव में कुछ मन्दबुद्धि-सा हो गया। फिर उसके अव्यक्त मन की जो इच्छा थी वह पूरी हो गई। उसकी कालेज की पढ़ाई छूट गई। वह घर से बाहर जाकर दूसरी जगह एक रोजगार सीखने लगा। घर से निकलते ही उक्त बालक की बुद्धि में परिवर्तन हो गया। वह अब साधारण बुद्धिवाले दूसरे रोजगार सीखनेवाले व्यक्तियों से पिछड़ा नहीं है। इस समय

वह अपनी जीविका स्वयं उपार्जित कर लेता है और साधारण जीवन व्यतीत करता है।

उपर्युक्त उदाहरण में पिता के कारण ही बालक में बुद्धि के दोष आये। यहाँ इस बात को कह देना आवश्यक है कि पिता का निजी जीवन असफल ही रहा। वे जितना अपने आपको प्रतिभावान् समझते थे, उस धारणा के अनुसार उनको संसार में प्रतिष्ठा का स्थान न मिला। जो व्यक्ति स्वयं असफल रहता है वह सब लोगों की सफलता के प्रति आन्तरिक ईर्ष्या का भाव रखता है। यह ईर्ष्या का भाव अपने पुत्र की सफलता के प्रति भी रहता है। यह भाव व्यक्ति को स्वयं ज्ञात नहीं रहता और यदि उस व्यक्ति को बताया जाय तो वह उसे स्वीकार भी न करेगा; क्योंकि यह उसकी नैतिक भावना के प्रतिकूल है। अपने पुत्र के प्रति ईर्ष्या का भाव, भावनाग्रन्थि के रूप में मनुष्य के अव्यक्त मन में रहता है और उसी के कारण वह अनेक प्रकार के अनुचित व्यवहार अपने पुत्र के साथ करता है। विरला ही स्वस्थ और सरल जीवनवाला व्यक्ति अपने संरक्षित बालकों से असन्तुष्ट रहेगा।

इतिहास का विषय क्यों भूल जाता है, इस पर मनोविश्लेषण ने विशेष प्रकाश डाला है। अपने जन्म के विषय में जिस बालक को कोई सन्देहजनक भाव रहता है, उसे कुछ विशिष्ट विषयों के अध्ययन में कठिनाई होती है। जिस व्यक्ति का जन्म किसी ऐसी घटना से सम्बन्धित रहता है जिसे सोचने में उसे आन्तरिक वेदना होती है, वह अपनी जन्म-सम्बन्धित सभी बातों को भुला देना चाहता है; किन्तु इस प्रकार के भुलाने के प्रयत्न से उसके दुःखदायी भाव नष्ट नहीं होते; वे भावना-ग्रन्थि का रूप धारण कर लेते हैं। इस भावना-ग्रन्थि के कारण ऐसा व्यक्ति उन सभी विषयों से घृणा करने लगता है जो किसी प्रकार के जन्म की बातें करते हैं। इतिहास में मनुष्यजाति के जन्म तथा उसकी वृद्धि का वृत्तान्त रहता है, इससे इस विषय को पढ़ने में ऐसे व्यक्ति को कठिनाई होती है।

देखा गया है कि भारतवर्ष के स्कूलों में पढ़नेवाले सभी बालकों को इतिहास का विषय उतना प्रिय नहीं है जितना कि दूसरे विषय। आज से बीस वर्ष पूर्व का इलाहाबाद विश्वविद्यालय की मैट्रिक परीक्षा का फल देखा जाय तो ज्ञात होगा कि परीक्षा के कठिन से कठिन विषय में जितने लड़के अनुत्तीर्ण होते थे, उतने ही प्रायः इतिहास में होते थे। इसका कारण यह अवश्य था कि परीक्षार्थियों को अंगरेजी भाषा में इतिहास के प्रश्नों का उत्तर देना पड़ता था। किन्तु इसका कारण इतना ही नहीं हो सकता। इतिहास का विषय भी बालकों

को उतनी अच्छी तरह से याद नहीं रहता था, जैसे कि दूसरे विषय याद रहते थे। क्या इसका कारण बालकों के अदृश्य मन में स्थित कोई भावना-ग्रन्थि नहीं है?

तत्त्ववेत्ता शोपेनहावर का कथन है कि हम अपनी बुद्धि से वैसे काम कराने में समर्थ कदापि न होंगे जो हमारी आन्तरिक इच्छा के प्रतिकूल हैं। साधारणतः बुद्धि वही करती है जो इच्छा-शक्ति चाहती है। जब बुद्धि की क्रियाएँ इच्छाशक्ति के प्रतिकूल होती हैं, तो व्यक्तित्व में संघर्ष उपस्थित हो जाता है। किसी मनुष्य के व्यक्तित्व में इस प्रकार के संघर्ष का अधिक देर तक चलने का निश्चित परिणाम विक्षिप्तता होता है। इससे यह स्पष्ट है कि मनुष्य स्वस्थ अवस्था में अपने जीवन की उन घटनाओं का स्मरण न रख सकेगा जो उसके लिए लज्जाजनक हैं और जिनकी याद उसे दुःखप्रद है। इसके प्रतिकूल जो घटनाएँ उसके गौरव को बढ़ानेवाली हैं तथा जिनकी स्मृति उसके मन को प्रफुल्लित कर देती है, उन्हें वह भले प्रकार से स्मरण रक्खेगा। अर्थात् मनुष्य की बुद्धि घटनाओं को स्मरण रखने में उसकी आन्तरिक इच्छाओं की ही पूर्ति करती है।

अब हम यदि इस सिद्धान्त को भारतवर्ष के विद्यार्थियों के इतिहास-स्मरण करने में लागू करें तो क्या हम यह नहीं देखते कि जिस इतिहास को हम पढ़ते हैं वह हमारे गौरव को बढ़ानेवाला न होकर मन में आत्म-ग्लानि और दुःख को उत्पन्न करता है? यदि विदेशियों द्वारा लिखे गये भारतवर्ष के इतिहास की तुलना हम दूसरे देशवासियों द्वारा लिखे गये उनके देश के इतिहासों से करें तो हम यह भलीभाँति देखे लेंगे कि हमारे बालकों का इतिहास के स्मरण न रख सकने का क्या कारण है। जब कोई देशभक्त अपने देश का इतिहास लिखता है. तो उसका हृदय उस इतिहास के लिखते समय प्रेम के भावों से रञ्जित हो जाता है। वह अपनी जाति के सद्गुणों को पाठकों के समक्ष रखता है, जिससे उस जाति के प्रति उनका प्रेम दृढ़ हो जाता है। वास्तव में जिस प्रकार की 'वैज्ञानिक दृष्टि' विदेशी इतिहासकार भारतवर्ष का इतिहास लिखने में रखते हैं, विरला ही इतिहास-लेखक अपने देश का इतिहास लिखने में रखता होगा। एक देशभक्त इतिहासकार अपनी जाति तथा देश का इतिहास लिखकर देश और जाति के प्रति प्रेमोद्गार उभाड़ता है और इस प्रकार उस देश के बालकों में देशभक्ति तथा जातिभक्ति के भाव भरता है। विदेशी इतिहासकार की वैसी सद्भावना हमारे देश के प्रति कदापि नहीं हो सकती जैसी कि एक देशभक्त इतिहासकार की हो सकती है। वे जाने-अनजाने अपमानसूचक शब्द हमारे प्रतिष्ठित पूर्वजों के सम्बन्ध में कह देते हैं। हमारे सम्मानित देशभक्त और

हिन्दू-संस्कृति-रक्षक शिवाजी महाराज को कुछ इतिहासकारों ने 'राबर चीफ्टेन' (डाकुओं का सरदार) की उपाधि दी है। जिन भारतीय बालकों के हृदय में किंचित् भी देशभक्ति होगी वे भला इस प्रकार के कड़ुये घूँट कैसे पी सकेंगे ? फिर जिन लोगों के साथ से हमारे पूर्वज अपमानित हुए, उनके गुणों की वार्ता हमारे बालकों को स्मरण करनी पड़ती है। ऐसे कार्य बुद्धि कैसे कर सकती है ?

यदि हम चाहते हैं कि बालक अपने देश के इतिहास को पढ़ने में सुयोग्य बनें तो हमें उस इतिहास को भी सुधारना चाहिये। यह हमारे सौभाग्य की बात है कि वर्तमान काल में ऐसे अनेक भारतीय इतिहासकार कार्य कर रहे हैं जिनके हृदय में देशभक्ति के भाव हैं और जो पुरानी संस्कृति को श्रद्धा की दृष्टि से देखते हैं। उन्हें यह विश्वास है कि भारत का भविष्य उज्ज्वल है। उनके मार्ग में अनेक बाधाएँ अवश्य हैं किन्तु ये बाधाएँ धीरे-धीरे दूर हो रही हैं। इन बाधाओं के हटते ही इतिहास का विषय बालकों के लिए रोचक हो जायगा।

सोलहवाँ प्रकरण

कल्पना[1]

कल्पना-शक्ति का स्वरूप

कल्पना उस मानसिक शक्ति का नाम है जिनके द्वारा प्रत्यक्ष किये गये अनुभव का ज्ञान हमें उस अनुभव की अनुपस्थिति में होता है। विलियम जेम्स के अनुसार जब हमें कोई भी इन्द्रिय-ज्ञान होता है तो हमारे मस्तिष्क के स्नायु इस प्रकार प्रभावित हो जाते हैं कि बाह्य पदार्थ के अभाव में हम उस पदार्थ का चित्र देखने लगते हैं। हम अपने संस्कारों के आधार पर ही पुराने अनुभव को मानस-पटल पर चित्रित कर सकते हैं।*

काल्पनिक पदार्थ कई प्रकार के होते हैं। जिस इन्द्रिय द्वारा किसी प्रत्यक्ष-ज्ञान का अनुभव होता है, उसी इन्द्रिय-ज्ञान से सम्बन्धित कल्पना-पदार्थ भी होता है। किन्तु साधारणतः हमारी कल्पना में अनेक इन्द्रिय-ज्ञान का सम्मिश्रण होता है। जो हम देखते हैं, सुनते हैं, स्पर्श करते हैं और सूँघते हैं, अथवा जो ज्ञान हम किसी पदार्थ को इधर-उधर हिला-डुलाकर, उठाकर या छूकर प्राप्त करते हैं वह सब ज्ञान एक दूसरे में सम्मिश्रण होकर ही पदार्थ-ज्ञान होता है। हम जब इस प्रकार के पदार्थ-ज्ञान की कल्पना करते हैं तो उस कल्पना में सब प्रकार का ज्ञान सम्मिश्रित रहता है; किन्तु किसी विशेष प्रकार के ज्ञान की प्रधानता रहती है। कभी-कभी यह भी होता है कि हमें किसी विशेष पदार्थ की एक प्रकार की कल्पना तो हो और दूसरे प्रकार की न हो। यदि हमारे किसी इन्द्रिय में दोष हो तो हम उस इन्द्रिय के द्वारा होनेवाले पदार्थ-ज्ञान की कल्पना न कर सकेंगे। अन्धे को किसी पदार्थ के रूप-रंग की कल्पना तथा बहरे को शब्द की कल्पना नहीं हो सकती।

---

1. Imagination.

* *Sensation, once experienced, modify the nervous organism*, so that copies of them arise again in the mind after the original outward stimulus is gone. No mental copy, however, can arise in the mind of any kind of sensation which has never been directly excited from without.—James, **Principles of Psychology, Vol. II. p. 44.**

मनोविकास में कल्पना का महत्त्व

प्रत्येक व्यक्ति के मानसिक विकास के लिए कल्पना की वृद्धि होना आवश्यक है। मनुष्यों और पशुओं में एक मुख्य भेद यह है कि पशुओं में कल्पना-शक्ति का अभाव होता है। पशु अपने भूतकाल के अनुभवों को थोड़ा-बहुत अवश्य अपने मानस-पटल पर चित्रित कर सकते हैं किन्तु उनका चित्रण अस्पष्ट होता है। इस कारण उनके जीवन में इस कल्पना का अधिक उपयोग नहीं होता। पशु भविष्य में होनेवाली घटनाओं के विषय में कुछ सोच ही नहीं सकता। भावी घटनाओं के बारे में सोचने के लिए कल्पना-शक्ति की अभिवृद्धि की आवश्यकता होती है। जो अपने पुराने अनुभवों का भलीभाँति उपयोग करना चाहता है उसे मानस-पटल पर चित्रण करना पड़ता है तभी वह उन अनुभवों के आधार पर नई सृष्टि कर सकता है।

मनुष्य की कल्पना-शक्ति उसको नई बात के सीखने में अधिक सहायता देती है। पशुओं का सीखना प्रयत्न और भूल के तरीकों से ही होता है। पशु को यदि किसी नई परिस्थिति में रक्खा जाय तो वह यह नहीं विचार कर सकता कि उसे क्या करना चाहिए। वह जब तक एक अन्धे के समान टटोल-टटोलकर अपना मार्ग नहीं खोज लेता तब तक उसे कुछ सूझ नहीं पड़ता। किन्तु मनुष्य अपनी कल्पना के आधार पर किसी क्रिया के भावी परिणामों को चित्रित कर लेता है। इस तरह जिन क्रियाओं के परिणाम उसे हानिकर प्रतीत होते हैं, उन्हें करना वह छोड़ देता है। मनुष्य प्रयत्न और भूलों के तरीकों से ही नहीं सीखता किन्तु विचार और कल्पना के द्वारा भी काम करना सीखता है और इन्हीं के आधार पर उसे सफलताएँ प्राप्त होती हैं। कल्पना के आधार पर मनुष्य वर्षों के बाद होनेवाली भावी घटनाओं का निश्चय कर लेता है। इंजीनियर बड़े-बड़े मकान बनाने के पहले उन्हें अपनी कल्पना में बनाता है। सामाजिक और राजनैतिक नेता कार्य के सुदूर भावी परिणाम को पहले से ही चित्रित कर लेते हैं। वास्तव में तीव्र कल्पनावाले राजनैतिक एवं सामाजिक नेता को ही हम दूरदर्शी कहते हैं।

कल्पना के आधार पर ही विचारों का विकास होता है। जब बालक में पुराने अनुभवों को कल्पना द्वारा मन में चित्रित करने की शक्ति आ जाती है तो उसमें उस अनुभव के मर्म को समझने की शक्ति का भी विकास होता है; अर्थात् वह तर्क करने लगता है और पुराने अनुभव के आधार पर जीवन के कुछ मौलिक सिद्धान्त बनाता है। ये सिद्धान्त उसके दूसरे कार्यों को सफल बनाने में सहायक होते हैं।

जब हमारी चेतना का विकास होता है, तब हमारे मन में अनेक प्रकार की कल्पनाएँ उठती रहती हैं। कल्पना का आधार अतीत अनुभव होता है। पर उसका लक्ष्य भविष्य की सृष्टि निर्माण करना होता है। कल्पना और स्मृति में यह भेद है कि जहाँ स्मृति पुराने अनुभवों को ही मन में दुहराती है, वहाँ कल्पना एक नयी सृष्टि की रचना करती है।

यह रचना किसलिए होती है? यदि इस रचना का कुछ लक्ष्य न हो तो अवश्य ही वह निर्मूल होगी। पर वास्तव में हमारी मानसिक क्रियाएँ लक्ष्यहीन नहीं होतीं। कल्पना का लक्ष्य या तो कल्पना-जगत् की सृष्टि ही करना होता है, अथवा कल्पना में सृजन किये हुए जगत् को वास्तविकता में परिणत करना होता है। अधिकतर हमारी कल्पना दूसरे ही प्रकार की होती है। हाँ, कुछ ऐसी कल्पनाएँ अवश्य हैं, जिनका लक्ष्य वास्तविकता में परिणत होने लायक होने पर भी उनको परिणत करने का प्रयत्न नहीं किया जाता। पर इतना तो निश्चित है कि हम वास्तविक जगत् में ऐसी सृष्टि नहीं कर सकते हैं, जिसकी हमने कल्पना न की हो। श्रीमती निवेदिता का कथन है कि जिस व्यक्ति ने कल्पना में महल नहीं बनाये, उसे वास्तविक महल की उपलब्धि कदापि नहीं हो सकती।

एक विचारवान् अँगरेज लेखक का कथन है कि वायुयान की सृष्टि हमारे स्वप्न में उड़ने के अनुभव से हुई। जब स्वप्न में अनुभव किये हुए पदार्थों में इतनी शक्ति है कि वास्तविकता में अवतीर्ण हो सकते हैं, तो काल्पनिक पदार्थों के वास्तविकता में अवतीर्ण हो सकने में सन्देह ही क्यों होना चाहिये? *कल्पना की क्रियाओं का एक प्राकृतिक नियम है कि साधारणतः* मनुष्य निरर्थक कल्पना नहीं करता अर्थात् उसे इस प्रकार की कल्पना नहीं आती जो कि उसकी पहुँच के बिल्कुल ही बाहर हो। एक घसियारा यह नहीं कल्पना करता कि वह राजा बन जायेगा, पर जिस राजा का राज्य छीन लिया जाता है, वह अपने राज्य के वापस पाने की कल्पना प्रतिक्षण किया करता है। जिस विद्यार्थी में क्लास की परीक्षा में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण होने की योग्यता नहीं होती है वह यह कल्पना नहीं करता कि मैं क्लास में सर्वप्रथम आऊँगा।

जो कल्पना बहुत ही स्पष्ट, रोचक तथा स्वभावानुकूल होती है, वह मनुष्य को तदनुकूल कार्य में भी लगा देती है। हमारे कितने कार्य ऐसे होते हैं, जो विचारों की दृढ़ता के कारण अपने आप ही होने लगते हैं। वास्तव में हर एक कल्पना में कार्यान्वित होने की शक्ति निहित रहती है। उसकी यह शक्ति दूसरी भावनाओं के कारण कार्यान्वित होने नहीं पाती। यदि तत्परता से कोई कल्पना हम अपने मन में लावें, तो कालान्तर में देखेंगे कि हम वास्तविक जगत् में

उसी प्रकार का आचरण करने लगे हैं। हमारी कल्पना वास्तविकता में परिणत हो जाती है।

यदि हमको किसी मनुष्य के बारे में जानना है कि वह भविष्य में क्या करेगा, तो हमें उसकी कल्पना का अध्ययन करना चाहिये। हमारी कल्पना हमारे सामर्थ्य के अनुसार होती है; यह बात ऊपर कही जा चुकी है। जैसे-जैसे हमारे सामर्थ्य में विकास होता जाता है, हमारी कल्पना-शक्ति भी उसी प्रकार अनेकानेक सुयोग्य पदार्थों का निर्माण करती है। यदि किसी व्यक्ति ने किसी विशेष बात के बारे में सोचा ही नहीं है, तो वह उसे मिलेगी कैसे ?

जिस प्रकार हमारे क्रियात्मक जगत् में कल्पना का प्रमुख स्थान है, उसी प्रकार हमारे वास्तविक जगत् के ज्ञान में भी कल्पना की भारी आवश्यकता है। मनोविज्ञान का कथन है कि प्रत्यक्ष-ज्ञान में नवदशांश अनुमान रहता है। हम जिन वस्तुओं को देखते हैं और उनके बारे में हम जो धारणा करते हैं, वह कल्पना के आधार पर ही। जिस तरह वर्तमानकाल का ज्ञान भूत और भविष्यत् के आधार पर होता है उसी प्रकार हमारा प्रत्यक्ष-ज्ञान हमारी स्मृति और कल्पना के द्वारा ही होता है। अतएव इस कथन में भारी मनोवैज्ञानिक सत्य है कि हम वस्तुओं को वैसी नहीं देखते हैं जैसी वे हैं, वरन् जैसे हम हैं। हमारे काल्पनिक जगत् और वास्तविक जगत् में इतना सम्मिश्रण हो जाता है कि कल्पना के भाग को वास्तविक अनुभव से पृथक् करना साधारण मनुष्य के लिए असम्भव है।

जिन व्यक्तियों की कल्पना-शक्ति प्रबल नहीं होती, वे वास्तविक जगत् का ज्ञान भलीभाँति नहीं प्राप्त कर सकते। हम सभी संसार को देखते हैं। क्या हमने संसार को उतना देखा है जितना कि कालिदास, तुलसीदास अथवा बंकिम-चन्द्र चट्टोपाध्याय ने देखा था ? उनकी कल्पना ने ही संसार को एक विशेष प्रकार का स्वरूप दिया है। संसार के कवि और साहित्यिक ही हमें वास्तविक जगत् का दर्शन कराते हैं। जिन पाठकों ने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संसार के उप-न्यासों को पढ़ा है, वे इस निष्कर्ष पर अवश्य पहुँचेंगे कि उपन्यासकार हमें संसार से जितना परिचित कराता है उतना परिचय स्वतन्त्र बुद्धि से प्राप्त करना असम्भव है। हमारी देखी हुई कितनी ही चीजें अनदेखी रह जाती हैं। दूसरे अनेक चीजों पर दृष्टिपात करने का अवकाश भी हमें कम रहता है। लोगों का कथन है कि उपन्यासकार वास्तविक जगत् से अपने पात्रों का चित्रण करता है। जिसे वास्तविकता का परिचय नहीं, वह उपन्यासकार की कृति का मू...

भाँति नहीं समझ सकता। पर सच तो यह है कि हममें से अनेक लोगों को वास्तविकता का परिचय कलाकार ही कराता है।

कल्पना वास्तविक जगत् की मौलिकता को बढ़ाती है। जिस व्यक्ति की जिस प्रकार की कल्पना होती है, उसको उसी प्रकार का संसार दिखाई देता है। हम अपनी कल्पना द्वारा वास्तविक संसार के कष्टों को सरलता से निवारण कर सकते हैं तथा दुःखों में रहकर सुखों का आनन्द ले सकते हैं।

बाल्यजीवन में कल्पना का महत्त्व—बालक के जीवन में कल्पना का बड़ा महत्त्व है। बालक के सुख की सामग्री परिमित होती है तथा उस सामग्री के उपार्जन करने की शक्ति भी परिमित ही होती है। बालक अपनी इच्छाओं को तृप्त करने के लिए सदा दूसरे लोगों पर आश्रित रहता है। उसे मनमाना यहाँ-वहाँ घूमने की स्वतन्त्रता भी नहीं रहती। ऐसी अवस्था में कल्पना ही उसके जीवन के सुख का सहारा होती है। कल्पना से ही उसे जीवन में सरसता प्राप्त होती है। बालक को जब भूख लगती है और उसको मनमानी चीज खाने को नहीं मिलती तो वह बासी रोटी को हलुआ-पूरी के स्वाद से खा लेता है। उसके भोजन में जो कमी रहती है उसकी पूर्ति वह अपनी कल्पना के जादू से कर लेता है। बालक की कल्पना इतनी सजीव होती है कि उसके लिए काल्पनिक और वास्तविक पदार्थ में अधिक भेद नहीं रहता। जब बालक एक लकड़ी को अपने पैरों के बीच लेकर जोर से दौड़ता है तो उसे उसी तरह के आनन्द का अनुभव होता है जैसा एक घुड़सवार को घोड़े की सवारी करने पर होता है। जब बालक यह कहता है—

बड़ा तेज है मेरा घोड़ा,
छू होता देखते कोड़ा।
दाना घास कभी नहिं खाता,
दूर-दूर की दौड़ लगाता।

तो उसे अपने उस आनन्द के अनुभव की याद आ जाती है, जो उसने अपने काल्पनिक घोड़े पर सवार होते समय प्राप्त किया था। बालक कल्पना के द्वारा अपनी खटोली को राजा की पालकी बना लेता है और उसमें बैठकर राजा की भाँति देश-विदेश की सैर करता है। उसका पालना ही उसकी मोटर बन जाती है। वह कल्पना के द्वारा ही सिपाही, डाक्टर, राजा इस प्रकार के अनेक स्वांग रचता है। इस तरह वह अपने नीरस जीवन को सरस तथा आनन्दमय बना लेता है। जब कोई बलवान् व्यक्ति बालक को मार देता है तो वह अपने कल्पनाजगत् में उसकी खूब कसर निकालता है।

कल्पना में वैयक्तिक भेद

सधारणतः प्रत्येक व्यक्ति में सब प्रकार की इन्द्रियों के ज्ञान को कल्पना में लाने की शक्ति होती है, किन्तु इसमें वैयक्तिक भेद अवश्य होता है। किसी की कल्पना अधिक सजीव होती है और किसी की कम। साधारणतः स्त्रियों की कल्पना पुरुषों की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है; भाव-प्रधान व्यक्तियों की कल्पना विचार-प्रधान व्यक्तियों की अपेक्षा तीव्र होती है। इसी तरह जिन व्यक्तियों का अधिक समय चिन्तन में जाता है, उनकी तुलना में साधारण लोगों की दृष्टि-कल्पना अधिक तीव्र होती है। चिन्तनशील व्यक्ति अधिकतर अपने विचार शब्दों के आधार पर करते हैं अतएव वे देखे हुए पदार्थ का चित्रण अपने मानस-पटल पर भलीभाँति नहीं कर पाते। गैल्टन का कथन है कि अधिक वैज्ञानिकों की दृष्टि-कल्पना की शक्ति परिमित होती है। इसका प्रधान कारण यह है कि वैज्ञानिकों को इस प्रकार की कल्पना की अपने चिन्तन में आवश्यकता ही नहीं पड़ती। जिस मानसिक शक्ति का हम उपयोग नहीं करते उसका ह्रास अपने आप ही हो जाता है। इस तरह वैज्ञानिकों की दृष्टि-कल्पना की शक्ति का ह्रास हो जाता है।* डारविन ने अपने एक लेख में खेद के साथ प्रकट किया है कि मैं संगीत के रस का आस्वादन नहीं कर सकता। इसी तरह गम्भीर दार्शनिकों में कविता-रस के आस्वादन की शक्ति नहीं रहती। इस शक्ति के नष्ट हो जाने का कारण उसको उपयोग में न लाना ही है।

डारविन जैसे मनीषी सदा वैज्ञानिक खोजों में लगे रहते थे। उन्हें संगीत

---

* गैल्टन महाशय का कथन उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—

"Scientific men, as a class have feeble powers of visual representation. There is no doubt whatever on the latter point, however it may be accounted for. My own conclusion is that an ever ready perception of sharp mental pictures is antagonistic to the acquirement of habits of highly generalised and abstract thought, especially when the steps of reasoning are carried on by words as symbols, and that if the faculty of seeing the pictures was ever possessed by men who think hard, it is very apt to be lost by disuse. The highest minds are probably those in which it is not lost but subordinated, and is ready for use on suitable occasions."

James, Principles of Psychology. Vol. II. p. 53.

के स्वरों पर विचार करने का अवसर ही कब मिलता था ! और वे कब संगीत के आनन्द का उपयोग करने के लिए अपना समय देते थे ! अतएव उसका यह सहज परिणाम है कि वे संगीत के आनन्द से सदा के लिए वंचित हो गये।

उपर्युक्त कथन से हमें यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए कि बालक की किसी प्रकार की कल्पना-शक्ति को हम बिल्कुल बेकार न रहने दें। यदि बालकों की बढ़ती हुई कल्पना-शक्ति पर ध्यान न दिया जायगा तो वे उसे सदा के लिए खो देंगे। हमें बालकों के देखे और सुने हुए पदार्थों का उनसे वर्णन कराना चाहिए और अनेक प्रकार के प्रश्न पूछकर उनकी विभिन्न प्रकार की कल्पना को तीव्र करना चाहिए। बालकों की कल्पना प्रौढ़ लोगों से अधिक सजीव होती है। हमारा कर्तव्य है कि शिक्षा द्वारा बालकों की हर प्रकार की कल्पना शक्ति की अभिवृद्धि करें और उसे नष्ट न होने दें।

मनोवैज्ञानिकों ने कल्पना-शक्ति के भेद के अनुसार विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों का वर्गीकरण किया है। कोई-कोई दृष्टि-कल्पना में प्रवीण होते हैं, कोई शब्द-कल्पना में, कोई स्पर्श-कल्पना में, कोई घ्राण-कल्पना में और कोई रस-कल्पना में। साधारणतः सब प्रकार की कल्पना हर एक बालक में होती है। किन्तु वह किसी विशेष प्रकार की कल्पना में दूसरी कल्पनाओं की अपेक्षा प्रवीण हो सकता है। इस बात को विचारते हुए माता-पिता या शिक्षकों का कर्त्तव्य है कि बालक को जब भी किसी प्रकार का ज्ञान दें तो अनेक इन्द्रियों के द्वारा उस वस्तु या विषय की परख करा दें।

यदि हम बालक को कोई नया शब्द पढ़ाते हैं तो हमें बालक के सामने उस शब्द का शुद्ध और स्पष्ट उच्चारण करना चाहिये, फिर उस शब्द का बालक से उच्चारण कराना चाहिये। इसके बाद उसे हमें श्यामपट पर लिखना चाहिये, फिर बालक से उसकी स्लेट पर लिखाना चाहिये। इस तरह जो शब्द बालक के मन पर चित्रित होगा, वह उसकी विभिन्न इन्द्रियों से ज्ञात होने के कारण उसके मन पर स्थायी रूप से अंकित हो जायगा। शब्द के स्मरण करने में उसके सुने जाने के कारण उसका कान सहायता देगा; श्यामपट पर लिखा हुआ देखने के कारण उसकी आँखें सहायता करेंगी; बालक के द्वारा शब्द का उच्चारण किये और लिखे जाने कारण उसकी क्रियात्मक प्रवृत्ति भी उसे याद करने में सहायता देगी। जब हम बालक को इस प्रकार कोई पाठ पढ़ाते हैं तो उसके स्थायी ज्ञान की वृद्धि करते हैं। जो बालक शब्द-कल्पना में प्रवीण होता है वह शब्द के द्वारा उस पाठ को याद रखता है, जो दृष्टि-कल्पना में प्रवीण होता है वह उसके रूप के कारण उसे याद रखता है और जो क्रियात्मक कल्पना में

प्रवीण है वह पाठ को अपने आप पढ़ लेने के अथवा हाथ से लिख लेने के कारण स्मरण रखता है।

संसार के अधिकतर लोग दृष्टि-कल्पना में ही प्रवीण होते हैं; किन्तु कोई-कोई ऐसे भी होते हैं जिनकी शब्द-कल्पना प्रवीण होती है। जब बालक किसी पाठ को स्मरण करता है तो प्रायः आँख से देखी हुई लिपि के सहारे ही उसका स्मरण करता है। किन्तु कुछ बालक ऐसे भी होते हैं जो शब्द के द्वारा पाठ का स्मरण करते हैं। ऐसे बालकों के लिए यह आवश्यक है कि वे पाठ को जोर-जोर से ही पढ़ें। जो शब्द-कल्पना में अधिक प्रवीण होते हैं वे एक बार सुनी बात को नहीं भूलते। मोजार्ट नामक एक व्यक्ति काफी लम्बी-लम्बी किताबों को दो बार सुनकर ही दुहरा देता था। कविवर स्काट की भी ऐसी ही तीव्र कल्पना थी। कहा जाता है कि राजा विक्रमादित्य की सभा में ऐसे कवि थे जो किसी भी नई कविता को एक या दो बार सुनकर तुरन्त दुहरा देते थे। जो व्यक्ति एक विशेष प्रकार की कल्पना में प्रवीण होते हैं वे दूसरे प्रकार की कल्पना में प्रायः निर्बल रहते हैं। ऐसे व्यक्ति जब अपनी विशेष शक्ति को खो देते हैं तो जड़वत् हो जाते हैं।*

अभिभावकों तथा शिक्षकों को चाहिये कि वे प्रत्येक बालक की कल्पना-

---

* यहाँ विलियम जेम्स की 'प्रिन्सिपल्स आफ साइकॉलाजी' (भाग २ पृष्ठ ५८) से निम्नलिखित मनोरंजक दृष्टांत को उद्धृत करना अनुपयुक्त न होगा—

वियेना नगर का एक व्यापारी जर्मन, स्पैनिश, फ्रेञ्च, ग्रीक, लेटिन आदि अनेक भाषाओं का पंडित था। उसकी दृष्टि-कल्पना इतनी तीव्र थी कि जिस पुस्तक को वह एक बार पढ़ता था उसके सब वृत्तान्त तथा उसके पृष्ठ तक उसके मानस-पटल पर भलीभाँति चित्रित हो जाते थे। जिस नाटक को वह पढ़ता था, उसके पात्र उसकी आँखों के सामने नाचने लगते थे। वह देश-देश में भ्रमण करता था। वह जहाँ-जहाँ जाता था वे सब स्थान उसे भलीभाँति याद रहते थे।

इस व्यापारी को एक बार किसी कारण अपने व्यापार के सम्बन्ध में बड़ी चिन्ता हो गई। उसे कई दिनों तक नींद नहीं आई। जब वह इस स्थिति से पार हुआ तो उसने अपने आप में बड़ा भारी परिवर्तन पाया। अब वह किसी देखी हुई चीज को अपनी स्मृति में नहीं ला सकता था। उसकी दृष्टि-कल्पना का बिलकुल ह्रास हो गया। वह अपनी स्त्री और बच्चों तक के चेहरों का स्मरण नहीं कर सकता था। एक बार दर्पण में वह अपना मुँह देख रहा था तो अपने प्रतिबिम्ब से ही इस तरह बातचीत करने लगा मानो किसी दूसरे व्यक्ति

शक्ति की प्रवीणता एवं विशेषता को जान लें और उसका शिक्षा-क्रम तदनुकूल बनावें। जो बालक दृष्टि-कल्पना में प्रवीण हैं वे सुन्दर चित्रकार हो सकते हैं, जो श्रुति-कल्पना में प्रवीण हैं वे संगीत और कविता में प्रतिभाशाली हो सकते हैं। इसी तरह जो बालक नामों तथा शब्दों को भलीभाँति स्मरण रख सकते हैं वे योग्य लेखक, वैज्ञानिक तथा वक्ता बन सकते हैं। बालक की किसी भी पाठ्य-विषय में रुचि उसकी मानसिक योग्यताओं पर निर्भर होती है। बालक का जीवन सफल बनाने के लिए उसकी शिक्षा उसकी रुचि के अनुसार होनी चाहिए। इस प्रकार हम उसकी योग्यताओं का सदुपयोग कर सकते हैं।

कल्पना के प्रकार

मनोवैज्ञानिकों ने कल्पना को निम्नलिखित रीति से विभिन्न प्रकारों में विभाजित किया है—

से बातें कर रहा हो। उसे सुनी हुई बातें याद रहती थीं पर देखी हुई सभी बातें वह भूल जाता था।

इस व्यापारी को अपना जीवन नई रीति से व्यतीत करना पड़ा। उसे अपनी शब्द-कल्पना बढ़ानी पड़ी और उसके सहारे फिर वह जीवन का काम चलाने लगा।

1. Reproductive. 2. Productive. 3. Receptive. 4. Inventive (constructive). 5. Pragmatic (practical). 6. Artistic (creative). 7. Fantastic (fanciful).

कल्पना शब्द से हमें उस मानसिक क्रिया का बोध होता है जो प्रत्यक्ष पदार्थ की अनुपस्थिति में मनुष्य के मन में हुआ करती है; अर्थात् किसी भी अनुभव का पुनः मानस-पटल पर चित्रित होना कल्पना कहा जाता है। कल्पना शब्द के वृहत् अर्थ में और रचनात्मक कल्पना दोनों का समावेश होता है। किंतु संकुचित अर्थ में कल्पना शब्द से उसी क्रिया का बोध होता है जो पुराने अनुभव के आधार पर नवीन मानसिक रचना के रूप में की जाती है। हम यहाँ उपर्युक्त सभी प्रकार की कल्पना के विषय में क्रमशः विचार करेंगे।

पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना—पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना वह है जिसमें हम पुराने अनुभव को ज्यों का त्यों मानस-पटल पर चित्रित करते हैं। मनुष्य अपनी वृद्धावस्था में इन्द्रियों के शिथिल होने पर अपने पुराने अनुभवों को दुहराया करता है। उसी तरह हम जब कोई बड़ा काम करते हैं तो उस काम से सम्बन्धित अनेक घटनाओं का चित्रण होता रहता है। इस क्रिया को हम स्मरण भी कह सकते हैं किन्तु स्मरण और पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना में यह भेद है कि स्मृति का पदार्थ चुना हुआ होता है। परन्तु पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना का पदार्थ इस प्रकार चुना नहीं जाता। कोई-कोई लेखक पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना में स्मृति का भी समावेश करते हैं। इस प्रकार देखा जाय तो बालक की कल्पनाशक्ति की वृद्धि करने में उसकी प्रायः सभी मानसिक शक्तियों की वृद्धि होती है।

पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना की वृद्धि के लिए आवश्यक है कि हम बालकों से उन अनुभवों के बारे में प्रश्न करें जो उन्हें हाल में हुए हों। जब बालकों को किसी स्थान पर भ्रमण के लिए ले जाया जावे तो उस स्थान से लौटने पर हमें उनसे अनेक प्रकार के प्रश्न करने चाहिये जिससे बालकों को पुराने अनुभव को दोहराने की आवश्यकता पड़े। हम इस तरह की परीक्षा करने पर देखेंगे कि बालक न तो नये स्थान के हर एक पदार्थ को देखता ही है और न उसकी अनुभूति के अनेक पदार्थ मानस-पटल पर देरी तक स्थिर ही रहते हैं। जिस प्रकार हमारा प्रत्यक्ष अनुभव हमारी रुचि के ऊपर अवलम्बित है उसी प्रकार किसी भी अनुभव का मानस-पटल पर पुनः चित्रित होना रुचि पर ही निर्भर रहता है। जैसे-जैसे बालक की रुचि में विकास होता है, उसकी कल्पना-शक्ति भी विकसित होती है। हम अपने प्रयत्नों से इस विकास में सहायता कर सकते हैं। बालकों से पुराने अनुभव के विषय में प्रश्न करना इस प्रकार की सहायता है।

रचनात्मक कल्पना—रचनात्मक कल्पना पुनरावृत्त्यात्मक कल्पना से बिल्कुल भिन्न है। रचनात्मक कल्पना का आधार पुराना अनुभव

किन्तु रचित पदार्थ एक प्रकार से बिल्कुल नवीन होता है। जिस तरह हम एक इमारत को गिराकर उसके ईंट-पत्थर से नई इमारत तैयार कर लेते हैं इसी तरह हम पुराने अनुभव की सामग्री लेकर नई कल्पना का सृजन करते हैं। वास्तव में ऐसी ही कल्पना को उसके यथार्थ अर्थ में कल्पना कहा जा सकता है।

इस प्रकार की कल्पना का मनुष्य के जीवन में बड़ा महत्व है। इसी कल्पना के आधार पर हम भविष्य के विषय में अनेक प्रकार की बातें सोच सकते हैं तथा अपने मनोरंजन के लिए विचित्र प्रकार की सृष्टि कर लेते हैं। जब हम किसी कार्य का प्रोग्राम बनाते हैं तो अपनी रचनात्मक कल्पना से काम लेते हैं। पशु मनुष्य की अपेक्षा ऐसी कल्पना-शक्ति में निर्बल रहता है। अतएव वह भविष्य के बारे अपने कार्यों का कोई प्रोग्राम नहीं बना सकता। रचनात्मक कल्पना ही हमारे अनेक प्रकार के आनन्दों का स्रोत है।

ग्रहणात्मक कल्पना—ग्रहणात्मक कल्पना रचनात्मक कल्पना का एक प्रकार है। बालक में कल्पना का उदय पहले पहल प्रायः ग्रहणात्मक कल्पना के रूप में ही होता है। इस कल्पना के द्वारा बालक दूसरे लोगों के विचारों के सहारे काल्पनिक पदार्थ की सृष्टि करता है। हम जब बालक से कोई किस्सा-कहानी कहते हैं तो वह हमारे कहे हुए शब्दों के आधार पर उस स्थिति को अपने मानस-पटल पर चित्रित करता है जो कि हमारी कहानी में वर्णित है। हम जब किसी कविता को पढ़ते हैं तो उस कविता के रस का आस्वादन अपनी ग्रहणात्मक कल्पना-शक्ति की सहायता से ही करते हैं। कविता के पढ़ते समय कवि की कल्पना हमारी कल्पना बन जाती है। इसी तरह जब कोई व्यक्ति किसी संवेगपूर्ण घटना को हमारे सामने शब्दों में चित्रित करता है तो हम अपनी ग्रहणात्मक कल्पना के सहारे घटना का चित्रण करनेवाले व्यक्ति के अनुभव को अपना अनुभव बना लेते हैं। बालकों से जब कहानियाँ कही जाती हैं तो उनके मन में तदनुरूप कल्पना का उदय हो जाता है और उनके मन में वे संवेग चलने लगते हैं जो उस कल्पना की सृष्टि के अनुकूल होते हैं।

आविष्कारात्मक कल्पना—जीवन में कल्पना की वास्तविक उपयोगिता हम आविष्कारात्मक कल्पना में देखते हैं। आविष्कारात्मक कल्पना करनेवाला व्यक्ति दूसरों की कल्पना के आधार पर अपनी कल्पना के जगत् का निर्माण नहीं करता, किन्तु वह अपने अनुभव के आधार पर ही एक स्वतन्त्र काल्पनिक जगत् का निर्माण करता है। जीवन की साधारण समस्याओं को सुलझाने के

लिए आविष्कारात्मक कल्पना की आवश्यकता होती है। यदि बालक को बाजार में जाकर अपनी किताब और पैन्सिल किसी दूकान से खरीदनी है तो इसके लिए आविष्कारात्मक कल्पना की आवश्यकता होती है। जो व्यक्ति अपने प्रतिदिन के कार्यों में अपनी कल्पना से काम नहीं लेता वह अन्धे के समान टटोल-टटोलकर संसार में भ्रमण करता है।

जिस प्रकार आविष्कारात्मक कल्पना हमको हमारे जीवन की साधारण समस्याओं के सुलझाने में सहायता देती है उसी तरह उसे सरस बनाने में भी सहायक होती है। आविष्कारात्मक कल्पना के आधार पर ही कला का निर्माण होता है। जो आविष्कारात्मक कल्पना हमारे साधारण जीवन के व्यवहारों में सहायक होती है, उसे व्यवहारात्मक कल्पना कहा जाता है तथा जो कल्पना अपने मानसिक आनन्द की वृद्धि के लिए की जाती है उसे स्फूर्तिजन्य एवं कलामयी कल्पना कहा जाता है। कलामयी कल्पना में कवि अपने बनाये हुए विशिष्ट नियमों से पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं होती। जब किसी व्यक्ति की कल्पना का वास्तविकता से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जाता और न वह किसी नियम का पालन ही करता है, तो उस कल्पना को मनोराज्यमयी कहते हैं।

बालक के काल्पनिक साथी

प्रत्येक बालक चार-पाँच वर्ष की अवस्था से काल्पनिक साथी की भावना करने लगता है। इस काल्पनिक साथी की प्रतिमा बालक के मन में इतनी सजीव होती है कि वह अपने अनेक कामों में उसको अपने साथ देखता है। बालक कभी-कभी उसके साथ खेलता, खाता और सोता तक है, कहीं जाते समय उससे सलाह भी ले लेता है। जो बालक अकेला रहता है वह दूसरे बालकों के साथ रहनेवाले बालकों की अपेक्षा अपने काल्पनिक साथी पर अधिक आश्रित रहता है। कभी-कभी बालक अपने काल्पनिक साथी को कुछ भेंट देता है। यदि कोई बड़ा आदमी इस भेंट की वस्तु को बिगाड़ दे तो बालक उसी प्रकार दुखी होता है, जैसा कि हम अपने मित्र को समर्पित वस्तु के बिगाड़े जाने से दुखी होते हैं। बालक अपने इस साथी का मनमौजी नाम भी रख लेता है। यदि किसी प्रकार इस साथी को कष्ट पहुँचता है तो बालक को बड़ा दुःख हो जाता है।

बालक का इस प्रकार काल्पनिक साथी का मानना स्वाभाविक है। छोटी अवस्था में यह उसके मनोविकास के लिए हानिकर नहीं है। किन्तु अधिक

किन्तु रचित पदार्थ एक प्रकार से बिल्कुल नवीन होता है। जिस तरह हम एक इमारत को गिराकर उसके ईंट-पत्थर से नई इमारत तैयार कर लेते हैं इसी तरह हम पुराने अनुभव की सामग्री लेकर नई कल्पना का सृजन करते हैं। वास्तव में ऐसी ही कल्पना को उसके यथार्थ अर्थ में कल्पना कहा जा सकता है।

इस प्रकार की कल्पना का मनुष्य के जीवन में बड़ा महत्व है। इसी कल्पना के आधार पर हम भविष्य के विषय में अनेक प्रकार की बातें सोच सकते हैं तथा अपने मनोरंजन के लिए विचित्र प्रकार की सृष्टि कर लेते हैं। जब हम किसी कार्य का प्रोग्राम बनाते हैं तो अपनी रचनात्मक कल्पना से काम लेते हैं। पशु मनुष्य की अपेक्षा ऐसी कल्पना-शक्ति में निर्बल रहता है। अतएव वह भविष्य के बारे अपने कार्यों का कोई प्रोग्राम नहीं बना सकता। रचनात्मक कल्पना ही हमारे अनेक प्रकार के आनन्दों का स्रोत है।

ग्रहणात्मक कल्पना—ग्रहणात्मक कल्पना रचनात्मक कल्पना का एक प्रकार है। बालक में कल्पना का उदय पहले पहल प्रायः ग्रहणात्मक कल्पना के रूप में ही होता है। इस कल्पना के द्वारा बालक दूसरे लोगों के विचारों के सहारे काल्पनिक पदार्थ की सृष्टि करता है। हम जब बालक से कोई किस्सा-कहानी कहते हैं तो वह हमारे कहे हुए शब्दों के आधार पर उस स्थिति को अपने मानस-पटल पर चित्रित करता है जो कि हमारी कहानी में वर्णित है। हम जब किसी कविता को पढ़ते हैं तो उस कविता के रस का आस्वादन अपनी ग्रहणात्मक कल्पना-शक्ति की सहायता से ही करते हैं। कविता के पढ़ते समय कवि की कल्पना हमारी कल्पना बन जाती है। इसी तरह जब कोई व्यक्ति किसी संवेगपूर्ण घटना को हमारे सामने शब्दों में चित्रित करता है तो हम अपनी ग्रहणात्मक कल्पना के सहारे घटना का चित्रण करनेवाले व्यक्ति के अनुभव को अपना अनुभव बना लेते हैं। बालकों से जब कहानियाँ कही जाती हैं तो उनके मन में तदनुरूप कल्पना का उदय हो जाता है और उनके मन में वे संवेग चलने लगते हैं जो उस कल्पना की सृष्टि के अनुकूल होते हैं।

आविष्कारात्मक कल्पना—जीवन में कल्पना की वास्तविक उपयोगिता हम आविष्कारात्मक कल्पना में देखते हैं। आविष्कारात्मक कल्पना करनेवाला व्यक्ति दूसरों की कल्पना के आधार पर अपनी कल्पना के जगत् का निर्माण नहीं करता, किन्तु वह अपने अनुभव के आधार पर ही एक स्वतन्त्र काल्पनिक जगत् का निर्माण करता है। जीवन की साधारण समस्याओं को सुलझाने के

लिए आविष्कारात्मक कल्पना की आवश्यकता होती है। यदि बालक को बाजार में जाकर अपनी किताब और पैन्सिल किसी दूकान से खरीदनी है तो इसके लिए आविष्कारात्मक कल्पना की आवश्यकता होती है। जो व्यक्ति अपने प्रतिदिन के कार्यों में अपनी कल्पना से काम नहीं लेता वह अन्धे के समान टटोल-टटोलकर संसार में भ्रमण करता है।

जिस प्रकार आविष्कारात्मक कल्पना हमको हमारे जीवन की साधारण समस्याओं के सुलझाने में सहायता देती है उसी तरह उसे सरस बनाने में भी सहायक होती है। आविष्कारात्मक कल्पना के आधार पर ही कला का निर्माण होता है। जो आविष्कारात्मक कल्पना हमारे साधारण जीवन के व्यवहारों में सहायक होती है, उसे व्यवहारात्मक कल्पना कहा जाता है तथा जो कल्पना अपने मानसिक आनन्द की वृद्धि के लिए की जाती है उसे स्फूर्तिजन्य एवं कलामयी कल्पना कहा जाता है। कलामयी कल्पना में कवि अपने बनाये हुए विशिष्ट नियमों से पूर्णतः स्वतन्त्र नहीं होती। जब किसी व्यक्ति की कल्पना का वास्तविकता से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह जाता और न वह किसी नियम का पालन ही करता है, तो उस कल्पना को मनोराज्यमयी कहते हैं।

बालक के काल्पनिक साथी

प्रत्येक बालक चार-पाँच वर्ष की अवस्था से काल्पनिक साथी की भावना करने लगता है। इस काल्पनिक साथी की प्रतिमा बालक के मन में इतनी सजीव होती है कि वह अपने अनेक कामों में उसको अपने साथ देखता है। बालक कभी-कभी उसके साथ खेलता, खाता और सोता तक है, कहीं जाते समय उससे सलाह भी ले लेता है। जो बालक अकेला रहता है वह दूसरे बालकों के साथ रहनेवाले बालकों की अपेक्षा अपने काल्पनिक साथी पर अधिक आश्रित रहता है। कभी-कभी बालक अपने काल्पनिक साथी को कुछ भेंट देता है। यदि कोई बड़ा आदमी इस भेंट की वस्तु को बिगाड़ दे तो बालक उसी प्रकार दुखी होता है जैसा कि हम अपने मित्र को समर्पित वस्तु के बिगाड़े जाने से दुखी होते हैं। बालक अपने इस साथी का मनमौजी नाम भी रख लेता है। यदि किसी प्रकार इस साथी को कष्ट पहुँचता है तो बालक को बड़ा दुःख हो जाता है।

बालक का इस प्रकार काल्पनिक साथी का मानना स्वाभाविक है। छोटी अवस्था में यह उसके मनोविकास के लिए हानिकर नहीं है। किन्तु अधिक

काल तक इस प्रकार की मानसिक प्रवृत्ति का रहना मन की अवनति का सूचक है। साधारणतः नौ-दस वर्ष की अवस्था तक ही ऐसा काल्पनिक साथी बालक के साथ रहता है। इससे अधिक अवस्था होने पर ऐसे साथियों का साथ छूट जाता है और उनका स्थान वास्तविक साथी ग्रहण कर लेते हैं। किशोरावस्था तक किसी बालक के सम्पर्क में इस प्रकार के साथी का रहना उसके सामाजिक एवं नैतिक जीवन के विकास में बाधा डालता है। जो बालक अपने काल्पनिक साथी के साथ ही खेलना पसन्द करते हैं, उन्हें दूसरों के साथ योग्य व्यवहार करने की शिक्षा नहीं मिल पाती। वे सहनशीलता और उदारता के गुणों का अभ्यास नहीं कर पाते। जब उन्हें वास्तविकता का सामना करना पड़ता है तो वे कुशलता से अपनी कठिनाइयों का निवारण नहीं कर सकते।

कल्पना-विकास के उपकरण

बालक की कल्पना का विकास स्वभावतः उसके अनुभव की वृद्धि के साथ-साथ होता है। जैसे-जैसे बालक को नये वातावरण मिलते हैं और उसे अनेक परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, वैसे-वैसे उसे अपने पुराने अनुभव के आधार पर भविष्य के विषय में सोचने की आवश्यकता पड़ती है। मनोविकास का यह मूल सिद्धान्त है कि अपने जीवन को सफल बनाने के लिए हमें जिन शक्तियों की आवश्यकता होती है, उन शक्तियों का आविर्भाव अथवा वृद्धि प्रकृति स्वतः कर देती है। जिस प्रकार देखने की इच्छा ने आँख का विकास किया और सुनने की इच्छा ने कान का, इसी प्रकार भविष्य के विषय में विचार करने तथा वास्तविकता के घोर नियंत्रण से बचने की इच्छा ने कल्पनाशक्ति का विकास किया। हम सबको अपने-अपने जीवन में कल्पना की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु बालक को हमसे भी अधिक इसकी आवश्यकता पड़ती है।

भाषा-ज्ञान की वृद्धि—बालक में कल्पनाशक्ति का विकास भाषा-ज्ञान के साथ-साथ ही होने लगता है। वास्तव में भाषा और कल्पना का इतना घनिष्ठ संबंध है कि हम एक को दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। पशुओं में भाषाविकास अधिक नहीं होने पाता, अतएव उनकी कल्पनाशक्ति भी परिमित रहती है। मन में किसी कल्पना के आने के लिए यह आवश्यक है कि किसी प्रकार मन में उत्तेजना पैदा हो। किसी पदार्थ को मन में लाने के लिए उसका नाम ही सबसे सुयोग्य साधन है। मान लीजिए, बालक ने बिल्ली को देखा और उसको 'म्याउँ' कहते सुना। अब यदि बालक 'म्याउँ' शब्द बिल्ली की अनुपस्थिति में सुने तो उसके मानस-पटल पर बिल्ली का चित्र अंकित हो जायगा।

इसी तरह यदि बालक स्वयं ही 'म्याउँ' शब्द एकाएक कह पड़े तो भी उसकी कल्पना में बिल्ली आ जायगी।

जब हम बालक से कोई कहानी कहते हैं तो बालक हमारे शब्दों को सुनकर उनसे सम्बन्धित पदार्थ की कल्पना कहानी सुनने के साथ ही साथ करता जाता है। जितना ही बालक का शब्द-ज्ञान बढ़ता है उतना ही उसकी कल्पनाशक्ति का विकास होता जाता है।

पाँच वर्ष तक के शिशु का भाषाज्ञान बिल्कुल परिमित रहता है, अतएव हम कह सकते हैं कि उसका काल्पनिक जगत् भी बहुत संकुचित होता है। पाँच साल तक बालक अधिकतर अपना जीवन प्रत्यक्षज्ञान के सहारे ही चलाता है। यह ऐसा काल है जब बालक को अनेक प्रकार के इन्द्रियज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता पड़ती है। इस ज्ञान के आधार पर उसके प्रत्यक्षज्ञान की वृद्धि होती है। और जब तक प्रत्यक्ष-ज्ञान में पर्य्याप्त वृद्धि न हो जाय, कल्पना का विकास होना सम्भव नहीं।

बालक का भाषा-ज्ञान जब ठोस हो जाता है, तब वह शब्दों के सहारे मन में अनेक घटनाओं को सोचने लगता है। पहले पहल वह प्रायः दृष्टि-कल्पना को ही सोचते समय काम में लाता है। बालक की इस काल की कल्पना बड़ी सजीव और संवेगपूर्ण होती है। प्रौढ़ व्यक्ति प्रायः शब्दों के सहारे सोचा करते हैं। उनकी कल्पनाएँ दृष्टिकल्पना न होकर प्रायः शब्द-कल्पना होती है। अतएव उनकी कल्पना में वह सजीवता नहीं रहती जो बालक की कल्पना में रहती है। इस कारण प्रौढ़ लोग इस बात को नहीं समझ पाते कि बालक किस्से-कहानियों से अत्यधिक प्रफुल्ल क्यों हो उठता है। किन्तु हमें इस विषय पर गम्भीरता-पूर्वक विचार करना चाहिये और बालक की रुचि एवं योग्यता के अनुसार उन साधनों को अपनाना चाहिये, जिनसे उसकी अनेक प्रकार की कल्पना शक्ति बढ़े।

कहानियाँ—ऊपर कहा गया है कि बालक को कहानियाँ बड़ी रुचिकर होती हैं। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने इस बात को अपनी एक कहानी में, जिसका शीर्षक "किसी समय एक राजा था" भलीभाँति दर्शाया है। जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर सात-आठ वर्ष के थे, उन्हें कहानियाँ सुनने की बड़ी उत्कंठा रहती थी। वे कहानियाँ सुनने को सभी कष्ट सहने के लिए तैयार हो जाते थे। जब दादी उन्हें कहानियाँ सुनाने लगती थीं तो वे खाना-पीना भूल जाते थे। कहानी सुनने से उन्हें स्वर्ग का आनन्द प्राप्त होता था। रवीन्द्रनाथ ने बालकों की इस प्रवृत्ति की प्रशंसा की है। उन्होंने तो यहाँ तक कह डाला है कि [illegible]

काल्पनिक जगत् में ही है; हम बालक को जो वास्तविकता का ज्ञान प्रायः दिया करते हैं वह उसके लिये व्यर्थ है—वह अयथार्थ ज्ञान है। बालक को इस प्रकार के ज्ञान से क्या लाभ ?

माता-पिता या अध्यापकों को चाहिये कि वे बालक की कहानी सुनने की भूख कभी न मारें। माताओं या दाइयों को अनेक प्रकार की सुन्दर-सुन्दर कहानियाँ सीखनी चाहिये। इसके अतिरिक्त उन्हें बालकों से कहानी कहने का तरीका भी ठीक तरह से जानना चाहिये। बालक का मन प्रौढ़ अवस्थावालों के मन की स्थिति में नहीं रहता, अतएव जिस प्रकार से कहानी का कहा जाना हमें रुचिकर प्रतीत होता है, उसी प्रकार बालकों को भी रुचिकर प्रतीत होना सम्भव नहीं। हम जितनी जल्दी किसी बात को सुनकर समझ लेते हैं उतनी जल्दी बालक उस बात को सुनकर नहीं समझ सकता। बालक का भाषा-ज्ञान परिमित होता है और उसके विचार का सहारा दृष्टि-कल्पना के चित्र होते हैं। अतएव बालक से कहानियाँ बहुत सरल भाषा में धीरे-धीरे कही जानी चाहिये। कहानी कहनेवालों को बीच-बीच में ठहर जाना चाहिये जिससे बालक अपनी शंका समाधान कर सके। बालक जिस कहानी के सुनने में आनन्द लेता है, उसको एकाग्रचित्त होकर सुनता है और जब वक्ता कुछ समय के लिए रुक जाता है तो वह कहने लगता है 'हाँ, आगे क्या हुआ'। एक तरह से हमारे घर की बूढ़ी दाइयाँ और दादी बच्चों से कहानी कहने के लिए बड़ी ही उपयुक्त होती हैं। वे बच्चों के जीवन में आनन्द लेती हैं और उनसे धीरे-धीरे कहानियाँ कहती हैं। उनमें इतना धैर्य होता है कि वे बालकों के सब प्रश्नों का जवाब दें। जो दाइयाँ बालकों से इस प्रकार कहानियाँ कहती हैं और समय-समय पर उन्हें झुँझला नहीं देतीं वे बालकों को बहुत प्रिय होती हैं।

बालकों की कहानियों में उन नियमों के पालन करने की आवश्यकता नहीं होती जो प्रौढ़ अवस्था के लोगों की कहानियों में आवश्यक होते हैं। बालक के लिए सभी असम्भव बातें सम्भव हैं। वह जितनी भी विचित्र बातें किसी कहानी में सुनता है, उतना ही खुश होता है। जानवरों का आपस में बातचीत करना, उनका वेष बदल देना तो एक साधारण सी बात है। इसी तरह बालक देवताओं और राक्षसों की कहानियाँ सुनकर प्रसन्न होता है। किसी भी सभ्य देश के साहित्य को देखने पर पाठकों को ज्ञात होगा कि उस देश का साहित्य बालकों के लिए उनके उपयुक्त पशु-पक्षियों की कहानियों से भरा पड़ा है। हमारे पूर्वजों ने हितोपदेश और पंचतन्त्र जैसे कथानकों का निर्माण किया था। यूरोप में एसप्स फेबल्स जैसी अनेक प्रकार की कहानियों का प्रचार है।

अलिफ़-लैला की कहानियाँ भी ऐसी ही कहानियाँ हैं जो बालकों के मनोरंजन के लिए हैं। पंचतंत्र तथा एसप्स फेबल्स में पशु-पक्षियों की कहानियों द्वारा बालकों को अनेक प्रकार के सदुपदेश दिये गये हैं।

श्रीमती माण्टसरी का मत—आजकल के कितने ही शिक्षावैज्ञानिक ऐसे हैं जो बालकों को पशु-पक्षियों या राक्षसों की कहानियों का सुनाया जाना अनुचित समझते हैं। इनमें एक मैडम माण्टसरी भी हैं। उनका कथन है कि इन कहानियों द्वारा बालक के कोमल हृदय पर ऐसे संस्कार पड़ जाते हैं जिनके कारण वे अनेक अवैज्ञानिक बातों पर विश्वास करने लग जाते हैं। शैशवावस्था के संस्कार स्थायी होते हैं अतएव इन अवैज्ञानिक बातों के संस्कारों को बालक के मन से हटाना पीछे कठिन हो जाता है। अतएव ऐसा बालक अन्धविश्वासी और अप्रगतिशील नागरिक बनता है। उसमें तर्कबुद्धि उतनी प्रबल नहीं रह जाती, जितनी कि वैज्ञानिक बातों पर विश्वास करनेवाले बालक की हो सकती है।

दूसरे, जो बातें बालक से इन अवैज्ञानिक घटनाओं से भरी हुई कहानियों में कही जाती हैं उनसे जीवन में उसको कुछ लाभ भी नहीं होता। हरक्लीस और एण्टीयस की लड़ाई को जानकर भी बालक किसी भावी संग्राम में सफल हो सकता है; इसी प्रकार बन्दरों द्वारा पुल बाँधे जाने की कथा सुनकर कौन बालक पुल बाँधने के काम में निपुण हो सकता है? इस प्रकार की कहानियाँ उसके जीवन संग्राम में सहायक न बनकर उसकी बुद्धि में अधिक अड़चनें पैदा कर देती हैं, अतएव बालकों को ऐसी कहानियों से बचाना चाहिए।

माण्टसरी का तो यहाँ तक कहना है कि सब प्रकार की कहानियाँ बालक को हानिकर होती हैं। कहानियाँ सुनने से उसको काल्पनिक जगत् में विचरण करने का अभ्यास हो जाता है। बालक काल्पनिक जगत् में रहने से प्रसन्न रहता है वह वास्तविकता से भागने की चेष्टा करता है। इस तरह उसे वास्तविक जगत् का पर्याप्त ज्ञान भी नहीं रह पाता। ऐसा बालक जब किसी कठिनाई में पड़ जाता है तो वह अपनी कठिनाइयों को हल करने की चेष्टा न कर निकम्मा बन जाता है अथवा मनोराज्य में विचरण करने लगता है।

उपर्युक्त अनेक कारणों से मैडम मान्टसरी ने अपनी शिक्षा-पद्धति में बालकों के लिए कहानी कहे जाने का कोई स्थान नहीं रक्खा है। अब हम यह विचार करेंगे कि हमें मैडम माण्टसरी की विचार-परम्परा का अनुकरण कहाँ तक करना चाहिए।

मैडम माण्टसरी की शिक्षा-पद्धति में वैज्ञानिक विचारों का ---- ------

रक्खा गया है, किन्तु उनकी पद्धति में एक प्रकार से बालक के स्वभाव की अवहेलना की गई है। बालक का जगत् प्रौढ़ लोगों के जगत् से भिन्न होता है। प्रौढ़ावस्था के लोगों को वैज्ञानिक विचारों की जितनी आवश्यकता होती है, उतनी बालक को नहीं होती। जो कल्पना प्रौढ़ अवस्थावालों को शोभा नहीं देती और उनके मानसिक पतन की सूचक होती है, वही कल्पना बालक के लिए उपयुक्त होती है और उनकी मानसिक शक्तियों का विकास करती है। प्रौढ़ व्यक्तियों को राक्षसों और दैत्यों की कहानियों में रुचि रखना उचित नहीं। यदि वे १०० गज ऊँचे, २० भुजावाले और १० मुँहवाले राक्षस की कहानी चाव से सुनते हैं तो अपने आप को उस शिशु की अवस्था में रख देते हैं जो सदा ही आश्चर्यजनक घटनाएँ सुनने के लिए उत्सुक रहता है और जो प्रकृति के नियमों के विषय में इतना अज्ञ होता है कि उसे कुछ भी असंभव प्रतीत नहीं होता। जैसे-जैसे बालक का वास्तविकता का ज्ञान बढ़ता है, उसकी कल्पना स्वयं ही नियंत्रित हो जाती है और उसकी रुचि अवैज्ञानिक बातों से हट जाती है।

स्टैनले हाल का कथन है कि मनुष्य विकास के क्रम के अनुसार छोटे कीटाणु से लेकर सभ्यता की उच्च सीढ़ी तक की सभी अवस्थाओं की जीवन में पुनरावृत्ति करता है। पुनरावृत्ति का सिद्धान्त प्राणिशास्त्र का एक मौलिक सिद्धान्त है। इसी सिद्धान्त को हम मनुष्य के जीवन-विकास में घटित देखते हैं*। मनुष्य पहले बर्बर अवस्था को पार करके ही सभ्य बना है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी बर्बरावस्था को पार कर सभ्य बनता है। बालक की रुचि बर्बर लोगों जैसी होती है। जिस प्रकार बर्बर जाति के लोग राक्षसों या पशु-पक्षियों की कहानियाँ सुनने पर आनन्दित होते हैं, उसी प्रकार बालक भी बड़े चाव से राक्षसों या पशु-पक्षियों की कहानियाँ सुनता है। यही कारण है कि प्रत्येक सभ्य देश के विद्वानों ने बालकों के लिए पशु-पक्षियों या राक्षसों की कहानियों का निर्माण किया। इनके द्वारा बालकों को अनेक प्रकार की नैतिक शिक्षा दी जा सकती है।

बालक का जीवन जैसे-जैसे विकसित होता है वैसे ही उसकी कहानियाँ भी उसकी अवस्था के अनुसार परिवर्त्तित होनी चाहिये। जो कहानियाँ शिशु के

---

* हिन्दुओं के पुराणों में वर्णित भगवान् के २४ अवतार इस विकास-क्रम के सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं। मच्छ, कच्छ, वाराह इत्यादि योनियों से पार होकर आत्मा मनुष्य योनि में आती है और मनुष्यों में भी वामन, परशुराम, राम और कृष्ण भी आत्मा के विकास के क्रम को प्रदर्शित करते हैं।

लिए उपयुक्त हैं वे किशोर बालक के लिए नहीं। शिशु को नैतिकता की शिक्षा की आवश्यकता नहीं होती। उससे जो कहानियाँ कही जायँ, उनका लक्ष्य उसकी कल्पनाशक्ति की वृद्धि मात्र ही होना चाहिये। बच्चा जैसे-जैसे शिशु-अवस्था को पार करता है उसकी कहानियों में नैतिकता का रहना आवश्यक होता है। किशोर बालक की कहानियाँ वास्तविक जीवन के आधार पर बनी हैं। उसका तोता मैना या राक्षसों की कहानियों में रुचि रखना उसके मानसिक विकास में रुकावट का परिचायक है। जो शिक्षक किशोर बालकों को ऐसी कहानियाँ पढ़ने के लिए देते हैं वे उनकी बड़ी मानसिक क्षति करते हैं।

संसार के बड़े-बड़े तत्ववेत्ताओं ने और शिक्षा-वैज्ञानिकों ने बालकों के लिए कहानी कहे जाने की महत्ता को बताया है। यूनान के प्रसिद्ध तत्ववेत्ता प्लेटो ने अपनी "रिपबलिक" नामक पुस्तक में कहानी को बालक की शिक्षा में मुख्य स्थान दिया है उसका कथन है कि प्रत्येक घर की सयानी स्त्रियों को अच्छी-अच्छी कहानियाँ याद कराई जायँ और उन्हें यह आदेश दिया जाय कि वे उन कहानियों को बालकों से कहें। राष्ट्र के अधिकारियों को इस बात पर अवश्य ध्यान रखना चाहिये कि दाइयाँ बालकों से ऐसी कहानियाँ कदापि न कहें जिनके कारण बालक के मन में अनैतिकता के संस्कार पड़ जायँ।

फ्रोबेल ने भी अपनी किंडरगार्टन नामक शिक्षा-पद्धति में बालक की प्रारम्भिक शिक्षा में कहानियों को महत्व का स्थान दिया है। जो प्रशस्त कहानियाँ बालक को रुचिकर प्रतीत होती हैं उनका बालकों द्वारा अभिनय कराया जाना भी आवश्यक है। इस तरह हम देखते हैं कि मैडम मान्टसरी का कहना—बहिष्कार का मत न तो सर्वग्राह्य ही है और न मनोविज्ञान-विचार-परम्परा के अनुकूल ही।

बालकों के उपयुक्त कहानियाँ—ऊपर यह संकेत किया गया है कि भिन्न-भिन्न अवस्था के बालकों के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार की कहानियाँ कही जानी चाहियें। किन्तु सभी कहानियों में इस बात का ध्यान रक्खा जाय कि बालक के कोमल मस्तिष्क पर कहानियों द्वारा किसी प्रकार का कुसंस्कार न पड़ जाय। बालक को नैतिकता के विरुद्ध कहानियाँ न सुनाई जायँ। इसी तरह भूत पिशाच इत्यादि की कहानियाँ उन्हें न सुनाई जायँ। कितने ही कहानी कहनेवाले बालकों को आश्चर्य में डालने के लिए भूत, पिशाच आदि की कहानियाँ गढ़-गढ़कर सुनाते हैं; बालक इन कहानियों को बड़े चाव के साथ सुनता है; किन्तु इसका उसके जीवन पर बड़ा दुष्परिणाम होता है। उसके अव्यक्त मन में भूतों के भय का संस्कार बैठ जाता है। आगे चलकर यह एक

भावना-ग्रन्थि का रूप धारण कर लेता है जिसके कारण बालक का स्वभाव भीरु हो जाता है।

कहानियाँ कहते समय इस बात का सदा विचार रखना चाहिये कि बालक की मानसिक स्थिति प्रौढ़ लोगों की मानसिक स्थिति से भिन्न है। जो कहानियाँ हमें हँसाती हैं वही कहानियाँ बालक के हृदय में भय का संचार कर सकती हैं। दूसरे हमें इस बात का ध्यान रखना है कि बालक कहानी सुनते समय जिन संवेगों का अनुभव करता है उनसे भिन्न संवेगों का अनुभव वह दूसरी परिस्थिति में पड़ने पर सुनी हुई कहानी की कल्पना के कारण कर सकता है। जिस कहानी को दिन के समय बालक आनन्द से सुनता है वही कहानी रात के समय बालक के हृदय में भय उत्पन्न कर सकती है। प्रत्येक बालक रात के समय डरने लगता है। यह भय उसे जन्म से नहीं होता; किन्तु प्रौढ़ लोगों की बातचीत तथा किस्सा-कहानियों से उत्पन्न होता है।

नार्सवर्दी और व्हटले महाशयों का कथन है कि बालकों को सिनेमा के ऐसे दृश्य भी न दिखाने चाहिये जिनके कारण उनके हृदय में भय का संचार हो। जो चित्र बालक देखता है वे उसके मन में घूमने लगते हैं और प्रतिकूल परिस्थितियों में उसके मानसिक दुःख का कारण बन जाते हैं। इसके अतिरिक्त हमें बालक के स्वप्नों पर भी विचार करना चाहिये। कितने बालक सोते-सोते चौंक पड़ते हैं। इस प्रकार चौंकने का कारण उनके संवेग-पूर्ण जागरित अवस्था के अनुभव ही हैं। बालकों की कहानियाँ उनके स्वप्नों की सामग्री बन जाती हैं। अतएव बालकों के उत्साह और आनन्द की वृद्धि करनेवाली कहानियाँ ही उन्हें सुनाई जायँ।

भारतीय साहित्य में शिशु-साहित्य की बड़ी कमी है। इसकी पूर्ति करना प्रत्येक समाजसेवी का कर्तव्य है। प्रत्येक शिक्षित युवती को बालकों के उपयुक्त सैकड़ों कहानियाँ जाननी चाहियें। माताओं का धर्म है कि बालकों के मनोरञ्जन के लिए अनेक कहानियाँ सीखें और उन्हें बालकों से कहें। कितनी थोड़ी माताएँ हैं जिनमें इस प्रकार की योग्यता है तथा जो इस योग्यता को प्राप्त करना अपना कर्तव्य समझती हैं। शिवाजी जैसे वीर पुरुष का आविर्भाव जीजीबाई जैसी माता की गोद में ही हो सकता है। जीजीबाई ने शिवाजी को भारत के पुराने वीरों की गाथाएँ सुना-सुनाकर वीर बना दिया था। इसी प्रकार नैपोलियन को उसकी माता ने वीर बनाया था।

अभिनय

बालक की रचनात्मक कल्पनाएँ जब बाह्यक्रिया का रूप धारण करती हैं

तो अभिनय का आविर्भाव होता है। अभिनय को कुछ लोग एक प्रकार की मूल-प्रवृत्ति मानते हैं, पर यह बात सत्य नहीं है। अभिनय बालक की साधारण आत्मप्रकाशन की चेष्टा मात्र है। बालक स्वभावतः ही शारीरिक कार्यों के करने में आनन्द का अनुभव करता है। जब बालक की इस प्रवृत्ति का सम्बन्ध उसकी कल्पनाओं से हो जाता है, तो उसका सहज परिणाम अभिनय होता है।

अभिनय का बाह्य जीवन में बड़ा महत्व है। अभिनय से बालक के ज्ञान की वृद्धि होती है और उसका आत्मविश्वास बढ़ता है। अभिनय के द्वारा उसका अस्पष्ट ज्ञान स्पष्ट हो जाता है और वह किसी घटना की छोटी-छोटी बातों पर ध्यान देना सीख जाता है। अभिनय द्वारा बालक की रचनात्मक कल्पना उद्देश्यपूर्ण हो जाती है। वह एक दृष्टिकोण से विचार करने लगता है और किसी भी कार्य के प्रधान और गौण अंश के भेदों को जानने लगता है। अभिनय से बालक को वास्तविकता और कल्पना का भेद स्पष्ट हो जाता है। किसी घटना का अभिनय करते समय बालक यह जानता है कि यह वास्तविक घटना नहीं है, किन्तु उसका अभिनय मात्र है। अभिनय से बालक के वास्तविकता के विचारों की वृद्धि होती है, उसकी कल्पना रसमय हो जाती है इसलिए वह रचनात्मक कार्यों में प्रवीण हो जाता है।

अभिनय से बालक की दूसरी मानसिक शक्तियों का विकास होता है। इसके द्वारा बालक का आत्मविश्वास, प्रतिभा और प्रत्युत्पन्न-बुद्धि बढ़ती है। वह अभिनय से भाषा का सदुपयोग करना सीखता है और उसकी स्मरणशक्ति की वृद्धि होती है। इसके अतिरिक्त उसमें ऐसे सामाजिक गुणों का विकास होता है जिनके कारण वह सुयोग्य नागरिक बन सकता है। अभिनय के द्वारा बालक में सहनशीलता, सहकारिता तथा दूसरे अनेक सद्भावों का प्रादुर्भाव होता है।

उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट है कि बालक के मनोविकास में अभिनय का बहुत महत्त्व है। शिक्षकों को चाहिये कि जहाँ तक सम्भव हो, बालकों को पढ़ाते समय अभिनय का अवसर दें और उनको किसी घटना का अभिनय करने में प्रोत्साहित करें। जो पाठ बालकों को अभिनय द्वारा पढ़ाया जाता है वह रुचिकर ही नहीं हो जाता वरन् बालकों के मानस-पटल पर सदा के लिए अंकित हो जाता है। जब बालक को कोई कहानी पढ़ाई जाती हो तो शिक्षक को कहानी में रुचि पैदा करने के लिए बालकों द्वारा उसका अभिनय कराना चाहिये। इसी तरह कविता-पाठ में अभिनय से काम लिया जा सकता है।

मान लीजिए, दो सच्चे मित्रों की कहानी बालकों को पढ़ाई जा रही है। दोनों मित्र एक-दूसरे के प्राण बचाने के लिए अपने आप को फाँसी पर लटकाना

चाहते हैं। इसे देखकर नागरिक लोग दंग रह जाते हैं और न्यायाधीश आश्चर्य में पड़ जाता है। अन्त में देश के कठोरहृदय राजा का दिल पिघल जाता है। वह दोनों को ही छोड़ देता है।

इस कहानी का यदि अभिनय किया जाय तो यह कितनी मनोरंजक कहानी बन जायगी। दो बालक मित्रों का पाठ लेंगे। एक राजा बनेगा और शेष नागरिक। बालकों को अभिनय करते समय यह सोचना पड़ेगा कि किस समय कैसे हाव-भाव का प्रदर्शन करें। उनका ध्यान छोटी-छोटी बातों पर जायगा जो कि अभिनय के लिए आवश्यक हैं। ऐसी बातों का उन्हें आविष्कार भी करना पड़ेगा। इस प्रकार बालक की स्मृति, रचनात्मक कल्पना और प्रत्युत्पन्न बुद्धि की वृद्धि होगी। कहानी अब शुष्क पाठ न बनकर बालक के आनन्द का केन्द्र बन जायगी और उसकी स्फूर्ति की वृद्धि करेगी।

इसी तरह जब लक्ष्मण-परशुराम-संवाद पढ़ाया जावे तो शिक्षक को चाहिये कि अपनी कक्षा में एक प्रकार की छोटी-सी रामलीला करावें। बालक इस तरह दूसरों के सामने खुलकर बोलना सीखता है। उसका दब्बूपन जाता रहता है तथा उसकी आविष्कारात्मक कल्पना की वृद्धि होती है।

अभिनय बालक की शिक्षा का भारी साधन है किन्तु हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि हम अभिनय को ही ध्येय न बना लें। जब अभिनय कराना ही हमारी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य हो जाता है तो उसकी सफलता के लिए बालक के बहुत समय और शक्ति का अपव्यय होता है। अभिनय के विषय की सब बातें बालकों को ही सोचनी चाहियें। जब शिक्षकगण एक पूरी योजना या प्रोग्राम बनाकर किसी अभिनय को बालकों द्वारा कराते हैं तो बालकों को ऐसे अभिनय से अधिक लाभ नहीं होता। न तो उसकी रचनात्मक कल्पना की वृद्धि होती है और न उनमें आत्मविश्वास ही दृढ़ होता है।

अभिनय की प्रवृत्ति का परिमित मात्रा में बढ़ना ही बालक के लिए लाभदायक होता है। इस प्रवृत्ति का अत्यधिक बढ़ना हानिकार है। "अति सर्वत्र वर्जयेत्" यह सिद्धांत अभिनय के विषय में भी पूर्णतः लागू है। प्रत्येक अभिनय-क्रिया का सम्बन्ध किसी न किसी संवेग से रहता है। अतएव ऐसी क्रिया के करते समय मन उद्विग्न हो जाता है। बालकों के मन का बार-बार उद्विग्न होना मानसिक गम्भीरता लाभ करने में बाधक होता है। इसके कारण बालक को भविष्य में अनेक प्रकार के दुःख उठाने पड़ते हैं तथा शान्त-चित्त होकर किसी विषय पर विचार करना उसके लिए कठिन हो जाता है। किन्तु हमारे जीवन के अधिक कार्य ऐसे ही हैं जिनमें शान्तचित्त और गम्भीरता

के बिना सफलता प्राप्त करना असम्भव है। जो बालक सदा अभिनय की बुद्धि से प्रेरित रहता है, वह दूसरों के साथ व्यवहार करते समय अभिनेता की भाँति ही व्यवहार करता है। उसे अपनी ऐसी किसी भी क्रिया से सन्तोष नहीं होता, जिसे देखकर दूसरे लोग आश्चर्य न करने लगें, अतएव वह समय-समय पर झूठा व्यवहार करने लगता है। बालकों को इस मनोवृत्ति से बचाना अभिभावकों और शिक्षकों का कर्तव्य है।

कल्पना और कला

बालकों की कल्पना के विकास का सबसे सुन्दर साधन कला है। जो शिक्षक बालकों की रचनात्मक कल्पना की वृद्धि का महत्त्व समझते हैं, उन्हें बालकों की सब प्रकार की कलाओं में रुचि पैदा करनी चाहिये। बालकों की छोटी-छोटी कृतियों को इस प्रकार देखना चाहिये कि वे उनकी भावी योग्यताओं की प्रतीक हैं। कितने ही बालकों की प्रतिभा योग्य शिक्षकों के अभाव में अविकसित रह जाती है। जैसे पारखी के अभाव में अमूल्य रत्न की दुर्गति होती है, इसी तरह योग्य और सहृदय शिक्षकों के अभाव में प्रतिभाशाली बालकों की प्रतिभा का सदुपयोग नहीं होता।

बालकों में कला के प्रति प्रेम शिशु-काल से ही पैदा किया जा सकता है। बालक जैसे वातावरण में रहता है, उसका प्रभाव उसके जीवन पर अवश्य ही पड़ता है। यदि शिशु-काल से ही बालक कला-प्रेमियों के साथ रहे तो वह स्वयं कला-प्रेमी बन जाय। जो बालक अपने आस-पास सुन्दर वस्तुएँ देखता है, उसका स्वभाव सौंदर्यप्रिय हो जाता है।

बालकों की रचनात्मक कल्पना की वृद्धि चित्र-कला और कविता से हो सकती है। जब बालकों से कोई कहानी कही जाय तो शिक्षकों को चाहिये कि वे उस कहानी को बालकों द्वारा लिखाने के समय उसमें वर्णित घटनाओं का चित्र भी बनवावें। हमें यहाँ इस बात को महत्त्व नहीं देना है कि बालक कितना सुन्दर चित्र बनाता है; हमें महत्त्व इस बात पर देना है कि वह अपनी कल्पना को कहाँ तक चित्रित कर सकता है। जो बालक एक सुनी हुई कहानी का चित्र बना सकता है, कहानी का वास्तविक लाभ उठाता है। अब बालक सुनी हुई कहानी को दुहराता है, तो उसकी ग्रहणात्मक कल्पना ही काम करती है, किन्तु उसका चित्र खींचते समय उनकी रचनात्मक कल्पना भी कार्य करती है।

प्रत्येक स्कूल में बच्चों की हस्तलिखित मासिक पत्रिका होनी चाहिये जिसमें

बालकों के सुन्दर लेख, चित्र तथा कविताएँ प्रदर्शित की जायँ। इस प्रकार बालकों को अनेक कार्यों में प्रोत्साहन मिलता है और उनकी रचनात्मक कल्पना की वृद्धि होती है। स्कूल के अधिकारियों को चाहिये कि बालकों की कला की प्रदर्शनी करें और जो बालक ऐसी प्रदर्शनियों में योग्य सिद्ध हों, उन्हें उचित पुरस्कार दें।

यहाँ यह स्मरण करना आवश्यक है कि जिन्हें साधारण लोग बालक के चित्रों के गुण समझते हैं वे बाल-मनोविकास की दृष्टि से प्रायः गुण नहीं होते और जिन्हें दोष समझते हैं वे दोष नहीं होते। जो चित्र शिक्षा-प्रदर्शनियों में लोगों को साधारणतः दिखाये जाते हैं उनका महत्व बाल-मनोविकास की दृष्टि से अधिक नहीं है, वे प्रायः दूसरे कलाकारों के अनुकरण मात्र रहते हैं। हमें बालक के बनाये चित्र में यह देखना चाहिये कि वह कहाँ तक उसके निजी भावों और कल्पनाओं को प्रदर्शित करता है और कहाँ तक दूसरों की *। सुन्दर रंग किया हुआ चित्र सुन्दर नहीं है, सुन्दर कल्पनावाला चित्र ही सुन्दर है। पाठकगण किसी चित्र को इस दृष्टि से देखें कि उसमें बालक की रचनात्मक कल्पना कहाँ तक कार्य करती है।

मनुष्य की सुन्दर से सुन्दर कल्पना का वाह्य-रूप कविता है। जो व्यक्ति उच्च कविता के रस का आस्वादन कर सकता है उसका जीवन सराहनीय है। कविता मनुष्य के अन्तस्तल की अनुभूति को व्यक्त करने का साधन है। यह हृदयस्थित अनुभूति पहिले कल्पना के रूप में कवि के मन में अवतीर्ण होती है। पीछे व्यक्त जगत् में कविता-रूपी सरिता होकर प्रवाहित होती है। बालकों को सब प्रकार की कला में प्रवीण करने का एक बड़ा लाभ यह है कि कला में

---

* लेखक एक बार भारतवर्ष के न्यू एजूकेशन फेलोशिप के संचालक हारवे महाशय के साथ ग्वालियर की १९३५ ई० में शिक्षा-प्रदर्शनी की वस्तुओं को देख रहा था। उस प्रदर्शनी में बालकों के बनाये अनेक सुन्दर चित्र दिखाये गये थे। हारवे महाशय को उनमें से एक भी चित्र अच्छा न लगा। उन्होंने उन चित्रों में यही त्रुटि बताई कि वे बालक के व्यक्तित्व को प्रकाशित नहीं करते थे। उनमें बालकों की रुचि या कल्पना नहीं पाई जाती थी। वे किसी बड़े कलाकार के अनुकरणमात्र थे। कई एक चित्रों में अँग्रेजी वातावरण था। हारवे महाशय ने कहा कि यह वातावरण भारतवर्ष के बालकों की कल्पना में कैसे आ सकता है। अतएव ऐसे चित्रों में बालकों की कल्पना एवं व्यक्तित्व का विकास नहीं होता। बालकों से चित्र बनवाने के लिए चित्र बनवाना वैसा ही व्यर्थ है जैसा कि अभिनय में दक्ष करने के लिए बालकों से अभिनय करवाना।

निहित सौन्दर्य की उपासना से बालक के विचार तथा भाव सुन्दर हो जाते हैं। ऐसे बालक अपने जीवन में मानसिक स्वास्थ्य का दूसरे बालकों की अपेक्षा अधिक उपभोग करते हैं। कविता हृदय को पवित्र करने वाली पुनीत जाह्नवी है। यह मनुष्यमात्र का कल्याण करती है, उन्हें दुर्वासनाओं से मुक्त कर परमानन्द का उपभोग कराती है। संसार जितना ही कविता और कला से विमुख हो रहा है, उतना ही अन्तर्ज्वाला से दग्ध हो रहा है तथा विनाश की ओर अग्रसर है। जब तक मनुष्य अपने आध्यात्मिक जीवन को सुन्दर नहीं बना लेता, उसका बाह्य-जीवन कदापि सुन्दर और सुखी नहीं हो सकता। जिन मनुष्यों के हृदय में कलह है, वे बाहर का कलह मिटाने में कैसे सफल हो सकते हैं। बाह्य जगत अन्तर्जगत् का प्रतिबिम्ब मात्र ही तो है।

यदि उपर्युक्त कथन में कुछ भी सत्य है तो शिक्षकों को चाहिये कि बालकों को कला और कविता-प्रेमी बनावें। इससे उनकी कल्पना सुन्दर होगी तथा उनके भाव सुनियन्त्रित और आनन्ददायी बन जावेंगे। मानसिक स्वास्थ्य की दृष्टि से प्रत्येक बालक को कविता-प्रेमी बनाना परमावश्यक है।

बालकों के हृदय में कविता के लिए रुचि शैशवावस्था से ही बढ़ाई जा सकती है। पर हमें यहाँ इस बात को ध्यान में रखना चाहिये कि बालकों की कविताएँ उनकी कल्पनाओं, रुचियों और अनुभवों के अनुसार ही हों। बिहारी की सतसई, रहीम के दोहे, छायावादी कविताएँ प्रौढ़ लोगों को अच्छी लग सकती हैं। बालकों की कविता में तो आँख और कान से देखने और सुननेवाली वस्तुओं का ही वर्णन होना चाहिये। बालक समवयस्क बालकों के जीवन में ही रुचि रखता है। अतएव उसकी कविता में जहाँ तक बालकों के भावों और क्रियाओं का वर्णन हो उतना ही अच्छा है।*

---

* जर्मन भाषा में जितनी सुन्दर कविताएँ बालकों के लिए हैं उतनी जान पड़ता है कि किसी देश के साहित्य में नहीं। शिक्षा-शास्त्र संसार को जर्मनी की देन है। हम वहाँ के बाल-साहित्य में एक से बढ़कर एक चमत्कारिक बात पाते हैं। यहाँ शिशु-कक्षा की एक कविता का उद्धरण अवांछनीय न होगा—

WETTSTREIT.

Der Kuckuck und der Esel,
die hatten grossen streit,
wer wohl am besten sänge
zur schönen Maienzeit.
Der Kuckuck sprach : "Das kann ich"
und fing gleich an zu schrei'n

जब बालकगण कोई कविता स्वयं बनावें तब उन्हें उचित प्रोत्साहन देना चाहिये। बालकों की कृति पर हमें कदापि हँसना नहीं चाहिये; चाहे वह हमें कितनी ही तुच्छ क्यों न जान पड़े। कवि की प्रतिभा वास्तव में ऐसी ही तुच्छ कृतियों में पहले पहल प्रदर्शित होती है।* कभी-कभी बालकों की कल्पना इतनी सुन्दर होती है कि वहाँ तक हमारी पहुँच ही नहीं रहती। यह बात किशोर बालक की कृतियों के विषय में निश्चित रूप से कही जा सकती है।

कल्पना और स्वास्थ्य

कल्पना और स्वास्थ्य का घनिष्ठ सम्बन्ध है। स्वस्थ मनुष्य की कल्पनाएँ

"ich aber kann es besser"
fiel gleich der Esel ein.
Das klang so schön und lieblich,
so schön von fern und nah.
sie sangen alle beide
"Kuckuck, kuckuck, i-a !"

कविता का शीर्षक है "होड़ाहोड़ी"। एक कोयल और एक गधे में यह लड़ाई हुई कि कौन अच्छा गाता है। कोयल ने कहा—मैं ऐसे गाती हूँ और गाने लगी। गधे ने कहा, मैं इससे भी अच्छा गा सकता हूँ। दोनों गाने लगे। उनका राग दूर-दूर सुनाई देता था। कोयल "कू, कू" कर रही थी और गधा "रेंभों-रेंभों" चिल्लाता था।

ऐसी कविताएँ बालकों को कितना आनन्द देती हैं और उन्हें कितनी जल्दी याद हो जाती हैं, यह पाठक स्वयं जान सकते हैं। साथ ही साथ ये कविताएँ गुप्त रूप से नैतिक और व्यावहारिक शिक्षा भी देती है।

* नीचे विसेण्ट स्कूल (बनारस) की एक ११ वर्ष की बालिका की कविता का उद्धरण है—

हवा

हवा कहाँ तुम जाती हो,
    क्या कभी न तुम सुस्ताती हो?
दिन भर दौड़-धूप करती हो,
    क्या कभी न तुम थकती हो?
जाती हो तुम कहाँ रोज,
    करती हो तुम किसकी खोज?
आओ हम-तुम मिल जावें,
    और यहाँ से भग जावें।

—प्रमिला देवी

सुन्दर और आनन्ददायी होती हैं; अस्वस्थ मनुष्य की कल्पनाएँ बीभत्स और हृदय को पीड़ित करनेवाली होती हैं। प्रत्येक पाठक को अनुभव होगा कि शरीर की अस्वस्थावस्था में अभद्र कल्पनाएँ मन को घेरे रहती हैं। जब शरीर निर्बल रहता है, तो मन भी निर्बल हो जाता है। ऐसी अवस्था में मनुष्य बुरे विचारों का मन में आना रोक नहीं पाता। कभी-कभी आनेवाली बीमारी पहले से ही मनुष्य की कल्पना में आने लगती है। यहाँ शारीरिक अस्वस्थता ही बुरी कल्पना का कारण है।* फिर जब एक बार बुरी कल्पना मन में स्थान पा लेती है तो उसको दूर करना असम्भव हो जाता है। इस तरह कल्पना वास्तविकता में परिणत हो जाती है।

जिस प्रकार शरीर की अस्वस्थता का प्रभाव मन पर पड़ता है, उसी तरह मन की अस्वस्थता का प्रभाव शरीर पर पड़ता है। यदि किसी मनुष्य की कल्पनाएँ सुनियन्त्रित रहें तो वह हजारों शारीरिक रोगों से सरलता से मुक्त हो जाय। उसके समीप रोग आवे ही नहीं। कितने लोग अपनी दुर्भावनाओं के कारण अनेक भयंकर रोगों के शिकार बन जाते हैं और समय से पूर्व अपनी जीवन-यात्रा को समाप्त कर देते हैं। अतएव बालकों में सुन्दर कल्पनाओं का अभ्यास डालना उन्हें जीवन-प्रदान करना है। इस प्रकार की कल्पनाओं से उनके शारीरिक स्वास्थ्य की रक्षा अपने आप ही हो जाती है।

---

* जब शरीर अस्वस्थ रहता है तो प्रायः अभद्र कल्पनाएँ ही मन में आती हैं। इसका एक प्रधान कारण यह है कि शरीर की अस्वस्थ अवस्था में मनुष्य के संवेग विचलित रहते हैं। हम शरीर की आन्तरिक क्रियाओं का संवेगों से सम्बन्ध पहले ही बता चुके हैं। कल्पनाओं के स्रोत भाव तथा संवेग हैं। अस्वस्थ अवस्था में वे शरीर की ग्रन्थियाँ जिनका संवेगों से घनिष्ठ सम्बन्ध है, ठीक से कार्य नहीं करतीं तथा ऐसी अवस्था में मनुष्य का मस्तिष्क भी कमजोर रहता है; अतएव वह अवांछनीय संवेग का नियन्त्रण नहीं कर पाता। इस तरह से शरीर के विकार संवेगों को विकृत करते हैं और ये विकार विकृत कल्पनाओं के रूप में प्रदर्शित होते हैं। यदि हम किसी बालक के साधारण स्वास्थ्य की वृद्धि करें, तो उसकी कल्पनाएँ अपने आप ही सुन्दर हो जावेंगी। जो बालक निकम्मा, आलसी रहता है, उसके विचार कदापि भले नहीं रह सकते। आलस्य शरीर की अस्वस्थ अवस्था है, ऐसी अवस्था में स्वस्थ और सुन्दर कल्पनाओं का आना सम्भव नहीं।

सत्रहवाँ प्रकरण

भाषा-विकास

भाषा-विकास का महत्त्व

बालकों के मानसिक विकास को समझने के लिए भाषा-विकास का जानना परमावश्यक है। भाषा भाव तथा विचार प्रकाश करने का एक साधन है। भाषा के अतिरिक्त हम दूसरी तरह से भी भाव और विचार प्रकाशित करते हैं। किन्तु जितनी सुविधा से हम शब्दों द्वारा उन्हें प्रकाशित करते हैं उतनी सुविधा से हम किसी दूसरे प्रकार से प्रकाशित नहीं कर सकते। गूँगे लोग अपने भावों और विचारों का प्रकाशन संकेतों द्वारा ही करते हैं; किन्तु वे बहुत थोड़े ही भावों को इस प्रकार प्रकाशित कर सकते हैं। जो व्यक्ति शब्दों द्वारा अपने विचारों का प्रकाशन नहीं कर पाता उसका जीवन अधूरा रह जाता है। वह संसार के अनेक उपयोगी कार्य नहीं कर पाता।

भाषा केवल विचार-प्रकाश करने का साधन मात्र ही नहीं है, किन्तु वह हमारी अनेक मानसिक शक्तियों की वृद्धि का मुख्य उपाय है। जब बालक अपने विचार दूसरों पर प्रकाशित करता है तब उसके विचार स्पष्ट और सुसंगठित हो जाते हैं। वह अपनी शक्ति का ज्ञान उस आत्मप्रकाशन की चेष्टा से कर लेता है। अनेक विद्वानों का मत है कि बिना भाषा के विचारों को स्पष्ट करना सम्भव नहीं। जैसे-जैसे भाषा का विकास होता है वैसे-वैसे बुद्धि का विकास होता है और भाषा-विकास के साथ-साथ विचार भी सुसंगठित होते हैं। बुद्धि-माप के प्रयोगों से पता चला है कि मनुष्य में विचार करने की शक्ति और उसके भाषा-ज्ञान में आन्तरिक सम्बन्ध है। जितना ही जिस बालक का भाषा-ज्ञान होता है, वह बुद्धि में उतना ही प्रवीण पाया जाता है। किसी भी राष्ट्र की भाषा का ज्ञान अध्ययन करके हम वहाँ वालों के बुद्धि-विकास का पता लगा सकते हैं।* जिस राष्ट्र की भाषा में सूक्ष्म विचारों को व्यक्त करने के लिए पर्याप्त

---

* The history of the development of language of the race is the history of the growth of intelligence. Man's superiority over lower animals can be explained almost completely on the basis of language. Language keeps pace with the

और उपयुक्त शब्द नहीं हैं उस राष्ट्र का मानसिक विकास अवरुद्ध समझना चाहिये। इसी तरह जिस व्यक्ति का शब्द-भाण्डार परिमित है वह अनेक सूक्ष्म भावों से अज्ञ रहता है। जब तक बालक का शब्द-भांडार संकुचित रहता है तब तक उसे संसार की अनेक बातों का ज्ञान नहीं कराया जा सकता। मैक्समुलर महाशय का कथन है कि शब्द और वास्तविकता का ऐसा अटूट सम्बन्ध है कि एक का ज्ञान दूसरे के ज्ञान बिना नहीं हो सकता। यदि इस तरह देखा जाय तो बालक का जितना ही वास्तविकता का ज्ञान बढ़ता है, उतना ही उसका शब्द-ज्ञान बढ़ना आवश्यक है; अर्थात् बालक का शब्द-ज्ञान उसके वास्तविक ज्ञान का परिचायक है।

माता-पिता और अभिभावकों को भाषा के सीखने की क्रिया का भलीभाँति अध्ययन करना चाहिये। यह एक ऐसी क्रिया है जिसकी ओर हमारा चित्त प्रायः आकृष्ट नहीं होता। बालक अपने आप भाषा सीख लेता है और हम प्रायः यह सोचते हैं कि हमारा इस विषय में कोई कर्त्तव्य ही नहीं। किन्तु यहाँ इस बात का बताना आवश्यक है कि बालक की भाषा सीखने से सम्बन्ध रखनेवाली ऐसी अनेक समस्याएँ हैं, जिनका गहन विचार करना आवश्यक है। बालक का भाषा का ज्ञान प्रौढ़ावस्थावालों के भाषा-ज्ञान के समान नहीं बढ़ता। उसके भाषा-ज्ञान प्राप्त करने का तरीका हमारे तरीकों से बहुत कुछ भिन्न होता है। इन सब बातों पर हमें विशेष ध्यान रखना चाहिये।

शब्दोच्चारण के उपकरण

हम भाषा इतनी सरलता से बोलते हैं जिससे हमारा ध्यान ही इस ओर नहीं

---

growth of civilization. The same is true in the life of the individual. At first the infant deals only with the concrete; later with ideas and language. Education consists to some extent in the growth of language habits. The best single measure of the inteeligence of an individual is the size of his vocabulary—**Dumville Fundamentals of Psychology, P. 127.**

डंभेल महाशय का कथन है कि किसी जाति के भाषा-विकास का इतिहास उसकी बुद्धि-विकास का इतिहास है। दूसरे जानवरों से मनुष्य भाषा के कारण ही अधिक शक्तिशाली है। सभ्यता का विकास और भाषा का विकास एक साथ ही होता है। पहले पहले बच्चा प्रत्यक्ष पदार्थों से अपना काम चलाता है, पीछे वह भाषा को काम में लाना सीख जाता है। शिक्षा का एक प्रधान लक्ष्य बालक को ठीक भाषा सिखाना है। किसी भी व्यक्ति की बुद्धि का सर्वश्रेष्ठ माप उसका शब्द-भाण्डार है।

जाता कि भाषा का उच्चारण करना कितना कठिन कार्य है। भाषा का उच्चारण करने के लिए हमारे शरीर के अनेक अवयवों की तैयारी की आवश्यकता है। भाषा-उच्चारण शरीर के किसी एक अंग का कार्य नहीं है। उसके उच्चारण में मुँह, जीभ, गला और फेफड़ा इत्यादि कई अंग काम करते हैं। इन सबके कार्यों में जब तक एकता नहीं स्थापित हो जाती, भाषा का उच्चारण करना कठिन होता है। इसी तरह बालक के मस्तिष्क की वृद्धि की आवश्यकता भाषा-उच्चारण के लिए है।

अब यदि मानसिक तैयारी की दृष्टि से देखा जाय तो भाषा-ज्ञान के लिए पदार्थों के भेदों को समझना आवश्यक है। बालक जब तक पदार्थों के भेदों को और उनकी विशेषताओं को नहीं जान पाता, तब तक उसके भाषा-ज्ञान की वृद्धि नहीं होती। अनेक पदार्थों तथा उनके गुणों को संकेतित करने के लिए नये-नये शब्दों की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता के पड़ने पर ही बालक भाषा-ज्ञान की मौलिकता को समझने लगता है।

भाषा का प्रारम्भ

अनेक प्रकार की मानसिक तैयारी के बाद भाषा का आरम्भ होता है। बालक में शब्दोच्चारण करने की सहज प्रवृत्ति होती है। वह सार्थक शब्दोच्चारण के पूर्व कई प्रकार के निरर्थक शब्दों का उच्चारण करता है। उसका इस प्रकार का अभ्यास उसे भाषा सीखने में बड़ा लाभ देता है। इससे उसका अनेक प्रकार की ध्वनियों से परिचय हो जाता है।

बालक का पहले पहल शुद्ध उच्चारण करना दूसरों का अनुकरण मात्र होता है। बालक जब किसी शब्द को आस-पास के लोगों से बार-बार सुनता है तो उसकी अनुकरण करने की प्रवृत्ति उसे उस शब्द का उच्चारण करने को प्रेरित करती है। इस प्रकार वातावरण में बार-बार होनेवाले शब्द बालक को बोलने के लिये उत्तेजित करते हैं। बालक जब सार्थक शब्दों को बोलने लगता है तब धीरे-धीरे उन शब्दों की शक्ति का भी उसे ज्ञान होता है। वह देखता है कि लोग विशेष शब्द का प्रयोग विशेष अवसर पर करते हैं और जब वह भी उस शब्द का उच्चारण करता है तो उसके आस-पास के लोग विशेष प्रकार से उसके साथ व्यवहार करते हैं। भाषा का उपयोग करने से पहले ही बालक कुछ निरर्थक शब्दों द्वारा प्रौढ़ लोगों को अपनी भावनाओं का परिचय कराता है। फिर जब उसे सीखे हुए शब्द उसकी कुछ इच्छाओं के तृप्त करने में सहायक होते हैं, तो उसे शब्दों की शक्ति का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार से बालक के भाषा

सीखने का काम प्रारम्भ होता है। निरर्थक शब्दोच्चारण, सहज अनुकरण और शब्दार्थ-ज्ञान ये तीन बातें बालक के बोलने के प्रथम प्रयास में सदा पाई जाती हैं।

लेखक की बालिका शान्ति जब १ वर्ष की थी, वह देखती थी कि कभी-कभी उसकी माँ 'तू—तू' शब्द उच्चारण करती है। सुनते सुनते वह भी अपने मुँह से उसका उच्चारण करने लगी। कुछ समय के बाद वह जानने लगी कि 'तू—तू' शब्द कहने पर कुत्ता दौड़कर आ जाता है। जब कभी शान्ति उस शब्द का उच्चारण करती, कुत्ता दौड़कर आ जाता था। अब उसे 'तू—तू' का ज्ञान हो गया है कि १५ महीने होने पर वह 'तू—तू' शब्द के सुनते ही कुत्ते की कल्पना कर लेती थी और कभी-कभी अपने आप भी कुत्ते को 'तू—तू' करके बुलाती थी। इस तरह शान्ति का भाषा-ज्ञान आरम्भ हुआ।

पाठकगण यदि छोटे बच्चों की भाषा की तरफ ध्यान दें तो देखेंगे कि बालक ऐसे अनेक सार्थक शब्दों का उच्चारण करते हैं, जिनके अर्थ का उन्हें ज्ञान नहीं होता। शान्ति बीस माह की अवस्था में १ से २० तक गिनती कह लेती है। किन्तु उसका अर्थ जानना उसकी बुद्धि के बाहर की बात है। वह तीन नहीं कहती। जब कभी उसका भाई उसको 'तीन' कहलाने की कोशिश करता है वह झट 'चार' कह देती है। वास्तव में वह तीन का उच्चारण सरलता से नहीं कर पाती। इस बालिका को गिनती कहने में बड़ा आनन्द आता है। गिनती के अतिरिक्त अनेक ऐसे शब्द हैं जिनका उच्चारण तो वह करती है पर अर्थ नहीं जानती। किन्तु इन शब्दों की अपेक्षा सार्थक शब्दों की संख्या अधिक है।

प्रायः सभी एक साल के बालक कुछ-कुछ बोलने लगते हैं। किन्तु इस विषय में वैयक्तिक भेद अवश्य हैं। कोई-कोई बालक नौ महीने के होने पर ही बोलने लगते हैं और कोई-कोई अठारह महीने की अवस्था तक संकेतों से ही काम चलाते हैं। बालक का देरी से बोलना विशेष चिन्ता का विषय न होना चाहिये। कई बालक एक बार बोलना प्रारम्भ करने के बाद भाषा-ज्ञान की वृद्धि नहीं करते। वे कई महीनों तक दो-चार शब्दों से ही अपना काम चलाते हैं। जान पड़ता है कि उनकी भाषा सीखने की गति कुछ समय के लिये रुक गई है किन्तु ऐसा अनुमान करना निराधार है। जिस समय कोई बालक भाषा-ज्ञान की वृद्धि करते नहीं दिखाई देता, उस समय वह वातावरण से उन संस्कारों का सञ्चय करता रहता है, जो उसे पीछे भाषा के बोलने में सुविधा देते हैं। अतएव देखा गया है कि बालक कुछ समय के लिए भाषा सीखने में रुका हुआ जान पड़ता था, वह एकाएक भाषा-ज्ञान की वृद्धि कर लेता है।

विलियम स्टर्न का कथन है कि बालकों की अपेक्षा बालिकाएँ अधिक शीघ्र भाषा सीख लेती हैं। बालिकाओं में बालकों की अपेक्षा अनुकरण करने की प्रवृत्ति तीव्र होती है। अतएव वे बालकों की अपेक्षा बोलना पहले शुरू करती हैं। और सदा उनसे भाषा सीखने में आगे रहती हैं। बड़े बालक की अपेक्षा घर के छोटे बच्चे अधिक जल्दी बोलना सीखते हैं। भाषा सीखने में अनुकरण का बड़ा कार्य है। जिस बालक में अनुकरण की प्रवृत्ति प्रबल होती है और जिसे अनुकरण का अवसर मिलता है, वह जल्दी भाषा सीखता है। घर के सबसे बड़े बालक को दूसरे बालकों की अपेक्षा योग्य अनुकरणीय व्यक्ति का अभाव रहता है। बालक जितने चाव के साथ समवयस्क बालक का अनुकरण करता है, उतनी रुचि के साथ प्रौढ़ लोगों का अनुकरण नहीं करता। अतएव बालक का सबसे योग्य शिक्षक बालक ही है। जिस घर में बालक अकेला ही होता है, उसमें उसे वह सहूलियत नहीं मिलती, जिससे वह भाषा-ज्ञान सरलता से उपार्जन कर सके। भाषा सीखने की दृष्टि से बालक का बड़े परिवार में रहना लाभदायक है।

जिन घरों के लोग बालक को भाषा सिखाने में रुचि रखते हैं उनकी अपेक्षा रुचि न रखनेवाले घरों के बालक भाषा सीखने में पिछड़े रहते हैं। जब माता-पिता बालक को भाषा सीखने में उत्साहित करते हैं, उसकी सफलता पर प्रसन्नता प्रकट करते हैं तो वह जल्दी भाषा सीखता है। प्रोत्साहन के अभाव में जिस प्रकार प्रौढ़ जन किसी कार्य में उन्नतिशील नहीं होते, उसी प्रकार बालक भी बोलने में उन्नति नहीं करते। सुशिक्षित घरों के बालक अशिक्षित घरों के बालकों की अपेक्षा जल्दी बोलना सीखते हैं। इसी तरह धनी घरों के बालक श्रमजीवी लोगों के बालकों की अपेक्षा बोलने में आगे रहते हैं। गरीब लोगों को अपने बच्चों के ऊपर इतना ध्यान देने का अवसर ही नहीं रहता कि वे बैठ कर उन्हें बोलना सिखावें। उनके बालक धीरे-धीरे अपनी भोजन आदि की आवश्यकता की पूर्ति के लिए बोलना सीखते हैं और वातावरण से अपने आप शब्दों को सीख लेते हैं। अतएव देखा गया है कि वे भाषा-ज्ञान में धनी घर के बालकों की अपेक्षा सदा पिछड़े रहते हैं। जिस बालक को बालपन में ही दूसरों से आगे बढ़ जाने का प्रोत्साहन मिल जाता है, वह सदा उत्साही और स्फूर्तिवान बना रहता है। जिस बालक को ऐसा प्रोत्साहन नहीं मिलता, वह दुनिया की दौड़ में सदा पिछड़ा रहता है। भाषा-ज्ञान सब ज्ञानों का साधन है। अतएव भाषा-ज्ञान में पिछड़ा हुआ बालक दूसरी बातों के सीखने में भी पिछड़ जाता है और वह मन्दबुद्धि सा दिखाई देने लगता है।

शिशु की भाषा की विशेषताएँ

शब्दों का चुनाव—बालक हजारों शब्द अपने आसपास के लोगों को कहते सुनता है। उनमें से वह थोड़े से शब्दों को अपने काम के लिए चुन लेता है। इन्हीं शब्दों को वह बोलता है और इन्हीं के द्वारा अपनी अनेक भावनाओं को व्यक्त करता है। बालक इस प्रकार शब्दों का चुनाव जान-बूझकर नहीं करता; यह उसका एक प्रकार की सहज क्रिया का परिणाम है, अर्थात् बालक अज्ञात रूप से ही ऐसा चुनाव करता है।

बालक के शब्दों का चुनाव आन्तरिक और बाह्य दो प्रकार के कारणों से प्रभावित होता है। बालक को सुनने में जो शब्द अच्छे लगते हैं, उसकी निरर्थक भाषा से जो मिलते-जुलते हैं और जिन शब्दों का अर्थ उनकी ध्वनि से संकेतित होता है, ऐसे शब्दों को बालक शीघ्रता से ग्रहण करता है। जो शब्द बालक की समझ के बाहर अथवा उच्चारण करने में कठिन मालूम होते हैं उन्हें सीखने की चेष्टा बालक नहीं करता। वह बिल्ली का नाम "म्याउँ" और चिड़ियों का नाम 'चूँ चूँ' बहुत ही जल्दी सीख लेता है। बिल्लियों और चिड़ियों की बोलियाँ उसे जल्दी आकर्षित करती हैं अतएव यदि किसी वस्तु का नाम उसके द्वारा शब्द होने के अनुसार हो तो बालक को वह जल्दी याद हो जाता है। प्रौढ़ लोगों की भाषा में बहुत से शब्द ऐसे हैं, जिनकी ध्वनि और अर्थ से कोई सम्बन्ध नहीं होता। ऐसे शब्द सीखने में बालक को कठिनाई मालूम होती है। जिन शब्दों की ध्वनि अर्थ का बोध करती है ऐसे शब्दों को, सुग्राह्य होने के कारण, बालक शीघ्रता से सीख लेते हैं। माता-पिता इस प्रकार के शब्द बालकों के लिए गढ़ लें, जिन्हें बालक सरलता से सीख सकें।

बालकों का शब्दों को सीखना उनकी उच्चारण की योग्यता पर भी निर्भर रहता है। डेढ़ वर्ष तक बालक कुछ स्वरों का और कुछ कठोर व्यञ्जनों का उच्चारण नहीं कर पाता। ऊष्म व्यञ्जनों का उच्चारण बिलकुल असम्भव है।*

संकेतों का उपयोग—बालक अपने अनेक भावों का प्रकाशन करने के लिए संकेतों का उपयोग करता है। शब्दों के उच्चारण करने की शक्ति परिमित होने के कारण वह ऐसे संकेतों का आविष्कार कर लेता है, जिनसे अपनी

---

* लेखक की २० महीने की बालिका 'ई' स्वर का उच्चारण नहीं कर पाती। उसकी शब्दावली में निम्नलिखित व्यञ्जन और स्वर पाये जाते हैं—

ग, च, ज, त, द, ध, न, प, व, म – व्यञ्जन

आ, उ, ऐ, ओ, अं – स्वर

आन्तरिक इच्छाओं को व्यक्त कर सकें*। जिन शब्दों का उच्चारण माता-पिता संकेतों के साथ करते हैं उनका अर्थ बालक शीघ्रता से ग्रहण कर लेता है। इसी तरह बालक 'आओ', 'उठो', 'बैठो' इत्यादि शब्दों का अर्थ शीघ्रता से सीख लेता है। जब बालक किसी को बुलाता है तो मुँह से 'आ' 'आ' निकलता है और हाथ से इशारा करता है। यदि हम बालक को भाषा सीखने में संकेतों और हाव-भावों का प्रयोग करें तो उसे बहुत जल्दी भाषा सिखा सकते हैं।

शब्दों में परिवर्तन—बालकों का शब्दोच्चारण बड़ों का अनुकरण मात्र ही नहीं होता। वे कुछ शब्दों को तोड़-मोड़कर कहते हैं और कुछ चीजों के नये नाम रख लेते हैं। बालक इसमें अपनी सहूलियत देखते हैं और जो शब्द उन्हें सरल जान पड़ते हैं, उन्हें वे सीख लेते हैं।

यदि आप बालक को कोई नया शब्द सिखाना चाहें, तो देखेंगे कि वह उस शब्द में कुछ विशेष परिवर्तन कर देता है। और कुछ शब्दों का उच्चारण न करने का हठ करता है। उनके बदले वह अपने पर्यायवाची शब्द कहता है। निम्नलिखित प्रयोग शान्ति के (१ वर्ष ६ माह) भाषा-उच्चारण पर किया गया था—

संख्या क्रम	उत्तेजक शब्द	उत्तर
१	आँख	आँक
२	नाक	×
३	कान	×

* भाषा का अर्थ समझने में बाह्य उपकरणों की सदा आवश्यकता रहती है। शिक्षकों को सदा इस बात पर ध्यान रखना चाहिए। यदि हम किसी व्याख्यानदाता के शब्दों को आँख मूँदकर सुनें, तो हम चाहे जितनी ध्यान की एकाग्रता करें, उसके अर्थ को उतना नहीं ग्रहण करेंगे, जितना हम उसके चेहरे और शरीर की चेष्टाओं को देखकर ग्रहण करते हैं। योग्य शिक्षक, बालकों को पढ़ाते समय केवल मुँह से ही नहीं बोलता, प्रत्युत अपने प्रत्येक अंगप्रत्यंग से भावों को व्यक्त करता है। बालक की भाषा हाव-भाव से भरी रहती है। हमें बालकों की भाषा में ही उनसे बोलना चाहिये।

संख्या-क्रम	उत्तेजक शब्द	उत्तर
४	मुँह	मो
५	बाल	जू जू
६	पेट	वेट
७	पाँव	पा
८	रम्मू	अम्मू
९	रानी	नानी
१०	बाऊ	बाऊ
११	चीनी	अहाहा
१२	लोटा	×
१३	काका	चाचा
१४	दूध	दूद
१५	कौवा	कोका
१६	चील	ची
१७	चूचू (चिड़िया)	चूचू
१८	पानी	मम्मा
१९	कुत्ता	तूतू
२०	मुन्ना	नुन्ना मुन्ना
२१	गिलास	×
२२	बेर	बे
२३	आदो	आदो
२४	एक	एक
२५	दो	दो
२६	तीन	चा
२७	चार	चा
२८	पाँच	पाँ
२९	गाना	नाना, गाँगाँ

इस प्रयोग से पता चलता है कि इस बालिका को 'ई' मात्रा का उच्चारण करने में कठिनाई पड़ती है। अतएव उसने उस मात्रा को दूसरी मात्राओं में

परिवर्तित कर दिया। ११ नम्बर का शब्द या ऐसी मात्रा वाले शब्द का उच्चारण न करके दूसरे पर्यायवाची शब्द का उच्चारण किया। बालिका जिन शब्दों का उच्चारण नहीं कर पाई, उनका उसने कुछ उत्तर नहीं दिया। किन्तु जिन शब्दों के पर्यायवाची शब्दों का वह उच्चारण कर सकती थी, वे पर्यायवाची शब्द ही उसने जवाब में कहे (५-११-१८-१६ नम्बर के शब्दों को देखिए)। यह बालिका तीन अक्षरों के शब्दों का उच्चारण नहीं करती और कई दो अक्षरोंवाले शब्दों का भी उच्चारण नहीं करती। यह दो अक्षरोंवाले शब्दों को एकहर्फी बना लेती है। बालक अपने परिचित शब्दों को दृढ़ता से ग्रहण किये रहता है। जहाँ वह दूसरे शब्दों का उच्चारण कर सकता है वहाँ अपने पुराने शब्द से ही काम चलाता है।

इस प्रकार बालक अपनी सुगमता और योग्यता के अनुसार भाषा से शब्द चुना करता है। जिन शब्दों का उच्चारण वह सरलता से कर लेता है और वह स्वयं ही अर्थबोधक हैं, उन्हें बालक शीघ्रता से सीखता है। माता-पिता बालकों को इस प्रकार के शब्द सिखाते रहें जिनका उच्चारण वे सरलता से कर सकें। यदि पानी को बालक 'मम्मा' सरलता से कह सकता है, तो उससे 'मम्मा' कहलाना ही ठीक है। इस तरह जैसे हम विदेशियों की भाषा सीखते हैं वैसे हमें बालक की भी भाषा में निपुण होना चाहिये, ताकि हम बालक के मनोविकास में योग्य सहायता कर सकें।

प्रयोग और बोधशब्दावली

हमारा शब्द-भाण्डार दो प्रकार का होता है। एक तो वह जिस पर हमारा पूरा अधिकार है, जिसका प्रयोग हम जहाँ चाहें कर सकते हैं और दूसरा वह जिसको हम अपने आप प्रयोग में नहीं ला सकते, किन्तु दूसरों द्वारा प्रयोग किये जाने पर उनके भावों को समझ जाते हैं। पहले प्रकार की शब्दावली प्रयोगशब्दावली कही जाती है और दूसरे प्रकार की बोधशब्दावली कही जाती है। इन दोनों प्रकार की शब्दावलियों में बड़ी विषमता होती है। हम जब कोई दूसरी भाषा सीखते हैं, तब हमें यह विषमता प्रत्यक्ष होती है। दो-तीन वर्ष तक अँगरेजी पढ़ने पर हम उस भाषा में दूसरों की बातचीत तो समझ लेते हैं, किन्तु स्वयं नहीं बोल सकते। हम अपनी मातृभाषा के साधारणतः जितने शब्दों को अपने बोल-चाल और लिखने-पढ़ने के काम में लाते हैं, उनसे अधिक शब्दों के अर्थों को समझते हैं। हम किसी सुलेख के शब्दों को भलीभाँति समझ लेते हैं, पर वैसा लेख स्वयं नहीं लिख सकते। पुस्तक के लेखक की प्रयोगशब्द-

वर्ला पुस्तक पढ़नेवाले की प्रयोगशब्दावली से कई गुनी अधिक होती है।

उपर्युक्त दो प्रकार की शब्दावली की विषमता, छोटी अवस्था के बालक की भाषा में जितनी पाई जाती है, उतनी प्रौढ़ व्यक्तियों की भाषा में नहीं पाई जाती। कभी-कभी बोध-शब्दावली का बीसवाँ अंश ही बालक की प्रयोग-शब्दावली में पाया जाता है*। कितने ही बालक दो-ढाई वर्ष की अवस्था तक नहीं बोलते, किन्तु दूसरों की कही हुई बातों के अर्थ को समझने लगते हैं। कितने ही ऐसे बालक होते हैं जो एक बार बोलना आरम्भ करके फिर भाषा सीखने में उन्नति नहीं दिखाते। ऐसे बालक भी अपनी बोध-शब्दावली को धीरे-धीरे बढ़ाते रहते हैं और एकाएक शब्दों के प्रयोग में उन्नति दिखाने लगते हैं। ऐसा एक उदाहरण स्टर्न महाशय ने अपने एक मित्र के बच्चे का दिया है जो तीन साल की आयु तक भाषा सीखने में बिल्कुल पिछड़ा हुआ था, किन्तु जो एकाएक बोलने लगा और कुछ महीनों में ही बोलने में दूसरे बालकों के बराबर हो गया।

बालकों की बोध और प्रयोग-शब्दावली में शब्दों को संख्या की विषमता ही नहीं होती, वरन् दोनों शब्दावलियों में एक ही अर्थ के भिन्न-भिन्न शब्द रहते हैं। बच्चा 'पानी', 'चिड़िया' और 'कुत्ता' का अर्थ जानते हुए भी अपने उपयोग में 'मम्मा', 'चूचू', 'तूतू' आदि शब्दों का ही प्रयोग करता है। आप छोटे बालक से कई शब्द एक के बाद एक कहलवाइए, वह शब्दों के उच्चारण में आपकी नकल करता जायगा। किन्तु उससे जिस समय कोई ऐसा शब्द कहा जायगा, जिसका पर्यायवाची उसकी प्रयोग की भाषा में है तो वह कदापि आपके शब्द को न दुहरायेगा, वह अपने मन का ही शब्द कहेगा। जब-जब शान्ति से पानी, चीनी, चिड़िया और कुत्ता शब्द कहे जाते हैं, वह मम्मा, अहाहा, चूचू और तूतू शब्द ही कहती है अर्थात् वह सुने हुए शब्दों का अनुवाद अपने शब्दों में कर लेती है।

भाषा विकास की अवस्थाएँ

भाषा के विकास को हम चार कालों में विभाजित कर सकते हैं। इनमें

---

* शान्ति इस समय २० माह की बालिका है। उसकी प्रयोग शब्दावली में कुल २० या २५ शब्द हैं। उनमें ३, ४ क्रियापद हैं और उतने ही अव्यय। शेष संज्ञाएँ हैं। दूसरी वस्तुओं अथवा क्रियाओं का बोध वह प्रायः संकेतों द्वारा कराती है। किन्तु उसकी बोध-शब्दावली में कोई दो सौ शब्द आ चुके हैं। इनमें अधिक संज्ञाएँ हैं, लगभग दो दर्जन क्रियापद हैं, चार-पांच हैं और चार-पांच अव्यय। विशेषणों का पूर्ण अभाव है।

ते प्रत्येक काल भाषा-विकास की अवस्था माना जा सकता है। ये अवस्थाएँ ालक के मानसिक विकास की द्योतक हैं। हमें प्रत्येक अवस्था की विशेषता जानना आवश्यक है, जिससे हम बालक की भाषा सीखने के कार्य में उचित हायता कर सकें। ये अवस्थाएँ इस प्रकार हैं—

ारम्भिक अवस्था...जन्म से १ साल तक...निरर्थक शब्दोच्चारण।
ूसरी अवस्था १ साल से १½ ,, ,, एकशब्दी वाक्योच्चारण।
ीसरी ,, १½ ,, ,, २½ ,, ,, सरल वाक्योच्चारण।
ौथी ,, २½ ,, ,, आगे ,, जटिल वाक्योच्चारण।

निरर्थक शब्दोच्चारण—यह भाषा सीखने की पहली और प्रारम्भिक अवस्था है। इस अवस्था के विषय में हम बहुत कुछ पहले कह आये हैं, अतएव हाँ पर कुछ विशेष कहना आवश्यक नहीं। इस अवस्था में बालक निरर्थक ाब्दों का उच्चारण करता है। यह भाषा सीखने की तैयारी की अवस्था है। निरर्थक शब्दोच्चारण करके बालक भाषा सीखने के लिए मानसिक और शारी-रिक तैयारी करता रहता है। गवैया जिस प्रकार गाना आरम्भ करने के पूर्व प्रलाप छेड़ता है और सितार बजानेवाला सुरीली 'गति' बजाने के पूर्व सुर-ताल मिलाता है, उसी प्रकार प्रकृति देवी बालक की वाणी से अनेक प्रकार के सार्थक ाब्दों का उच्चारण कराने के पहले उसकी योग्य तैयारी में लगी रहती है। ालक जब सार्थक शब्दों का उच्चारण करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, तब ारम्भिक अवस्था का अन्त हो जाता है। इस अवस्था में बालक का इन्द्रिय-ान स्थिरता प्राप्त कर लेता है और वह धीरे-धीरे पदार्थ-ज्ञान संचित करने ागता है।

एकशब्दी वाक्योच्चारण—यह भाषा सीखने की दूसरी अवस्था है। स अवस्था में बालक एक ही शब्द का उपयोग अपने अनेक भावों के व्यक्त रने में करता है। बालक इस समय तक दो-चार शब्द ही बोल पाता है। केन्तु इन्हीं के द्वारा वह अपनी अनेक इच्छाओं को व्यक्त कर लेता है। उदा-रणार्थ "माँ" शब्द को लीजिए। बालक जब 'माँ-माँ' चिल्लाता है, तब सका अर्थ परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न हो सकता है। जैसे—"माँ, ुझे भूख लगी है", "माँ मुझे उठा ले", "माँ खिलौना दे दे" इत्यादि। इस वस्था में बालक के उच्चारण किये हुए शब्द, शब्दमात्र नहीं हैं, वे तो वास्तव वाक्य हैं। वे वाक्यों का कार्य करते हैं, अतएव उन्हें शब्द समझना हमारी ूल है। शब्द वाक्य का अंग होता ,है जिसे हम वाक्य-विश्लेषण द्वारा प्राप्त करते हैं किन्तु जब तक वाक्य के यथार्थ स्वरूप का आविर्भाव नहीं हुआ है, तब तक

शब्द ही वाक्य का कार्य करता है। बालक के सभी शब्द संज्ञाएँ होती हैं, मनुष्यों या वस्तुओं के नाम होते हैं।

मानसिक विकास की दृष्टि से यह अवस्था प्रत्यक्ष वस्तु-ज्ञान की अवस्था है बालक इस काल में संवेदना के जगत् से बाहर आकर वस्तुओं के जगत् में विच रण करने लगता है। वह पदार्थों का ज्ञान अपनी इन्द्रियों द्वारा प्राप्त करता उन्हें एक-दूसरे से पृथक् समझता है और इस ज्ञान को संकलित करने त स्थायी बनाने के लिए वस्तुओं के नाम सीखने की भावना उसमें जाग्रत हो जा है। अतएव जो बालक भाषा सीखने में जितने पिछड़े रहते हैं वे मनोविका में भी उतने ही पिछड़े रहते हैं। भाषा-ज्ञान मनोविकास का लक्षण और साध दोनों ही है।

सरल वाक्योच्चारण—यह अवस्था १½ वर्ष से ३ या ४ वर्ष तक रह है। विलियम स्टर्न ने इस अवस्था को दो कालों में विभक्त किया है। पह काल असंगठित वाक्योच्चारण का है और दूसरा सुसङ्गठित वाक्योच्चारण क इस अवस्था के पहले काल में बालक संज्ञा के अतिरिक्त क्रियापद का उपयो करने लगता है। 'माँ आ' 'बाबा आओ 'दूदू दे' इस प्रकार के वाक्य का प्रयो बालक करने लगता है। धीरे-धीरे उसे कुछ अव्ययों का ज्ञान होता है। ' बा' = 'माँ बाहर चल' इत्यादि वाक्य बालक काम में लाता है। किन्तु इस का के बालक के सभी वाक्य दो ही शब्दों के बने होते हैं। बालक को सर्वना विशेषण और दूसरे प्रकार के शब्दों का ज्ञान नहीं रहता। उसकी प्रयोग-शब्द वली संकुचित रहती है, किन्तु इस काल में उसकी बोध-शब्दावली बहुत ब जाती है। वह प्रयोग-शब्दावली की बीस गुनी से भी अधिक होती है।

बालक सरल वाक्योचारण के दूसरे काल में सर्वनाम, विशेषण, संयोज और सम्बन्धवाची शब्दों का ज्ञान प्राप्त करता है। उसका वाक्य दो से अधि शब्दों का बनने लगता है। पहले-पहल शब्दों का क्रम ठीक नहीं होता, किन पीछे शब्दों के अर्थ के अनुसार उनका प्रयोग वाक्य में ठीक स्थान पर हो लगता है। इस समय बालक सुसङ्गठित वाक्य में अपने भावों को व्यक्त करने योग्यता प्राप्त करता है।

मनोविकास की दृष्टि से अब बालक प्रत्यक्ष वस्तु-ज्ञान की स्थिति से आ बढ़ जाता है। इस समय वह अपनी स्मृति से काम लेता है और समय-समय उसकी कल्पना भी उसे जीवन की समस्याओं के सुलझाने तथा अनेक प्रकार विचार मन में लाने में काम करती है। बालक को काल का ज्ञान इस समय आरम्भ होता है। वह भूत और भविष्य की कल्पना कर सकता है और दूसरे स्था

के विषय में सोच सकता है। यदि कोई उससे पूछे "राजा तुम कहाँ गये?" तो वह जवाब दे सकेगा, "गङ्गाजी"। "अब कहाँ जाओगे?" "बाजार।" इस प्रकार के उत्तरों में प्रत्यक्ष से अतिरिक्त देश और काल का ज्ञान निहित है। बालक स्वयं इस प्रकार के प्रश्न पूछता है "माँ कहाँ है?" "मेरा कुरता कहाँ है?" ऐसे प्रश्न उसकी कल्पनाशक्ति के विकास के परिचायक हैं किन्तु इस काल में बालक का विचार-विकास नहीं होता। यह कार्य आगे की अवस्था का है।

जटिल वाक्योच्चारण—चौथी अवस्था जटिल वाक्योच्चारण की है। यह चार वर्ष से आगे की अवस्था है। बालक इस समय मिश्रित वाक्यों का प्रयोग करने लगता है। अधीन-वाक्य प्रधान-वाक्य से अनेक प्रकार के सम्बन्ध व्यक्त करता है। कभी-कभी इन वाक्यों द्वारा देश, काल और कारण-कार्य के भाव व्यक्त किये जाते हैं। किसी वाक्य में शर्त रहती है और कोई गुणवाची तथा संज्ञावाची वाक्य होता है। बालक के वाक्य लम्बे और एक-दूसरे में गुथे रहते हैं।*

इस काल में बालक अनेक प्रकार के प्रश्न पूछता है। इसके पहले वह जो

---

* स्टर्न महाशय की साढ़े तीन वर्ष की बालिका के अपनी माँ से किये गये कुछ प्रश्न इस प्रसंग में उल्लेखनीय हैं। बालिका ने ह्वेल मछली का चित्र देखा और माँ से निम्नलिखित प्रश्न किया—

लड़की का प्रश्न	माँ का उत्तर
यह क्या खा रही है?	मछली।
वह मछली क्यों खाती है?	उसे भूख लगी है।
वह रोटी क्यों नहीं खाती?	क्योंकि हम उसे रोटी नहीं देते।
हम उसे रोटी क्यों नहीं देते?	क्योंकि रोटीवाला रोटी आदमियों को ही बनाता है।
मछलियों के लिए क्यों नहीं बनाता?	क्योंकि उसके पास काफ़ी आटा नहीं है।
उनके पास काफ़ी आटा क्यों नहीं है?	क्योंकि रोटी बनाने के लिए काफ़ी अनाज नहीं है। क्या तुम जानती हो कि रोटी अनाज से बनती है?

इस प्रश्नोत्तर से बालकों की इस समय हर एक बात के कारण को जानने की उत्सुकता का पता चलता है। जैसे-जैसे यह उत्सुकता बढ़ती है, बालक का भाषा-ज्ञान भी बढ़ता है। इस तरह उसके विचार और भाषा दोनों साथ-साथ बढ़ते हैं।

प्रश्न पूछता था, उसका लक्ष्य पदार्थों के नाम मात्र जानना था। किन्तु अब वह पदार्थों क विशेष गुणों को जानना चाहता है। वह प्रत्येक घटना को 'कब' 'कहाँ' 'क्यों' आदि प्रश्न करके जानना चाहता है। यह विचार-विकास का काल है। इस काल में बालक की बुद्धि में कारण-कार्य का भाव आविर्भूत होता है। उसे किसी वस्तु और घटना के देखने मात्र से सन्तोष नहीं होता। वह उनका दूसरी वस्तुओं और घटनाओं से सम्बन्ध जानने की चेष्टा करता है।

बालक इस काल में अनेक नये शब्दों को गढ़ लेता है। वह पुराने शब्दों को मिलाकर नये शब्द बना लेता है। उदाहरणार्थ यदि बालक "रसोइया" शब्द नहीं जानता तो "रोटीवाला" कहकर काम चला लेता है।

भाषा-विकास के मानसिक उपकरण

दूसरों का अनुकरण—भाषा-विकास में अनुकरण की प्रवृत्ति और स्फूर्ति दोनों कार्य करती हैं। बालक के निरर्थक शब्दोच्चारण में उसका स्फूर्ति का काम रहता है। किन्तु सार्थक शब्दों के सीखने में अनुकरण बड़ा कार्य करता है। जो बालक जन्म से बहरे होते हैं वे गूँगे भी हो जाते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि बहरे बालकों को जन्म से ही शब्द नहीं सुनाई देते, इसलिए वे दूसरों से सुने हुए शब्दों का अनुकरण नहीं कर पाते *।

नकल दो प्रकार की होती है। एक सहज तथा अज्ञात और दूसरी जान-बूझकर एवं प्रयत्न करने से। भाषा सीखने में प्रायः सहज अनुकरण का कार्य महत्त्व का होता है। शिशु अपने आसपास के वातावरण में होनेवाले संस्कारों से स्वभावतः प्रभावित होता रहता है। ये शब्द उसके अदृश्य मन में अपने संस्कार छोड़ जाते हैं। कुछ काल के उपरांत यही संस्कार दृढ़ होकर बालक की भाषा का रूप धारण कर लेते हैं।

दूसरों की भाषा की नकल करने में बालक से चार प्रकार की भूलें होती हैं—

---

* कहा जाता है कि नैपोलियन ने मनुष्य का स्वाभाविक धर्म जानने के लिए एक वर्ष के बीस बालकों को इस प्रकार रखा कि उनसे कोई बातचीत न कर पाये। वह इस प्रकार यह पता लगाना चाहता था कि ये बालक बड़े होकर प्रौढ़ लोगों से बिना प्रभावित हुए किस धर्म का आविष्कार करते हैं। किन्तु देखा गया कि जैसे-जैसे बालक आयु में बड़े, गूँगे होते गये। कई एक तो सदा के लिए गूँगे हो गये। जब तक बालक दूसरों की नकल करके बोलना नहीं सीखता, वह बोल ही नहीं पाता।

(१) शब्दोच्चारण सुनने में भूल।
(२) शब्द की विशेषताओं पर ध्यान देने में भूल।
(३) शब्दोच्चारण करने में भूल।
(४) शब्द स्मरण रखने में भूल।

बालकों का मन चञ्चल होता है अतएव वे भलीभाँति किसी की बात नहीं सुन पाते। इससे शब्दों के उच्चारण सुनने में उनसे भूलें हो जाया करती हैं। वे शब्दों की विशेषता पर भी ध्यान नहीं दे पाते। फिर बालक से शब्दोच्चारण में भी भूलें होती हैं। उसकी शब्दोच्चरण करने की शक्ति परिमित होती है अतएव उसका नये शब्दों को, अपनी उच्चारण करने की योयग्ता के अनुसार परिवर्तित कर देना स्वाभाविक ही है। फिर बालक की स्मरणशक्ति भी तीव्र नहीं होती। इससे वह कुछ का कुछ याद कर लेता है।

माता-पिता और शिक्षक जिस शब्द को बच्चे को सिखाना चाहें, उसका उच्चारण धीरे-धीरे स्पष्टता से करें ताकि बालक भलीभाँति शब्द को सुन ले और उसकी विशेष ध्वनि पर उसका ध्यान आकर्षित हो जाय। फिर उस शब्द का उच्चारण बालक से कराना चाहिये। यदि कोई शब्द कठिन है तो उसका उच्चारण कई बार कराना चाहिये। इस प्रकार उस शब्द का संस्कार बालक के मस्तिष्क पर भलीभाँति दृढ़ हो जायगा। तब उसकी स्मरण-शक्ति उस शब्द का ठीक उच्चारण करने में अवश्य सहायता करेगी। माता-पिता जिस कठिन शब्द को बालक से नहीं कहवाते, उसे या तो वह सीखना ही छोड़ देता है अथवा उसका विकृत रूप स्मरण कर लेता है।

बालक की भाषा की कुछ विशेष गलतियाँ, जिनसे उसको मुक्त करना परमावश्यक है, निम्नलिखित प्रकार की हैं :—

(१) अक्षर विशेष की ध्वनि छोड़ना[1]—ओटी = रोटी, आऊ = आलू, ची = चील, यारा = ग्यारह।

(२) ध्वनि का बदल देना[2]—तूता = जूता।

(३) ध्वनि-भेद मिटाना[3]—तुत्ता = कुत्ता, कोका = कौआ, गागा, नाना = गाना।

(४) ध्वनि का स्थान बदलना[4]—अण्वकार = आविष्कार, हनाना = नहाना।

---

1. Elision. 2. Substitution.
3. Assimilation. 4. Metathesis.

उपर्युक्त भिन्न-भिन्न प्रकार की भूलें करने में व्यक्तिगत भेद पाये जाते हैं। कितने ही बालकों की भाषा में एक प्रकार की भूलें होती हैं और कितनों की भाषा में दूसरे प्रकार की। शब्दों के शुद्ध उच्चारण करने में लड़कों की अपेक्षा लड़कियाँ अधिक प्रवीण होती हैं। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, लड़कियों में नकल करने की प्रवृत्ति तीव्र होती है, इस कारण वे दूसरों द्वारा उच्चारण किये गये शब्दों को भलीभाँति सुनती हैं और ज्यों का त्यों उच्चारण करने की चेष्टा करती हैं। लड़कों में आविष्कारात्मक बुद्धि लड़कियों की अपेक्षा तीव्र होती है। यह बुद्धि लड़कों की स्फूर्ति एवं प्रतिभा की परिचायक है, किन्तु यह भाषा सीखने में बालक को उतनी सहायता नहीं देती, जितनी नकल करने की प्रवृत्ति सहायता देती है। बालक की आविष्कारात्मक बुद्धि शब्दों के रूप में विकृत करने में एक कारण बन जाती है। वह पुरानी ध्वनियों के स्थान पर अपनी आविष्कृत नयी ध्वनियों का प्रयोग करने लगता है। इस तरह उसे भाषा सीखने में अड़चन पैदा हो जाती है।

स्फूर्ति का कार्य—ऊपर हमने भाषा सीखने में अनुकरण की प्रवृत्ति की महत्ता बताई है, किन्तु भाषा सीखने में स्फूर्ति का भी बड़ा कार्य होता है। बालक अपनी स्फूर्ति से ही उन शब्दों को ग्रहण करता है, जो उसके आसपास के वातावरण में पाये जाते हैं। बालक प्रत्येक शब्द का जो उसे सुनाई देता है, उच्चारण नहीं करता। वह उन शब्दों में से कुछ को अपने प्रयोग के लिए चुन लेता है। इस चुनाव में उसकी स्वतन्त्र बुद्धि काम करती है। यह चुनाव बालक की रुचि, आयु और मानसिक अवस्था पर निर्भर रहता है। बालक अनेक लोगों के सम्पर्क में आता है किन्तु वह प्रत्येक व्यक्ति से भाषा-ज्ञान नहीं प्राप्त करता। वह जिस व्यक्ति से प्यार करता है, अथवा जिस पर श्रद्धा रखता है, उससे जितनी सरलता से भाषा सीख सकता है उतनी सरलता से दूसरों से नहीं सीखता। बालक का मन अपनी ओर आकर्षित किये बिना उसे भाषा सिखाना कठिन है।

जर्मनी के एक विद्वान् प्रोफेसर विलियम फोल्स द्वारा बच्चे को भाषा सिखाने का प्रयत्न यहाँ पर उल्लेखनीय है। फोल्स को कुछ दिनों तक मलाया में रहना पड़ा था। वहाँ उनके पास उस देश का निवासी एक नौकर था। यह नौकर बालक की देख-रेख करता था। बालक जब भाषा सीखने लगा तो मलाया देश की भाषा जल्दी-जल्दी सीखने लगा, वह अपने माता-पिता की जर्मन भाषा नहीं सीखता था। बालक जब तीन साल का हुआ, तब उसके माता-पिता जर्मनी चले आये। वे अपने नौकर को भी साथ ले आये। जर्मनी में आने पर बालक ने देखा कि

नौकर के सिवा कोई भी मलाया भाषा नहीं बोलता। सभी लोग जर्मन बोलते थे। इस समय बालक जर्मन भाषा सीखने लगा और दो भाषा-भाषी हो गया। अपने नौकर से वह मलाया भाषा बोलता है और दूसरों से जर्मन। किन्तु तीन महीने के बाद बालक के भाषा सीखने में एकदम परिवर्तन हो गया। उसने मलाया भाषा बोलना एकदम बन्द कर दिया। वह बिलकुल जर्मन भाषा बोलने लगा। कुछ काल के बाद वह मलाया भाषा बिल्कुल भूल गया। जर्मनी में आकर बालक ने देखा कि उसे मलाया भाषा बोलने के लिए कोई प्रोत्साहित नहीं करता और जिस व्यक्ति की वह भाषा है वह समाज में निकृष्ट गिना जाता है।

भाषा सीखने के उपर्युक्त दृष्टान्त से यह स्पष्ट है कि नई भाषा सीखने में प्रेम और श्रद्धा का बड़ा कार्य होता है। मनुष्य अपने को ऊँचा बनाना चाहता है। यही उसका स्वभाव है। वह आत्मप्रकाशन का सदा इच्छुक रहता है। वह उस कार्य को रुचि के साथ तथा सुगमता से करता है, जिससे उसकी आन्तरिक भावनाओं की सन्तुष्टि होती है। बालक भाषा सीखने में इसी नियम को चरितार्थ करता है॥।

भाषा सीखने में बालक सदा श्रद्धाभाव से ही प्रेरित नहीं होता, किन्तु यह उसकी योग्यता पर भी निर्भर है। अतएव वह अपनी ही अवस्था के बालक से जितनी भाषा सीखता है उतनी प्रौढ़ लोगों से नहीं। अनुकरण का एक साधारण नियम यह है कि नकल करनेवाला अपने समान व्यक्ति की ही नकल

॥ नकल की गति पानी की गति के प्रतिकूल होती है। मनुष्य सदा अपने से ऊँचे की नकल करना चाहता है। अतएव किसी भी व्यक्ति को अपने से नीची श्रेणीवाले की भाषा सीखने में कठिनाई पड़ती है। भाषा सीखने में हिन्दुस्तानी बड़े प्रवीण माने जाते हैं। हम जितनी जल्दी अँगरेजी और जर्मन भाषा सीख लेते हैं उतनी जल्दी जापानी बालक नहीं सीख पाता। अँगरेज लोग वर्षों की कड़ी मिहनत के बाद भी हिन्दी की कोई परीक्षा जल्दी नहीं पास कर पाते और शुद्ध हिन्दी भाषा बोल सकना तो उनके लिए प्रायः असम्भव ही है। इसी तरह तीव्र बुद्धिवाले बंगाली भी वर्षों काशी और इलाहाबाद में रहकर शुद्ध हिन्दी नहीं बोल पाते। बीस वर्ष के पूर्व एक मैट्रिक पास हिन्दुस्तानी सरलता से अँगरेजी बोल लेता था, पर अब नहीं। हमारा आन्तरिक हृदय उन लोगों का अनुकरण करने से रोक सकता है, जिसको हम श्रद्धास्पद नहीं समझते। बालक के भाषा सीखने में भी यही सिद्धान्त कार्य करता है। मनुष्य के किसी-किसी व्यवहार में श्रद्धा का काम भय और प्रलोभन से अधिक महत्त्व का होता है। भाषा का सीखना एक ऐसा ही व्यवहार है।

शीघ्रता से करता है। बालक को समवयस्क दूसरे बालकों के साथ छोड़ देना उसे भाषा सिखाने का सब से सरल उपाय है।

भाषा सीखने में स्फूर्ति का कार्य दोभाषी बालक के भाषा-उपयोग में सरलता से देखा जा सकता है। बालक जिस व्यक्ति से जो भाषा सीखता है, उससे उसी भाषा में बातचीत करता है। वह दूसरी भाषा का प्रयोग दूसरे व्यक्ति के लिए करता है। मेरे एक बंगाली मित्र की तीन वर्ष की लड़की जब मुझे देखती थी तो वह हिन्दी-भाषा में बातचीत करने लगती थी; जब अपनी माँ से कोई बात कहती तो बंगाली भाषा में कहती। मैं उससे बंगाली भाषा में बोलने की चेष्टा करता था, तो भी वह मेरी बातों का उत्तर हिन्दी में ही देती थी। लड़की की माँ हिन्दी भाषा भलीभाँति समझती है, किन्तु वह लड़की कभी उससे हिन्दी में कोई बात नहीं कहती। इसी प्रकार देखा गया है कि कोई-कोई बच्चे तीन-चार प्रकार की भाषाएँ भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के साथ बोला करते हैं। घर के लोगों के साथ मरहठी, आगन्तुक के साथ ठेठ हिन्दी और मजदूरिन के साथ देहाती हिन्दी बोलते हुए आप बालकों को पायेंगे। यहाँ उनकी स्फूर्ति उन्हें परिस्थिति के अनुसार ठीक भाषा का उपयोग करने में सहायता देती है। वास्तव में इस तरह बालक द्वारा ठीक भाषा का उपयोग अज्ञात रूप से होता रहता है। वह बालक के स्वभाव का एक अंग बन जाता है। फिर जीवन भर बालक इसी तरह भाषा का प्रयोग करता रहता है।*

स्टर्न महाशय का दिया हुआ एक उदाहरण यहाँ उल्लेखनीय है। इससे बालक की भाषा के उपयोग में स्वतन्त्र बुद्धि का कार्य भलीभाँति स्पष्ट होता है। स्टर्न महाशय के एक मित्र जर्मन थे, जिनकी स्त्री फ्रेंच थी। पति-पत्नी ने बालकों से बातचीत करने का यह नियम बना लिया था कि एक व्यक्ति बालक से एक ही भाषा में बातचीत करे। अर्थात् पिता बालक से जर्मन भाषा में बोलता था और माता फ्रेंच भाषा में। इस तरह बालक ने पिता से जर्मन भाषा सीखी और माता से फ्रेंच भाषा। इसका परिणाम यह हुआ कि जब बालक पिता से

---

* शिष्टाचार बताता है कि जब तीन-चार व्यक्ति एक जगह बैठे हों तो हमें उनमें से किसी एक से बातचीत करने के लिए ऐसी भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिये जिसे दूसरे न समझते हों। किन्तु हम व्यवहार में देखते हैं कि इस शिष्टाचार के नियम से भलीभाँति परिचित व्यक्ति भी उस नियम की अवहेलना अनजाने बार-बार करते रहते हैं। वास्तव में जो जिस प्रकार का व्यक्ति है उससे उसी भाषा में बोलना कई दिन के अभ्यास से हमारे का अंग बन जाता है।

कोई बात कहता था तो जर्मन भाषा का उपयोग करता था और माता से बात चीत करनी होती तो वह फ्रेंच भाषा का प्रयोग करता था। वह इस बात में कभी भूल नहीं करता था। जब माता का फ्रेंच भाषा में कहा हुआ कोई संदेश पिता से कहने जाता तो उसका अनुवाद कर जर्मन भाषा में पिता से कहता था।

हम बालक के व्यवहार का जितना ही अध्ययन करते हैं, हमें पता चलता है कि बालक एक स्फूर्तिमय आत्मा है। हम उसके व्यवहारों को बाह्य उपकरणों द्वारा नहीं समझा सकते। प्रौढ़ लोग बालक से किसी शब्द का उच्चारण करा सकते हैं। वह हमारे कहे हुए शब्दों को ग्रामोफोन रिकार्ड के समान दुहरा सकता है, परन्तु ऐसा ज्ञान और उच्चारण भाषा-ज्ञान एवं बोलना नहीं कहा जाता। बालक इन शब्दों का अर्थ अपनी स्फूर्तिमयी आत्मा से ही लगाता है।

जब बालक को यह ज्ञान होता है कि भाषा का प्रत्येक शब्द सार्थक होता है, उसके मन में बहुत प्रसन्नता होती है तो बड़ी शीघ्रता के साथ वह नये शब्दों को सीखने लगता है* वह अनेक वस्तुओं के नाम पूछता है। माता-पिता को चाहिए कि वे बालक की इस प्रकार शब्द सीखने की इच्छा की अवहेलना कभी न करें। बालक के जीवन में एक समय अवश्य ऐसा आता है जब वह

---

* हेलेन केलर नामक बालिका के भाषा सीखने का अनुभव यहाँ उल्लेखनीय है। यह बालिका अंधी, बहरी और गूँगी थी। वह ७ वर्ष की अवस्था तक कोई भाषा नहीं सीख सकी। जब वह ७ वर्ष की हुई, उसे मिस सिलेभान नामक अध्यापिका अँगुलियों की भाषा सिखाने लगी। मिस सिलेभान कई दिनों तक हेलेन केलर की हथेली पर पानी को संकेत करनेवाला चिह्न बनाती रही। वह बालिका इसको एक खेल समझती थी। एक दिन मिस सिलेभान उसे पानी के नल के पास ले गयी और उसे पानी छुलाया। साथ ही उसे संकेत करवेवाला चिह्न हाथ पर बना दिया। एकाएक हेलेन को ज्ञान हुआ कि सम्भवतः यह चिह्न उस पीनेवाले ठंढे पदार्थ का बोधक है। अब वह पानी का एक नाम जान गई। जिस समय उस बालिका को यह ज्ञात हुआ कि प्रत्येक वस्तु के नाम होते हैं, उसे इतना आनन्द हुआ कि उससे हाथ का कटोरा जमीन पर गिर पड़ा। वह एकाएक सैकड़ों वस्तुओं के नाम अपने शिक्षक से पूछने लगी। एक ही दिन में उसने दो-तीन सौ शब्द सीख लिये। उसके अज्ञान का पिंजड़ा टूट गया और वह भाषा के सहारे ज्ञान के संसार में विचरण करने लगी।

उपर्युक्त उदाहरण से यह स्पष्ट है कि जिस समय से बालक को शब्दों के अर्थ का ज्ञान होने लगता है, वह बड़े वेग से भाषा सीखने लगता है।

अपने भावों को व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं पाता। इस काल को मनोवैज्ञानिकों ने शब्दों के अकाल का समय कहा है। बालक इस समय अनेक नये शब्दों का आविष्कार करता है।

बालक के भाषा-ज्ञान की जाँच

भाषा-माप की आवश्यकता—बालक की प्रत्येक साधारण परीक्षा में भाषा-ज्ञान की आवश्यकता होती है। अतएव जब हम बालक की किसी प्रकार की परीक्षा लेते हैं तो उसके भाषा-ज्ञान की परीक्षा अपने आप हो जाती है। भाषा में ही भाव व्यक्त होते हैं। जिस विषय के भाव हमारे मन में नहीं होते, उसकी भाषा भी हमें ज्ञात नहीं होती। अतएव भाषा-ज्ञान की पृथक परीक्षा होनी अनावश्यक-सी जान पड़ती है। किन्तु आधुनिक काल में हम हर एक बात का वैज्ञानिक नतीजा चाहते हैं। इस ध्येय को सामने रख अनेक प्रकार की नये ढंग की भाषा की परीक्षाओं का निर्माण हुआ है। ये परीक्षाएँ बुद्धि-माप की परीक्षाओं जैसी हैं। उनके द्वारा हम शीघ्रता के साथ बता सकते हैं कि अमुक बालक भाषा सीखने में पिछड़ा हुआ है अथवा नहीं। इसी तरह विशेष प्रतिभाशाली बालक का भी हम ऐसी परीक्षाओं से खोज ले सकते हैं।

भाषा-ज्ञान की माप के तरीके—बालक के भाषा-ज्ञान की माप कई तरह से की जा सकती है। यहाँ कुछ तरीके उल्लेखनीय हैं, जो मनोवैज्ञानिकों द्वारा काम में लाए गए हैं :—

(१) बालक द्वारा प्रयुक्त सब शब्दों का गिनना।
(२) निश्चित समय में प्रयुक्त शब्दों का गिनना।
(३) प्रश्नावली द्वारा परीक्षा।

प्रयुक्त शब्दों की गिनती—बालक जिन शब्दों को अपने बोलचाल के काम में लाता है, उनकी संकेतलिपि से लिखकर हम बालक के भाषा-ज्ञान का पता भलीभाँति लगा सकते हैं। यह सबसे सरल तरीका है जिसे सभी माता-पिता काम में ला सकते हैं। संकेतलिपि के न जानने पर भी हम यह काम कर सकते हैं। यदि हम किसी भी तीन साल के बालक के दिन भर के प्रयुक्त शब्दों को लिखते जायँ, तो हमें प्रायः उसकी पूरी प्रयोग-शब्दावली का परिचय हो जायगा।

बालक की बोध-शब्दावली जानने में हमें कुछ कठिनाई पड़ती है। ब जितना छोटा होता है, उसकी बोध-शब्दावली उतनी ही प्रयोग शब्दा

बड़ी रहती है। कितने ही ऐसे शब्द हैं जिन्हें न तो बालक प्रयोग में लाता है और न उन्हें बोल ही सकता है किन्तु जिनके अर्थों को वह जानता है ऐसे शब्दों की जानकारी का पता चलाने के लिए परीक्षक को चतुराई से काम लेना पड़ेगा। बालक से कई काम कराकर उसकी चेष्टाओं तथा भावों को समझकर ही हम उसकी बोध-शब्दावली से परिचित हो सकते हैं।

इस प्रकार की जाँच के लिए अधिक समय की आवश्यकता होती है, किन्तु ऐसी जाँच के फल में कोई सन्देह नहीं होता। कितने ही मनोवैज्ञानिकों ने इस प्रकार जाँच कर बालकों की शब्दावली का पता चलाया है।

निश्चित समय में प्रयुक्त शब्दों की गिनती—यह रीति उपर्युक्त रीति से सरल है। किसी बालक को आप चुपचाप १५ मिनट तक देखें और उसके प्रयुक्त शब्दों को लिखते जायँ। अब इन शब्दों की तुलना आप पहले बनाई हुई लिस्ट से करें। खोज करने से पता चला कि ७ वर्ष का बालक लगभग ३५ शब्दों का उच्चारण करता है और तेरह वर्ष का बालक १५० शब्दों का। ७ वर्ष के बालक की पूरी प्रयोग-शब्दावली ८०० शब्दों की पाई गई और तेरह वर्ष के बालक की ३३०० शब्दों की। बालक की बोध शब्दावली उपर्युक्त प्रयोग-शब्दावली से कहीं अधिक होती है। प्रेसकाट महाशय ने ५-७ वर्ष की अवस्था के ५० बालकों के पारस्परिक व्यवहार में आनेवाले शब्दों की गिनती की। उनकी संख्या ३६२ पाई। अर्थात् बालक के व्यवहार में आनेवाले शब्द बहुत ही थोड़े होते हैं।

प्रश्नावली द्वारा भाषा-माप—आजकल की भाषा-माप की परीक्षाएँ पुरानी परीक्षाओं से कुछ भिन्न हैं। ये परीक्षाएँ बुद्धि-माप परीक्षाओं के समान होती हैं। इनके द्वारा थोड़े ही समय में यह बताया जा सकता है कि कोई बालक भाषा-ज्ञान में पिछड़ा हुआ है या नहीं। प्रत्येक अवस्था के बालक के साधारण भाषा-ज्ञान का पता शब्दों की संख्या के रूप में चलाया गया *। इस निश्चित संख्या को मापदण्ड मानकर बालकों को परीक्षा-पत्र दिया जाता है अथवा उनसे प्रश्नों द्वारा शब्दों के अर्थ पूछे जाते हैं। कई पाश्चात्य विद्वानों ने बड़े परिश्रम के साथ बालकों की भिन्न-भिन्न आयु में साधारण भाषाज्ञान का पता चलाकर योग्य प्रश्नावलियाँ बनाई हैं। इन प्रश्नावलियों के बनाने के तरीकों को जानना बाल-मनोविज्ञान में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को आव-

---

* टरमन और स्मिथ की खोज के अनुसार भिन्न-भिन्न अवस्था के बालक निम्नलिखित शब्दों की संख्या जानते हैं:—

श्यक है। भारतीय भाषाओं में इस प्रकार की प्रश्नावलियों का अभाव है। प्रत्येक देश-हित-चिन्तक मनोवैज्ञानिक को यह अभाव दूर करना चाहिए।

टरमन का तरीका—टरमन ने एक प्रमाणित बुद्धिमापक परीक्षा-पत्र बनाया है। उन्होंने एक शब्दकोष को लेकर सौ शब्दों का चुनाव किया। यह काम करने में उन्होंने विशेष प्रकार के शब्दों को न चुनकर किसी भी शब्द को ले लिया। मान लीजिए, यह निश्चय किया गया कि शब्दकोष का हर १८० शब्द के बाद वाला शब्द लिया जाय, वह चाहे जो हो। इस प्रकार १८००० शब्दों के कोष से १०० शब्द लिए गए हैं। फिर हजारों बालकों को यह प्रश्नावली देकर प्रत्येक अवस्था के बालक के साधारण भाषाज्ञान का पता चलाया गया। इसको एक मानदण्ड मान लिया। अब इसी के द्वारा दूसरे बालकों का भाषाज्ञान मापा जा सकता है।

मान लीजिए, १० साल की अवस्था के बालक टरमन के परीक्षा-पत्र के १०० शब्दों में से ३० शब्दों को जानते हैं तो उनकी शब्दावली ३०×१८० = ५४०० शब्दों की हुई। हमने १८००० कोष के शब्दों में से १०० शब्दों को ही लिया है। अतएव १८० का गुणा किया गया है। अब यदि हमें किसी १० वर्ष के साधारण बालक के भाषा ज्ञान का पता चलाना है, तो हम उपर्युक्त माप-पत्र को काम में ला सकते हैं। हम देखते हैं कि सामान्य बालक को ५४०० शब्दों का ही भाषाज्ञान होता है, अतएव यदि कोई दस वर्ष का

अवस्था	शब्द-संख्या
१० महीना	१
१ वर्ष	३
१ ,, ६ माह	२२
१ ,, ९ ,,	११८
२ ,, ६ ,,	२७२
२ ,, ९ ,,	४४६
३ ,, ,, ,,	८९६
३ ,, ६ ,,	१२२२
४ ,, ,, ,,	१५४०
६ वर्ष	२५००
८ ,,	३६००
१० ,,	५४००
१४ ,,	९४००

बालक ३० शब्द जानता है तो वह सामान्य बालक के समान ही है। न वह पिछड़ा है और न अपनी अवस्था के बालक से आगे है। यदि वह २५ शब्द ही बता सकता, तो उसे हम पिछड़ा कहते; क्योंकि उसका भाषा-ज्ञान २५ × १८० = ४५०० शब्द अर्थात् लगभग ६ वर्ष के बालक का है। यदि बालक का भाषा-ज्ञान ३० से अधिक शब्दों का है तो उसे उतना ही अपनी अवस्था के बालकों से आगे मानना चाहिए।

कुमारी स्मिथ का तरीका—कुमारी स्मिथ ने बालक का भाषा-ज्ञान जाँचने के लिए जो प्रश्नावली बनाई वह टरमन की प्रश्नावली से थोड़ी भिन्न है। टरमन ने शब्दों का चुनाव शब्दकोष से किया था। कुमारी स्मिथ ने थार्नडाइक की शब्दसूची से परीक्षा करनेवाले शब्दों का चुनाव किया है। थार्नडाइक ने दस हजार अँगरेजी शब्दों की एक ऐसी सूची बनाई है। जिसमें शब्दों को साधारण भाषा में प्रयोग में आने के क्रमानुसार रक्खा गया है। जो शब्द अधिक काम में आता है उसे पहले रक्खा गया है और जो कम प्रयोग में आता है उसे पीछे। थार्नडाइक ने एक प्रकार से भाषा में प्रत्येक शब्द की महत्ता निश्चित की है। इसके लिए उन्होंने २०० भिन्न-भिन्न प्रकार के साहित्य लेकर शब्दों के प्रयोग को गिनाया है और इस गिनती से शब्दों की महत्ता का पता चलाया है*। जैसे हम देखते हैं कि 'घर' शब्द 'बाग' शब्द से अधिक प्रयोग में आता है। अतएव 'घर' शब्द का स्थान सूची में 'बाग' के पहले रक्खा गया।

कुमारी स्मिथ ने इस शब्दावली के ५०० शब्दों को चुनकर अपनी शब्दावली बनाई है। किसी भी बालक की जाँच इस प्रश्नावली द्वारा साधारण

---

* थार्नडाइक की सूची प्रौढ़ लोगों के साहित्य से ली गई है, अतएव किशोर बालक का भाषा-ज्ञान जांचने के लिए इसमें चुने हुए शब्द उपयुक्त नहीं हैं। शिशु के लिए उनके प्रयोग में आनेवाले शब्दों की अलग सूची होनी चाहिये। कुमारी स्मिथ ने इस प्रकार की सूची २ से ६ वर्ष की अवस्था के बालकों की भाषा जांच करके बनाई है। उसमें प्रत्येक शब्द का तुलनात्मक प्रचलन दिया हुआ है। जैसे "मैं" शब्द की प्रचलन संख्या २५०० है, "है" की १६११, "वह" शब्द की १०४१, "सकता" की ४०१ और "नहीं" शब्द की ३७०। इस सूची से कोई भी व्यक्ति अँगरेजी भाषा-भाषी बालकों का भाषा-ज्ञान मापने के लिए परीक्षापत्र बना सकता है। हमें भारतीय भाषाओं में भी इस प्रकार के शब्द-प्रचलन की सूची बनानी चाहिये तथा उसके द्वारा बालकों का भाषा-ज्ञान मापने के लिए परीक्षा-पत्र बनाना चाहिये।

बालक से तुलना करके की जा सकती है। इस तरह बालक की भाषा समझने की शक्ति का परिचय मिल सकता है। टरमन और स्मिथ की परीक्षाओं द्वारा बालक की बोध-शब्दावली भलीभाँति जानी जा सकती है।

एलाइस डेसक्योडर की परीक्षा—जिनोवा की रहनेवाली श्रीमती डेसक्योडर ने छोटे बच्चों का भाषा-ज्ञान जानने के लिए बड़े परिश्रम से एक परीक्षा पत्र बनाया है। परीक्षा-पत्र द्वारा २½ वर्ष से लेकर ७½ वर्ष के बालक के भाषा-ज्ञान का पता चलाया जा सकता है। इसमें कुल १०३ प्रश्न हैं, जो ६ विभागों में विभक्त किये गये हैं। प्रत्येक विभाग के प्रश्न इस प्रकार रक्खे गये हैं कि उनमें से कुछ प्रश्न प्रत्येक बालक कर सके। ये प्रश्न हजारों प्रश्नों में से चुने गये हैं। छः-छः महीने के अन्तर से सब अवस्था के बालकों के लिए प्रश्नावली में प्रश्न हैं। इन प्रश्नों को चुनते समय यह देखा गया था कि किसी प्रश्न को जब ७५ फ़ीसदी एक अवस्था के बालक हल कर सकें, तो उस प्रश्न को उस अवस्था के योग्य समझा जाय।

इस प्रश्नावली के भिन्न-भिन्न प्रकार के प्रश्नों के नमूने नीचे दिये जाते हैं—

(१) बालक को एक वस्तु या तसवीर की विशेषता दिखाकर उसके विरोधी गुण को पूछना। जैसे नई और पुरानी कलम हाथ में लेकर कहा जाता है, यह कलम नई है और वह कलम... ? इसी तरह यह कपड़ा मोटा है और वह कपड़ा...।

(२) दस सरल वाक्यों में छूटे शब्दों को बताना।

(३) सुनी हुई संख्याओं को दुहराना।

(४) प्रश्न पूछने पर छः पेशों के नाम बताना। जैसे—रोटी कौन बेचता है ? लड़कों को कौन पढ़ाता है ?

(५) छः सामान बनाने में काम में आनेवाले पदार्थों के नाम गिनाना। जैसे—चाबी किस चीज की बनी है ? जूते किस चीज के बने हैं ?

(६) आठ विरोधी भाववाले शब्दों को स्मृति से बताना जैसे—यदि तुम्हारी चाय गरम नहीं है तो वह......है।

(७) दस रंगों के नाम लेना।

(८) बारह क्रियापदों को कहना। परीक्षक की क्रियाओं के, अथवा अपनी क्रियाओं के, जिसमें वह परीक्षक की नकल कर रहा हो, नाम बालक ले सकता है। खाँसना, लिखना, कूदना इत्यादि।

(९) क्रमशः कठिनाई के २५ शब्दों को सरल प्रश्नों द्वारा पूछना—घर, छाता, पहाड़ी, जहाज इत्यादि।

डेसक्योडर ने सुशिक्षित समाज और श्रमजीवी लोगों के बालकों के भाषा-ज्ञान में बड़ा अंतर पाया है। शिक्षित लोगों के बच्चों में जो साधारण भाषा-ज्ञान पाया जाता है वह श्रमजीवियों के बच्चों में नहीं पाया जाता।

भाषा की शिक्षा

शिक्षा के द्वारा प्रत्येक मानसिक शक्ति के विकास में सहायता मिलती है। जितनी योग्यता बालक अपने आप वर्षों में प्राप्त करता, वह शिक्षा के द्वारा थोड़ी ही देर में प्राप्त की जा सकती है। हमने ऊपर यह कहा है कि बालक का बुद्धि-विकास भाषा-विकास के ऊपर निर्भर है, अतएव किसी शिक्षा-प्रणाली में भाषा की शिक्षा का प्रमुख स्थान रहना चाहिये। जो बालक भले प्रकार से भाषा का प्रयोग कर सकता है वह अपने विचार सुसङ्गठित कर लेता है और उन्हें योग्यता के साथ दूसरे के समक्ष रखने में भी समर्थ होता है। जो व्यक्ति शब्दों का प्रयोग ठीक नहीं जानता वह किसी बात को ठीक तरह से सोच भी नहीं सकता।

मातृभाषा की प्रधानता—भाषा की शिक्षा में मातृभाषा का प्रधान स्थान रहना चाहिये। बालक जब तक मातृभाषा का भले प्रकार से प्रयोग करना नहीं सीख लेता तब तक उसे दूसरी भाषा सिखाई ही नहीं जानी चाहिये। जब बालक दूसरी भाषा सीखने लगता है उस काल में भी मातृभाषा की शिक्षा की अवहेलना न करनी चाहिये। भारतवर्ष में विदेशी राज्य होने के कारण विदेशी भाषा में दक्ष होना प्रत्येक भारतीय बालक की शिक्षा का प्रधान अंग हो गया था। मातृभाषा की शिक्षा पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता जितना कि अँगरेजी भाषा की शिक्षा पर दिया जाता था। इस प्रकार की शिक्षा से राष्ट्र अथवा समाज की कोई उन्नति नहीं हो सकती। स्वतन्त्र विचार करने का साधन मातृभाषा ही हो सकती है। हम विदेशी भाषा में अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन नहीं कर सकते। क्या हम नहीं देखते कि कोई विरला ही व्यक्ति दूसरे समाज या देश की भाषा में कविता करके ख्याति पाता है? हिन्दुओं में एक से एक चढ़ के फारसी और अँगरेजी के विद्वान् हुए पर वे फारसी और अँगरेजी साहित्य में कुछ भी मौलिक रचना न कर सके। यदि कोई व्यक्ति मौलिक विचार समाज को देना चाहता है तो उसे अपनी मातृभाषा में ही प्रवीण होना चाहिये। हमारे अंतस्तल के भाव पहले पहल मातृभाषा में ही चैतन्य मन में आते हैं।*

उपर्युक्त कथन का यही तात्पर्य है कि बालक की शिक्षा में मातृभाषा की

---

* यहाँ भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के निम्नलिखित दोहे उल्लेखनीय हैं—

शिक्षा का प्रधान स्थान रहना चाहिये। जिस देश व जाति के लोग अपने देश की भाषा को महत्व का स्थान नहीं देते वे कदापि दूसरे देशों की सभ्यता की बराबरी नहीं कर सकते। ऐसे देशों में आत्मसम्मान और देश-भक्ति का प्रादुर्भाव होना कठिन है*।

भारतवर्ष के कई प्रान्तों में अँगरेजी भाषा की शिक्षा दो वर्ष मातृभाषा में शिक्षा मिलने के उपरान्त ही प्रारम्भ हो जाती है। यह मनोविकास के नियम के विरुद्ध है। बालक को आठ-नौ वर्ष की अवस्था में दो भाषाएँ सीखनी पड़ती हैं। इसके कारण न मातृभाषा में योग्य बनता है और न विदेशी भाषा में। यदि किसी बालक को दो भाषाएँ सीखनी हों तो विदेशी भाषा का प्रारम्भ ग्यारह से तेरह या चौदह वर्ष की अवस्था के बीच में करना चाहिये। प्रत्येक *बालक को प्राइमरी स्कूल की परीक्षा मातृभाषा में पास करनी चाहिये।* इस परीक्षा के पास होने के उपरान्त ही विदेशी भाषा सिखाई जानी चाहिये †।

भाषा-शिक्षा के अंग—भाषा सीखने के तीन प्रधान अंग माने गये हैं—

(१) भाषा का बोलना।

(२) भाषा का पढ़ना।

(३) भाषा का लिखना।

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिन निज भाषा-ज्ञान के, मिटै न हिय को शूल॥
पढ़े फारसी बहुत विधि, तौ हू भये खराब।
पानी खटिया तर रहा, पूत मरे बक 'आब'॥

* यहाँ स्टेनले हाल महाशय का यह कथन उल्लेखनीय है—

"The heart of education as well as its phyletic root is the vernacular language and literature. These are the chief instruments of the social as well as ethnic and patriotic instincts."

—Adolescence. Vol. II. p. 454.

शिक्षा का हृदय तथा प्रधान जड़ मातृभाषा और उसका साहित्य है। ये ही हमारी सामाजिक और राष्ट्रीय भावनाओं के [illegible] के मुख्य साधन हैं।

† यहाँ इस सिद्धांत का स्मरण दिलाना भी आवश्यक है कि चौदह वर्ष के बाद भी बालक भलीभाँति नई भाषा नहीं सीख सकता। भाषा सीखने की प्रारम्भिक अवस्था में स्मृति का काम अधिक रहता है। अतएव नई भाषा सीखने का प्रारम्भ किशोरावस्था के पूर्व ही करना चाहिये जब कि बालकों में [illegible] की शक्ति प्रबल होती है।

भाषा-शिक्षा का लक्ष्य बालक को उपर्युक्त तीनों प्रकार की योग्यताओं में प्रवीण बनाना है। बालक की भाषा की शिक्षा क्रमानुगत होनी चाहिये।

बातचीत द्वारा शिक्षा—भाषा-ज्ञान-उपार्जन में लिखने से अधिक पढ़ने का और पढ़ने से अधिक महत्व बोलने का है। अतएव बालक को बातचीत करने तथा बोलकर अपने भाव-प्रकाशन करने में योग्य बनाने पर सबसे अधिक ध्यान देना चाहिये। शिशुवर्ग के बालकों से अधिक पढ़ने और लिखने का काम न लेकर बातचीत द्वारा ही भाषा की शिक्षा देनी चाहिये।

बालकों से अनेक प्रकार की कहानियाँ कही जायँ और उन्हें उन कहानियों को सुनाने के लिये प्रोत्साहन दिया जाय। इसी तरह कई स्थानों में बालकों को ले जाकर उन्हें बातचीत के द्वारा अनेक वस्तुओं का परिचय कराना चाहिये। किसी पदार्थ को दिखाते समय बीच में बालकों से प्रश्न करना चाहिये। इस तरह बालक अपने विचारों को स्पष्ट भाषा में प्रकाशन करना सीखता है। बालकों को अनेक चित्र दिखाकर उनके विषय में बातचीत करनी चाहिये। छोटे बालकों का इसी प्रकार अधिक समय बातचीत के द्वारा शिक्षा प्राप्त करने में व्यतीत होना चाहिये।

हम देखते हैं कि बालक ज्यों ही पाठशाला में आता है, उसे लिखाई-पढ़ाई के काम में लगा दिया जाता है। इस प्रकार का हमारा व्यवहार बालक के प्रति अत्याचार करना है। बालक का स्वभाव चञ्चल होता है। उसको धीरे-धीरे ही संयमी बनाया जा सकता है। जो बालक समय के पूर्व अपनी चंचलता छोड़ देता है वह मन्दबुद्धि होता है। हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि संसार के अधिक लोग कान के द्वारा ही भाषा-ज्ञान तथा अनेक प्रकार का दूसरा व्यावहारिक ज्ञान उपार्जन करते हैं, अतएव कान को बालक की शिक्षा में महत्व न देना बड़ी मनोवैज्ञानिक भूल है। पढ़ने-लिखने में अधिक जोर आँख पर ही पड़ता है। जिन बालकों को छोटी अवस्था से ही अधिक आँखों को काम में लाना पड़ता है उनकी आँखें कमजोर हो जाती हैं। बालक की आँखों पर जोर जितना ही कम पड़े उतना ही अच्छा है। बालक को जितने थोड़े समय में हम कहकर कोई बात समझा सकते हैं, उतने थोड़े समय में वह उसे पुस्तक द्वारा नहीं समझाई जा सकती है। बालक स्वयं भी जितनी जल्दी बोलकर अपने विचार प्रकाशित कर सकता है, उतनी शीघ्रता के साथ लिखकर नहीं कर सकता। अतएव हमें सदा बालक की भाषा-शिक्षा में लिखने-पढ़ने की अपेक्षा बातचीत द्वारा शिक्षा देने को अधिक महत्व देना चाहिये।

---

* "It is hard and, in the history of the race, a late change

पढ़ने की शिक्षा—उपर्युक्त कथन का तात्पर्य यह नहीं है कि हमें बालकों के पढ़ने की शिक्षा की अवहेलना करनी है। बालकों के मनोविकास के लिए पढ़ना नितान्त आवश्यक है। जो बालक स्वयं लिखना-पढ़ना नहीं जानते, उनका जीवन अधूरा ही रह जाता है। वे संसार के प्रमुख विद्वानों के विचारों से वंचित रह जाते हैं। आधुनिक काल में अपढ़ व्यक्ति को किसी प्रकार भी गौरव का स्थान प्राप्त नहीं हो सकता। यदि मनुष्य अपने पूर्वजों तथा समकालीन विद्वान् व्यक्तियों के विचारों से लाभ उठाना चाहता है तो अवश्य उसका लक्ष्य पढ़ना-लिखना होना चाहिये।

पर यदि पढ़ना प्रारम्भ करने के पूर्व बालक संसार का सामान्य ज्ञान बातचीत से कर ले तो उसका पढ़ना सार्थक होगा। कितने बालक अपनी पुस्तकों को तोता जैसा पढ़ते हैं, किन्तु संसार की साधारण बातों का ज्ञान न रहने के कारण वे पुस्तक की पढ़ी बातों का कुछ भी अर्थ नहीं समझते*। जब बालक को संसार की सामान्य बातों का ज्ञान बातचीत द्वारा हो जाता है तो वे पुस्तक की बातों को भी भली प्रकार समझ सकते हैं। उन्हें पढ़ी हुई

---

to receive language through the eye which reads, instead of through the ear which hears. Not only is perception measurably about three times slower, but book language is related to oral speech somewhat as herbarium is to a garden or a museum of stuffed specimens to a managerie. The invention of letters is a novelty in the history of the race that spoke for countless ages before it wrote. The winged word of mouth saturated with colour, perhaps shot with feeling, musical with inflection, is the utterance of a living present personality, the consummation of man's gregarious instinct."

Stanley Hall. **Adolescence Vol. II. P. 461.**

* लेखक को स्मरण है कि निम्नलिखित रहीम के दोहे हिंदी की तीसरी कक्षा में तोता जैसे बालकों से रटवाये जाते थे—

कहु रहीम कैसे सहैं, केर बेर को संग।
वे रस डोलें आपने, उनके फाटें अंग॥
जो तोको काँटा बुवै, ताहि बोउ तू फूल।
तोहि फूल को फूल है, वाको है तिरसूल॥

बालकगण पिछला दोहा सुनाते समय "तोहि" की जगह "ताहि" कह देते थे और उन्हें अर्थ के भेद का कुछ पता नहीं रहता था।

बात को स्मरण रखने में कठिनाई भी नहीं होती। दूसरे हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि जिस ज्ञान को बालक दूसरों से प्रकाशित नहीं करता वह उसके मस्तिष्क में स्थिर भी नहीं रहता। अपने ज्ञान का प्रकाशन करने का प्रमुख साधन बोलना ही है। अतएव जब बालक कोई पुस्तक पढ़े, तब भी उसे बोलकर अपने भाव को प्रकाशित करना चाहिए। जो बात लिखकर दूसरों से घण्टों में बताई जा सकती है वह बोलकर कुछ मिनटों में ही बताई जा सकती है।

बालकों का पुस्तक का पढ़ना दो प्रकार से होता है—एक जोर-जोर से और दूसरा चुपचाप। प्रत्येक प्रकार का पढ़ना बालक की भाषा-शिक्षा में महत्व रखता है। जोर-जोर से पढ़ने से बालक शब्दों का ठीक-ठीक उच्चारण सीखता है। यहाँ हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि बालक ऐसे पढ़े, जिससे वह स्वयं पढ़े हुए विषय का अर्थ समझता जाय तथा सुननेवाले भी उसका अर्थ समझ जायँ। जैसे बालक बातचीत करते समय अपने हाव-भाव तथा बोलने के ढंग से अपने अर्थ को दूसरों से व्यक्त करता है इसी तरह उसके पढ़ने में भी सार्थकता होनी चाहिए।

मौन पाठ का प्रधान लक्ष्य बालक की समझ का विकास करना होता है। जो बालक ठीक तरह से किसी पाठ को जोर-जोर से पढ़ सकता है वह कुछ दिन के अभ्यास के बाद मौन पाठ भी ठीक से कर सकता है। मौन पाठ में निपुण होने के लिए भी अभ्यास की आवश्यकता रहती है। कितने ही लोग मौन पाठ कर ही नहीं सकते। ऐसे लोगों को यदि किसी पुस्तक का आशय शीघ्रता से जानना हो तो वे इस कार्य में अकुशल रहते हैं। बालकों में भी अभ्यास के द्वारा मौन पाठ की योग्यता बढ़ाई जा सकती है। आधुनिक काल में दूसरे लोगों के विचार जानने के लिए मनुष्य को थोड़े ही समय में हजारों पृष्ठ पढ़ने पड़ते हैं। यदि किसी मनुष्य में मौन पाठ की योग्यता नहीं है तो वह दूसरों से सब बातों में पिछड़ा ही रहेगा। निश्चित समय में निश्चित पढ़ने का काम देकर मौन पाठ की योग्यता बालकों में बढ़ाई जा सकती है। यहाँ हमें बालकों की स्पर्धा की प्रवृत्ति से भी काम लेना चाहिये। जो बालक किसी पाठ को सबके पहले पढ़कर उसका तात्पर्य शिक्षक को बता दे उसकी प्रशंसा करनी चाहिये।

लिखने की शिक्षा—लिखने की शिक्षा का ध्येय बालकों के विचारों को स्पष्ट और ठीक बनाना है। प्रत्येक मनुष्य अपने मौलिक विचार लिखकर रखना चाहता है; ताकि दूसरे लोग उनका लाभ उठावें। अपने विचारों को स्थिर

बनाने का परम साधन लेख है। लिखने से किसी मनुष्य के विचारों का जितना नियन्त्रण होता है, उतना दूसरे किसी प्रकार से नहीं होता है,* पर हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि लिखने के लिए पढ़ना और संसार का अनुभव करना आवश्यक है। जिस मनुष्य के मस्तिष्क में कोई मूल्यवान् विचार ही नहीं, जिसने न कोई सत्संग किया, न पुस्तकें पढ़ीं, वह क्या लिखेगा ? अतएव हमें बालकों के अनुभवों को बातचीत द्वारा तथा पुस्तकों द्वारा बढ़ाने का लक्ष्य सबसे पहले रखना चाहिये।

बालक के लिखने में हमें इस बात पर ध्यान देना चाहिये कि बालक कहाँ तक अपने विचारों को सुसंगठित करके प्रकाशित कर रहा है। जो बालक भली-भाँति किसी विषय का चिन्तन नहीं कर सकता उसे वह ठीक से प्रकाशित भी नहीं कर सकता। लिखना चिन्तन की क्रिया में दक्ष होने का साधन है। लिखना ही स्वयं लक्ष्य न बन जाय। जो बालक अपने विचारों को लिखकर प्रकाशित करता है वह उन्हें अपने मन में स्थिर बना लेता है। बालकों के इस प्रकार के प्रयत्नों को हमें प्रोत्साहन देना चाहिये।

---

* बेकन महाशय का यह कथन उल्लेखनीय है—

Reading makes a full man, conversation makes a rea[dy] man and writing makes an exact man.

अठारहवाँ प्रकरण

विचार-विकास

विचार मन की वह क्रिया है जिसके द्वारा हम अपने पुराने अनुभव के आधार पर किसी नये निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं। विचार के लिए दो बातें अत्यन्त आवश्यक हैं—प्रत्यय[1] तथा सम्बन्ध-ज्ञान[2] की वृद्धि और रचनात्मक मानसिक क्रिया[3]। बालक में जब तक अपने विस्तृत अनुभव को प्रत्ययों के द्वारा सम्बोधित करने की शक्ति नहीं होती तथा जब तक अपने अनुभव को वह देश, काल, कारण-कार्यभाव इत्यादि सम्बन्धों से बाँधता नहीं है तब तक उसमें विचार करने की शक्ति नहीं होती। दूसरे पुराने अनुभव का मन में दुहराया जाना ही विचार नहीं है। यदि विचार का लक्ष्य पुराने अनुभव का दुहराया जाना ही रहे तो उसका कार्य स्मृति से भिन्न न होगा। विचार का लक्ष्य नई बातों का सोचना होता है। बालक जब किसी नई परिस्थिति में पड़ जाता है तो अपनी समस्या को सुलझाने के लिए पुराने अनुभव को काम में लाता है किन्तु उसके विचार करने का मुख्य उद्देश्य इस नयी परिस्थिति में अपने आपको सफल बनाना रहता है। इसके लिए नये ज्ञान की आवश्यकता होती है। विचार के द्वारा ही यह नया ज्ञान प्राप्त होता है।

विचार-विकास की अवस्थाएँ

बालक के विचार-विकास की तीन अवस्थाएँ मानी गई हैं—

(१) वस्तु-ज्ञान की अवस्था[4]।

(२) क्रिया-ज्ञान की अवस्था[5]।

(३) सम्बन्ध तथा विशेषण ज्ञान की अवस्था[6]।

हम यहाँ इन अवस्थाओं पर एक-एक कर भली प्रकार से विचार करेंगे।

वस्तु-ज्ञान की अवस्था—डेढ़ वर्ष तक का बालक प्रायः जो कुछ देखता है, वस्तु के रूप में ही देखता है। जिस प्रकार हम उसके भाषा-ज्ञान में संज्ञाओं

---

1. Concept. 2. Association of ideas.
3. Constructive mental activity.
4. Apprehension of objects. 5. Apprehension of actions,
6. Apprehension of relations and attributes.

के सिवा और कुछ नहीं पाते, इसी प्रकार उसके विचार में वस्तु-ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। किन्तु यह वस्तु-ज्ञान इतनी थोड़ी अवस्था में भी इन्द्रियगोचर पदार्थ तक नहीं सीमित रहता। बालक जो कुछ प्रत्यक्ष देखता है, उसका अर्थ लगाने की वह चेष्टा करता है अर्थात् वह अपने पुराने अनुभव को इस प्रत्यक्ष पदार्थ के समझने के काम में लाता है। जिस समय बालक इस प्रकार प्रत्यक्ष वस्तु का अपने पुराने अनुभव के आधार पर अर्थ लगाने की चेष्टा करने लगता है उस समय ही उसमें प्रत्यय[1] के ज्ञान का आविर्भाव होता है। उदाहरणार्थ बालक एक खिलौने को पड़ा देखता है तो उसे 'मुन्ना मुन्ना' कहकर बुलाता है। यह 'मुन्ना' शब्द उसके प्रत्यक्ष-ज्ञान को ही संकेतित नहीं करता वरन् उसके अतीत-ज्ञान का भी सूचक है। उसने दूसरे खिलौनों को भी 'मुन्ना' कहना पहले से सीख लिया है और 'मुन्ना' शब्द उसके एक विशेष प्रकार के अनुभव का सूचक बन गया है। इसी प्रकार बालक का कुत्ते को देखकर 'तू-तू' और बिल्ली को देखकर 'म्याउँ-म्याउँ' कहना उसके मन में प्रत्ययों की उपस्थिति का सूचक है।

भाषा-ज्ञान की महत्ता—बालक का जैसे-जैसे भाषा-ज्ञान बढ़ता है, उसका वस्तु-ज्ञान भी बढ़ता जाता है। बालक दो और तीन वर्ष की अवस्था के बीच प्रत्येक देखी हुई वस्तु का नाम जानने की चेष्टा करता है। यह काल भाषा-वृद्धि के महत्व का काल है। इसी समय बालक समझने लगता है कि प्रत्येक वस्तु का नाम होता है। अपनी इच्छाओं को सन्तुष्ट करने के लिए वह भाषा की उपयोगिता को समझने लगता है। प्रत्येक वस्तु का नाम जानने की चेष्टा करना बालक की बाह्य संसार पर अपना प्रभुत्व जमाने की मानसिक चेष्टा है। वह जिन वस्तुओं का नाम जान लेता है और जिनका प्रयोग कर सकता है ऐसी वस्तुओं के बारे में वह जब चाहे, विचार कर सकता है और उनके विषय में अपनी इच्छाएँ दूसरों पर व्यक्त कर सकता है। इस प्रकार उसकी इच्छाएँ सरलता से तृप्त हो सकती हैं।

बालक जहाँ अपनी इच्छित वस्तु के लिए कोई नया शब्द नहीं पाता वहाँ पुराने शब्द का ही उपयोग वस्तु को संकेतित करने के लिए करता है। उदाहरणार्थ शान्ति को (१ वर्ष १० माह) एक नारंगी लाकर दी गई। इसके कुछ दिन पहले उसने बेर खाये थे। बेर खाते समय उसने बेर शब्द को भी सीख लिया था। नारंगी खाते समय उसने 'नारंगी' शब्द नहीं सीखा। इसके दो कारण हैं—पहले तो 'नारंगी' शब्द का उसके सामने अधिक प्रयोग नहीं

1. Concept.

किया गया, अतएव उसको दूसरों द्वारा उच्चारित शब्द सुनने का पर्य्याप्त अवसर ही नहीं मिला; दूसरे 'नारंगी' शब्द उसके भाषा-उच्चारण करने की शक्ति के परे था। शान्ति इस समय तक दो अक्षरवाले शब्दों का ही उच्चारण कर सकती है। अतएव जब उसे नारंगी प्राप्त करने की इच्छा हुई तो उसने नारंगी के लिए 'बेर' शब्द का प्रयोग किया। इस प्रकार यह बालिका अपने भाव को दूसरों के समक्ष व्यक्त कर सकी और अपनी इच्छा को संतुष्ट कर सकी। इसी प्रकार यह बालिका पहले सब मिट्टी के खिलौनों को 'मुन्ना' कहती थी। अब वह मिट्टी के खिलौने के लिए तीन नामों का प्रयोग करने लगी है। 'चूचा' (सुग्गा), 'मुन्ना' और 'नानो' (रानी)। सभी चिड़ियों की आकृति के खिलौने उसके लिए 'चूचा' हैं, छोटे लड़के-लड़कियों के खिलौने "मुन्ना" और सभी स्त्री-बोधक खिलौने 'नानो' हैं।

प्रत्ययन का स्वरूप[1]—बालक की इस प्रकार की नामकरण की क्रिया का विश्लेषण करने पर हम देखते हैं कि बालक ने नामकरण के साथ-साथ प्रत्यय का आविष्कार किया। इस प्रकार के प्रत्ययज्ञान के आविर्भाव के लिए अनुभव में आनेवाले पदार्थ के कुछ गुणों को दूसरे गुणों से अलग करना तथा इन गुणों का वैसे ही दूसरे पदार्थ के गुणों से मिलान करना आवश्यक है। अर्थात् बालक इस प्रकार के नामकरण से अपने अनुभव को विश्लेषण करने[2] और उसे फिर संगठित करने[3] की शक्ति प्रदर्शित करता है। बालक अनुभूत पदार्थों के किस गुण को प्रत्यय के आविष्कार में प्रधानता देगा, यह उसके अनुभव तथा उसकी आवश्यकता पर निर्भर है। यदि उसके अनुभव में नारंगी और बेर इतने अधिक नहीं आये कि वह उनकी विशेषता पर ध्यान दे और यदि उसका काम बेर कहने से चल जाता है तो उसे नारंगी प्रत्यय सीखने की न तो सामग्री है और न आवश्यकता। बेर और नारंगी के रंग तथा गुलाई को देखकर बालक ने दोनों पदार्थों को एक नाम दे दिया। यह उसके अनुभव के विश्लेषण करने की शक्ति तथा अनेक अनुभवों में सामान्य बात खोज सकने की शक्ति को प्रदर्शित करता है। अनुभव को विश्लेषण करना और फिर उसे अपनी आवश्यकता के अनुसार सम्बद्ध करना विचार का प्रधान कार्य है जो कि विचार-विकास की सब अवस्थाओं में पाया जाता है। इसी को हम बालक के वस्तुज्ञान में पाते हैं। प्रत्ययन की क्रिया में वह स्पष्टतः देखा जाता है।

प्रत्यय के अभाव में बालक को वास्तव में किसी वस्तु का ज्ञान हो ही नहीं सकता। उसका इन्द्रियगोचर पदार्थ संवेदना मात्र रह जाता तथा प्रत्यक्ष

1. Conception. 2. Analysis. 3. Synthesis.

के अभाव में वह उसके विषय में सोच नहीं पाता। एक ही प्रत्यय अनेक वस्तुओं को संकेत कर सकता है—इस ज्ञान के होते ही बालक की संसार में व्यवहार करने की शक्ति इतनी अधिक बढ़ जाती है कि वह अब परिस्थितियों का दास न रहकर उनका स्वामी बनने की चेष्टा करने लगता है। मनुष्य और पशु में यदि हम एकमात्र भेद करनेवाले गुण देखना चाहें तो वह मनुष्य में प्रत्यय-ज्ञान की उपस्थिति और पशुओं में उसका अभाव है। पशुओं में अपने पुराने अनुभव के विषय में विचारने की शक्ति नहीं होती। उनका ज्ञान दृष्टिगोचर पदार्थ तक ही सीमित रहता है। वे प्रत्येक अनुभव की वस्तु को अलग-अलग देखते हैं। उनमें उनके सामान्य गुणों को जानने की शक्ति इतनी विकसित नहीं रहती कि वे प्रत्यक्ष वस्तुओं का वर्गीकरण[1] कर सकें। इस वर्गीकरण के लिए भाषा-ज्ञान की आवश्यकता है। पशुओं की भाषा शिशु के निरर्थक भाषा के समान होती है। उससे वे अपने कुछ दुःखों या इच्छाओं को अवश्य प्रकट कर सकते हैं परन्तु यह उनकी समझ में सहायक नहीं होती। बालक की भाषा उसके समझ की सहायक होती है, उसके प्रत्यय-ज्ञान को स्थिर बनाती है तथा उसको विचार करने की योग्यता प्रदान करती है। बिना भाषा-ज्ञान के घोड़ा, गाय, घर आदि प्रत्ययों का ज्ञान होना सम्भव नहीं। बालक जिस समय 'चूचू' शब्द से एक विशेष चिड़िया को सम्बोधित न करके एक वर्ग के प्रत्येक प्राणी को सम्बोधित करता है; तभी उसके मन में प्रत्यय-ज्ञान का अविर्भाव होता है। जैसे-जैसे बालक के भाषा-ज्ञान की वृद्धि होती है, उसके प्रत्यय-ज्ञान की वृद्धि भी होती जाती है। वह संसार के अनेक पदार्थों के सामान्य गुणों और भेदों को समझने लगता है।

उपर्युक्त उदाहरण में बालिका को जब चिड़िया, बच्चा और स्त्री के खिलौने में भेद का ज्ञान हुआ तो उसकी भाषा में एक ही जगह तीन शब्द उन खिलौनों का संकेत करने के लिए हो गये। इस प्रकार बाल्यकाल से लेकर मनुष्य जन्मभर अपने प्रत्यय-ज्ञान की वृद्धि करता रहता है। मनुष्य का भाषा-ज्ञान उसके प्रत्यय-ज्ञान की वृद्धि का सूचक है। जिन बालकों की भाषा में सूक्ष्म भाव व्यक्त करनेवाले शब्द नहीं पाये जाते उन बालकों को वास्तव में उन बातों का ज्ञान ही नहीं रहता। वस्तु-ज्ञान की अवस्था में बालक के प्रत्यय प्रत्यक्ष पदार्थ से स्वतन्त्र नहीं रहते। बालक का कोई भी प्रत्यय उसके दृष्टिगोचर पदार्थ तथा उसकी कल्पना से सम्बद्ध रहता है; इस अवस्था में बालक में यह शक्ति नहीं होती कि वह एक वर्ग के अनेक पदार्थों को देखकर एक सामान्य प्रत्यय से

1. Classification.

उनका बोध करे। जब बालक किसी प्रत्यय का प्रयोग करता है तो वह प्रत्यय बालक के अनुभव में आये हुए पदार्थों का ही बोधक होता है। वह स्पष्टतः किसी वर्ग की वस्तुओं का बोधक नहीं होता। इस अवस्था में बालक की भाषा में जटिल प्रत्यय[1] बोधक शब्द नहीं पाये जाते। इन प्रत्ययों का गढ़ना विचार विकास की तीसरी अवस्था का कार्य है।

बालक के प्रत्यक्ष-ज्ञान के विकास की तुलना हम मनुष्य के भाषा-ज्ञान के विकास से कर सकते हैं। भाषा-विकास की प्रारम्भिक अवस्था में भाषा के शब्द उनको बोध करनेवाली वस्तुओं या क्रियाओं के अनुरूप होते थे, अर्थात् ध्वनि और अर्थ में एकता रहती थी। इसी तरह लिखित भाषा के प्रचलित होने पर उसकी लिपि भी उसके अर्थ की बोधक थी; किन्तु जैसे-जैसे भाषा और लिपियों का विकास हुआ, ध्वनि और अर्थ, लिपि और संकेतित पदार्थ में कोई भी ऊपरी समानता न रह गई। इसी तरह बालक के प्रत्यय पहले-पहल प्रत्यक्ष-ज्ञान एवं ऐसे ही ज्ञान की कल्पना के बने रहते हैं, किन्तु, कालान्तर में वे प्रत्यक्ष पदार्थ के अनुभव से स्वतन्त्र हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, जब बालक 'बाबा' या 'बेर' शब्द का प्रयोग करता है तो कोई देखी हुई वस्तु की कल्पना उसके सामने आती है पर जब हम "घोड़ा", "घर" या "मनुष्यत्व" शब्द का प्रयोग करते हैं तो मन में किसी विशेष वस्तु का चित्र नहीं आता। ये शब्द जिन भावों को प्रदर्शित करते हैं वे चित्रित नहीं किये जा सकते।

क्रिया-ज्ञान की अवस्था—विचार-विकास की दूसरी अवस्था क्रिया का बोध होता है। बालक के वस्तु-ज्ञान की अवस्था में वस्तु में परिवर्तन का बोध नहीं होता। किन्तु जैसे-जैसे उसका अनुभव बढ़ता जाता है, वह देखता है कि दृष्टिगोचर पदार्थ में परिवर्तन भी होता है। उसके देखे हुए पदार्थ हिलते-डुलते हैं, एक स्थान से दूसरे स्थान को जाते हैं, कभी उसके सामने रहते हैं और कभी सामने से हट जाते हैं। जिस समय से बालक इन परिवर्तनों पर ध्यान देने लगता है, उसे क्रिया का बोध होता है। प्रायः डेढ़ साल की अवस्था से बालक ऐसी क्रिया को न सिर्फ अव्यक्त रूप से देखता है किन्तु कुछ क्रियासूचक शब्दों का प्रयोग भी करने लगता है। डेढ़ वर्ष की अवस्था तक बालक की भाषा में वस्तुसूचक शब्द ही रहते हैं। इसके उपरान्त उसकी भाषा में दो-एक क्रियापद भी आ जाते हैं। यदि वह पहले माँ को बुलाने के लिए 'मा' कहता था तो अब 'माँ' आ' भी कहने लगता है। किन्तु क्रिया के विषय में सोचने की शक्ति उसमें ढाई वर्ष से पहले नहीं आती। बालक क्रियाबोधक

1. Abstract concepts.

शब्दों के अर्थों को समझने तो लगता है पर उन शब्दों का सार्थक प्रयोग स्वयं नहीं कर पाता। वास्तव में जब तक किसी शब्द का सार्थक प्रयोग स्वयं मनुष्य नहीं करता, तब तक उसमें उस शब्द के बोधक ज्ञान को मन में लाने की शक्ति नहीं आती।

बालक के क्रिया-ज्ञान की वृद्धि की अवस्था में ही हम क्रियाबोधक शब्दों की वृद्धि पाते हैं। यदि बालक किसी नये पदार्थ को देखता है तो उस पदार्थ का नाम ही कहकर नहीं रह जाता, बल्कि उसको उसकी क्रिया के साथ संकेतित करता है। जैसे अपने पिता को देखकर बालक 'बाबा बाबा' ही नहीं कहेगा, बल्कि अब 'बाबा आ रहा है' ऐसा वाक्य कहेगा। वह चित्र को देखकर उसमें उपस्थित पदार्थों का ही नाम नहीं लेता, प्रत्युत उनकी क्रिया का भी वर्णन करने लगता है। यह काल ढाई वर्ष की अवस्था से प्रारम्भ होता है। इस काल में वस्तु ज्ञान की भी वृद्धि होती रहती है। बालक क्रिया के साथ-साथ अनेक नई वस्तुओं का नाम जानता है। उसके शब्दों में क्रिया-बोधक शब्दों के साथ-साथ-वस्तु-बोधक शब्दों की भी वृद्धि होती है।

हमें यहाँ पर इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है कि इस अवस्था में काल का ज्ञान नहीं होता। बालक प्रत्यक्ष होनेवाली क्रिया का ही बोध करता है। भूत और भविष्य की क्रिया के विषय में उसकी कल्पना नहीं होती। बालक को इस काल में इस बात का ज्ञान नहीं होता कि पहले क्या हुआ और आगे क्या होनेवाला है। उसके क्रियाबोधक के शब्दों में कालसूचक विभिन्न रूप नहीं होते।

सम्बन्ध और विशेषणज्ञान की अवस्था—बालक के विचार-विकास की तीसरी अवस्था सम्बन्ध और विशेषणज्ञान की है। इस अवस्था का प्रारम्भ ४ और ५ वर्ष के बीच में होता है। इस अवस्था में पहली अवस्थाओं का भी कार्य होता है अर्थात् बालक का वस्तु-ज्ञान भी बढ़ता है।

बालक की विचार-विकास की अवस्था पहचानने के लिए उसकी कई प्रकार से परीक्षा कर सकते हैं। यदि हम बालक को चित्र दिखावें तो वस्तु-ज्ञान की अवस्था में बालक वस्तुओं का ही नाम लेगा, पर क्रिया-ज्ञान की अवस्था में वह उनकी क्रियाओं को भी बतावेगा और सम्बन्ध-ज्ञान की अवस्था में वस्तुओं के आपस के सम्बन्ध को भी बतावेगा। बालक की भाषा में भी इसी प्रकार का परिवर्तन पाया जाता है। वस्तु-ज्ञान की अवस्था में बालक का शब्द-भंडार संकुचित रहता है। दूसरी अवस्था में उसकी वृद्धि हो जाती है; क्रिया-शब्द उसकी भाषा में आ जाते हैं। सम्बन्ध-ज्ञान की अवस्था प्राप्त होते ही उक्त दोनों

प्रकार के शब्दों की वृद्धि तो होती ही है, साथ ही साथ सम्बन्ध-सूचक और विशेषण-सूचक शब्द उसकी भाषा में आ जाते हैं। बालक की स्मृति की परीक्षा करके भी हम यह पता चला सकते हैं कि बालक विचार-विकास की किस अवस्था में है। प्रत्येक बालक प्रत्यक्ष पदार्थ का वर्णन जितनी सरलता से करता है उतनी सरलता से अतीतकाल के अनुभवों का वर्णन नहीं कर सकता। बालक प्रत्यक्ष घटना के विषय में एक अवस्था में रह सकता है और अतीत के सम्बन्ध में दूसरी अवस्था में। जो बालक चित्र को देखकर उसकी वस्तु और क्रिया का वर्णन करेगा वही चित्र की अनुपस्थिति में उसकी वस्तुमात्र ही बतावेगा, अथवा जो बालक प्रत्यक्ष चित्र के पदार्थ के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में अनेक प्रकार की कल्पना करेगा वही उस चित्र के अभाव में ऐसी कल्पना न करके वस्तुओं के नाम तथा उनकी कुछ क्रियाओं को ही कहकर रह जायगा। वास्तव में सात वर्ष के पहले बालक में स्वतन्त्र सोचने की शक्ति परिमित रहती है। वह प्रत्यक्ष-ज्ञान के आधार पर ही सोच सकता है।

विशेषण का विचार में प्रयोग—बालक के विचार में सम्बन्धज्ञान और विशेषण-ज्ञान का प्रयोग तीन, चार वर्ष की अवस्था से होने लगता है। बालक जब पहले पहल किसी विशेषण का प्रयोग करता है तो उस विशेषण के अस्तित्व को उस वस्तु से पृथक् नहीं देखता। बालक क्रिया-ज्ञान की अवस्था में भी कुछ विशेषणों का प्रयोग करता है, किन्तु ये विशेषण जिस वस्तु के साथ प्रयुक्त होते हैं उस वस्तु से वे अलग नहीं किये जा सकते। उदाहरणार्थ शान्ति (१ वर्ष १० माह) गरम दूध के लिए 'तातो' शब्द का प्रयोग करती है, किन्तु गरम पदार्थ दूध के अतिरिक्त दूसरा भी हो सकता है इसका उसे बोध नहीं है। ऐसा बोध क्रिया-ज्ञान की अवस्था पार होने पर ही होता है। छोटे-बड़े का ज्ञान तथा संख्या का ज्ञान बालक को क्रमशः ३ और ४ वर्ष की आयु के पहले नहीं होता। बालक के क्रिया-ज्ञान की अवस्था में ही रङ्ग का ज्ञान होता है किन्तु रङ्ग के विषय में भी वह स्वतन्त्र विचार नहीं कर सकता।

संख्या-ज्ञान—बालक में संख्या-ज्ञान का विकास एक बड़े महत्व की बात है। यदि तीन वर्ष के बालक को चार-पाँच खिलौने एक साथ दिये जायँ तो वह उन्हें इस प्रकार गिनेगा 'एक, एक, एक और, एक और, एक और,' अर्थात् उसमें एक, दो, तीन, चार, पाँच कह करके वस्तुओं के गिनने की क्षमता नहीं होती। जो बालक एक, दो, तीन, चार कहकर वस्तु को गिन भी सकते हैं वे उस गिनने के अर्थ को नहीं समझते। इस कथन की सिद्धि के लिए

निम्नलिखित प्रयोग किया जा सकता है जो कि स्टर्न महाशय ने अपनी बालिका (३ वर्ष ७ माह) के ऊपर किया था।

तीन या साढ़े तीन वर्ष के बालक को अपने हाथ की उँगलियाँ दिखाइये और उनको गिनने के लिए कहिए। उँगलियों को देख-देखकर बालक ५ तक की गिनती कह लेगा। अब अपना हाथ अलग कर दीजिये और उससे पूछिये कि मेरे हाथ में कितनी उँगलियाँ हैं। यदि बालक यह कह दे कि ५ उँगलियाँ हैं तो जानना चाहिये कि उसको ५ की संख्या का बोध हो गया है*।

बालक के विशेषण ज्ञान के विकास में हम इस नियम को देखते हैं कि बालक उन विशेषणों को शीघ्रता से सीखता है जिनसे वह अपने दुःख, सुख या संवेगों को व्यक्त कर सके। तीन वर्ष तक का बालक जिन विशेषणों का प्रयोग करता है उनका सम्बन्ध उसके व्यक्तित्व से रहता है। उसे विशेषण के स्वतन्त्र अस्तित्व का ज्ञान नहीं रहता। उदाहरणार्थ शान्ति (१ वर्ष १० माह) ने उष्णता-बोधक विशेषण (तातो) सबसे पहले सीखा। इसका प्रधान कारण यह है कि उसे गरम दूध ठण्डे दूध की अपेक्षा अच्छा लगता है और वह 'तातो' शब्द का प्रयोग गरम दूध पीने की इच्छा से ही करती है। धीरे-धीरे वह उस उष्णता-बोधक विशेषण का प्रयोग ऐसे पदार्थों के लिए भी करने लगी जिनको वह नहीं चाहती जैसे कि गरम दाल, गरम आलू। किन्तु अभी इस बालिका को 'तातो' शब्द के स्वतन्त्र अर्थ का ज्ञान नहीं है और इसे जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है उनके अतिरिक्त दूसरे विषय में उस शब्द का प्रयोग नहीं कर सकती और न उसका अर्थ ही समझ सकती है। इसी तरह वह किसी चीज को अधिक परिणाम में चाहती है तो "और" शब्द का प्रयोग करती है। "और" शब्द उसके लिए परिणाम-सूचक है। उसे उसके स्वतन्त्र उपयोग का ज्ञान नहीं है; उसका उपयोग सदा उसकी इच्छा से सम्बधित है। जिन विशेषणों का बालक से सीधा सम्बन्ध नहीं होता उनका ज्ञान चार वर्ष के पहले बालक को होना असम्भव है। संख्या ऐसा ही विशेषण है। संख्यावाची विशेषण का स्थान "और" शब्द ग्रहण कर सकता है। किन्तु संख्या की स्वतन्त्र उपयोगिता है, इस बात का ज्ञान बालक

---

* स्टर्न महाशय ने अपनी बालिका (३ वर्ष ७ माह) के ऊपर प्रयोग करके यह देखा कि जब उससे उँगलियाँ गिनने के पहले पूछा गया कि मेरे हाथ में कितनी उँगलिया हैं तो बालिका ने कहा—'मुझे गिनने दो।' उसने उँगलियों को पाँच तक गिन लिया। उसके गिन चुकने पर फिर पूछा गया तो वह फिर गिनने के लिये कहने लगी। दो-तीन बार गिनने के बाद भी वह उँगलियों की संख्या पाँच न बता सकी।

को चार वर्ष के पहले नहीं होता। संख्या-ज्ञान के लिए विचार की विश्लेषणात्मक शक्ति की वृद्धि की आवश्यकता है, जो बालक में चार वर्ष के पहले विकसित नहीं होती। बालक पहले पहल जिन वस्तुओं के गिनने में संख्या का प्रयोग करता है, उन वस्तुओं से संख्या को पृथक् नहीं समझ सकता।

बालक को जब हम उँगलियाँ दिखाकर 'एक, दो, तीन, चार, पाँच' गिनाते हैं तब इन संख्याओं का सम्बन्ध बालक के मन में उँगलियों से इतना अधिक रहता है कि वह एक को दूसरे से अपने विचार में अलग नहीं कर सकता, अर्थात् उँगली को संख्या से अलग नहीं कर सकता। जब बालक को हजारों वस्तुएँ इस प्रकार से गिनाई जाती हैं तब धीरे-धीरे उसे बोध होता है कि इन संख्याओं का अस्तित्व गिनी जानेवाली वस्तु से पृथक् है। हम चार वर्ष से कम अवस्थावाले बालकों को वस्तुओं को गिनते देखते हैं किन्तु वास्तव में इस गिनने का उन्हें बोध नहीं होता।*

बालक में जब संख्या-ज्ञान का विकास होता है तभी उसे बहुवचन का ज्ञान होता है। तीन वर्ष तक के बालक एक-एक करके वस्तुओं को गिन लेते हैं; उनको समुच्चय-ज्ञान नहीं होता। यदि हम बालक की इस समय की भाषा

---

* स्टर्न महाशय ने एक बड़ा सुन्दर उदाहरण दिया है जिससे व्यक्त होता है कि बालक के मन में किस प्रकार का निजी स्वार्थ तथा वस्तु की सम्बन्धित संख्या का ज्ञान रहता है। तीन वर्ष की अवस्था का उसके मित्र का एक बालक दो सेवों को गिन लेता था किन्तु दो आंखों या हाथों को नहीं गिन पाता था। एक साढ़े चार वर्ष के बालक से जब यह पूछा गया कि मेरे हाथ में कितनी उँगलियाँ हैं तब उसने जवाब दिया—'मुझे नहीं मालूम, मैं अपने हाथ की उँगलियाँ गिन सकता हूँ। उस बालक के मन में गिनती का संबंध अपनी उँगलियों के साथ घनिष्ठ हो गया था कि वह यह नहीं जानता था कि उन्हीं गिनतियों से दूसरे की भी उँगलियाँ गिनी जा सकती हैं।

एक समय शिशुवर्ग के बालकों को पढ़ाते समय यह प्रश्न पूछा गया कि तुमने अपनी दहाई कहाँ रक्खी है? दहाई को ले आओ। बालक ने उत्तर दिया 'दहाई बच्ची खा गई।' बालक का यह उत्तर बड़ा मनोरंजक है। शिक्षक ने दस चने एक पोटली में बाँधकर रख दिये थे। यह उस बालक की दहाई थी। इसी दहाई को बच्ची खा गई। बालक के मन में उस समय तक दहाई का अस्तित्व चनों से पृथक् नहीं हो सकता था। वास्तव में, इस आयु में, बालक को दहाई का ज्ञान कराना व्यर्थ था। इस बालक की आयु ५ वर्ष से कम थी।

को देखें तो ज्ञात होगा कि उसकी भाषा में कोई बहुवचनसूचक शब्द नहीं है। जब तक बालक एकवचन के ज्ञान से बहुवचन के ज्ञान तक नहीं पहुँचता; तब तक उसके मन में सम्बन्ध-ज्ञान का विकास होना सम्भव नहीं। जब बालक देखने लगता है कि अनेक वस्तुओं में भेद है और एक ही प्रकार की अनेक वस्तुएँ होती हैं, तब उसे वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करने की आवश्यकता होती है, अर्थात् बहुवचन का ज्ञान संख्याज्ञान और सम्बन्धज्ञान के आविर्भाव की पहली सीढ़ी है।

अव्ययज्ञान—संख्या-ज्ञान होने के पूर्व बालकों को कुछ अव्ययों का ज्ञान हो जाता है। परन्तु इन अव्ययों का ज्ञान भी उनकी वैयक्तिक इच्छाओं से सम्बन्धित रहता है। जो बालक बाहर जाना चाहता है वह कहता है "बाहर बाहर"। इस बाहर का अर्थ अव्यय नहीं है। यह संज्ञाबोधक शब्द है। ऐसे अव्ययों का ज्ञान बालक को २ वर्ष की अवस्था से पहले ही हो जाता है। किन्तु वह इनका स्वतन्त्र अर्थ नहीं जानता। बालक को "ना, ना" कहना डेढ़ वर्ष की आयु के पहले आ जाता है। जिस वस्तु को बालक नहीं चाहता उसे "ना, ना" कहता है। उसकी भाषा में स्वीकृतिबोधक शब्द नहीं पाये जाते; किन्तु निषेधात्मक शब्द पहले से ही आ जाते हैं। इस निषेधात्मक शब्द का अर्थ उसकी अनिच्छा का बोधक है। उसे इस शब्द के दूसरे अर्थ ज्ञात नहीं रहते। यदि उससे नाक दिखाकर पूछा जाय कि क्या यह तुम्हारा कान है, तो २ वर्ष तक का बालक 'ना' का ठीक प्रयोग इस स्थान पर नहीं कर सकेगा, अर्थात् उसे 'ना' के उपयोग का पूरा ज्ञान नहीं।

काल-ज्ञान का विकास—तीन वर्ष तक का बालक वर्तमानकाल ही में रहता है। उसको भूत और भविष्य के विषय में कोई विचार नहीं रहता। तीन वर्ष और चार वर्ष के समीप भविष्यकाल का ज्ञान उसे होता है जब कि वह "अभी" शब्द का प्रयोग करने लगता है। काल-ज्ञान के विकास में देखा जाता है कि बालक भविष्यकाल भूतकाल की अपेक्षा पहले बताता है। जो घटनाएँ हो चुकी हैं उनके विषय में बालक न तो सोचता है और न उसको इसकी आवश्यकता है; क्योंकि ये घटनाएँ उसकी वर्तमान इच्छाओं से सम्बन्ध नहीं रखतीं। चार वर्ष की अवस्था में बालक 'कल और परसों' शब्द का प्रयोग उचित अर्थ में नहीं कर पाता। हिन्दी भाषा में तो 'कल' शब्द का प्रयोग और भी कठिन होता है। यह भूतकाल और भविष्यकाल दोनों का सूचक होता है अतएव बालक को इस शब्द का ठीक प्रयोग समझने में बड़ी कठिनाई पड़ती है। पहले तो वह देखता है कि दिन बदलता रहता है। पर 'कल' जैसा का तैसा

रहता है। यदि हम पाँच वर्ष के बालक की बोलचाल की भाषा पर ध्यान दें तो देखेंगे कि उसकी भाषा में कालसूचक शब्द बहुत ही थोड़े हैं। इनके अभाव के कारण बालक की स्मृति भी सुसम्बद्ध नहीं होती। हम देखते हैं कि हमारे विचार करने में स्मृति का बहुत बड़ा स्थान है। जब तक बालक की स्मरण-शक्ति विश्वसनीय नहीं हो जाती, तब तब उसके विचारों का सुसंगठित होना कठिन है। दो घटनाओं का पूर्वापर सम्बन्ध जोड़ने के लिए स्मरणशक्ति की योग्यता होना आवश्यक है। यह काल-ज्ञान के अभाव में असम्भव है।

कारण-कार्य भाव—बालक के मन में जब काल-ज्ञान का आविर्भाव होता है तो वह पहले और पीछे होनेवाली घटना में सम्बन्ध जानने की चेष्टा करता है, अर्थात् काल-ज्ञान की परिपक्वता कारण-कार्य-भाव के विकास के लिए उपादान कही जा सकती है। यह अवस्था साधारणतः ७ वर्ष के बालकों को प्राप्त होती है।

इस काल में बालक अनेक प्रकार से प्रश्न स्वयं पूछने लगता है, जिनका लक्ष्य घटना का कारण जानना होता है। यही ऐसा काल है जब बालक को विभिन्न वस्तुओं का अनुभव सुसंगठित होता है। हम देखते हैं कि बालक इस समय बड़े-बूढ़ों से अनेकों प्रश्न करता है। वे उसके प्रश्नों का उत्तर देते-देते थक जाते हैं। हम समझते हैं कि बालक का ऐसे प्रश्न करना व्यर्थ है, किन्तु हम इस बात को भूल जाते हैं कि बालक इस प्रकार की क्रिया से अपने अनुभव को ठीक तरह से सुसंगठित करने की चेष्टा करते हैं। जहाँ बालक को अपने प्रश्नों का उत्तर नहीं मिलता, वह स्वयं ही अपनी कल्पना द्वारा उनके उत्तर का निर्माण कर लेता है। हममें और बालक में किसी घटना के खोजने में विशेष अन्तर यह है कि अनुभव की परिपक्वता होने के कारण हम किसी प्रकार के कारण से सन्तुष्ट नहीं होते। हम अपने दूसरे ज्ञान से उसकी सम्भावना देखते हैं। बालक में इस तरह ज्ञान का अभाव रहता है। अतएव यदि उसको किसी घटना का असम्भव से असम्भव कारण बता दिया जाय तो वह उस पर अविश्वास नहीं करता। जैसे यदि बादल गरजने के लिए यह कहा जाय कि एक बड़ा राक्षस बड़े जोर से चिल्ला रहा है तो बालक इस पर सहर्ष विश्वास कर लेगा। बालक जब चन्द्रमा को देखकर उसमें उपस्थित काले-काले दाग का कारण पूछता है और जब उससे यह कहा जाता है कि एक बुढ़िया बैठकर चरखा कात रही है तो बालक इस प्रकार के उत्तर पर तनिक भी संदेह नहीं करता। जो भेद हमने शिक्षित और अशिक्षित लोगों की बुद्धि में कारण-कार्य-भाव के विषय में बताया है वही बालक और प्रौढ़ की बुद्धि में पाया जाता है।

बालक के सूक्ष्म विचार—जैसे-जैसे बालक के अनेक प्रकार के सम्बन्ध ज्ञान का विकास होता है, वैसे-वैसे उसके विचारों में सूक्ष्मता आती जाती है। यदि हम बालकों के विचार को देखें तो ज्ञात होगा कि सके सभी विचार दृष्टिगोचर या विशिष्ट वस्तु से सम्बन्ध रखते हैं। यदि बालक से पूछा जाय कि हँसने का क्या अर्थ है, तो वह हँसकर बता सकता है अथवा वह कह सकता है कि हँसने का अर्थ दाँत दिखाना। प्यार करने का अर्थ पुचकारना और चुम्मा लेना। एक पौने पाँच वर्ष के बालक ने कहा—'कुत्ता बैठा हुआ है और वह सोचता है कि मुझे रोटी मिलेगी।' जब उससे यह प्रश्न किया गया कि कुत्ते कैसे सोचते हैं ? तो उसने कहा—मुँह से सोचते हैं।' फिर जब यह प्रश्न किया गया कि हम कैसे सोचते हैं ? तो उसने कहा—'जीभ से।' वास्तव में बालक स्वयं सोचने के समय बोलता है इसलिए सोचना और बोलना उसके विचार में पर्यायवाची शब्द हैं।

बालक को जितनी जल्दी संज्ञा-ज्ञान हो जाता है उतनी जल्दी उसे सर्वनामों का ज्ञान नहीं होता। सर्वनामों में सबसे कठिन 'मैं' और 'तुम' है। इन सर्वनामों का ठीक-ठीक अर्थ समझने में बालक को बड़ी कठिनाई होती है। जिस प्रकार 'कल' (कालवाचक अव्यय) का अर्थ बदलता रहता है इसी प्रकार 'मैं', 'तुम' शब्दों का अर्थ भी बदलता रहता है। 'मैं', 'तुम' के ठीक अर्थ का बोध तभी होता है जब उसे 'कल' का ज्ञान होता है। जब तक बालक सर्वनामों का उपयोग अपने विचारों में नहीं कर पाता तब तक उसके विचार सुव्यवस्थित नहीं होते। वास्तव में 'मैं' और 'तुम' का ज्ञान होना अपने और समाज का ज्ञान तथा आपस के सम्बन्ध का ज्ञान होने का सूचक है।

बालक के निर्णय (निश्चय)[1]

स्वीकारात्मक एवं अस्वीकारात्मक[2] निर्णय—किसी वस्तु के प्रति स्वीकारात्मक या निषेधात्मक मनोवृत्ति को निर्णय कहते हैं। हमारी बुद्धि ऐसी अवस्था में किसी वस्तु के अस्तित्व अथवा दो वस्तुओं के पारस्परिक सम्बन्ध को स्वीकार या आविष्कार करती है। इसी आन्तरिक भाव को शब्दों में प्रकाशित किया जाता है। किसी निर्णय को उचित शब्दों में सुसंगटित रूप से प्रकाशित करना प्रौढ़ावस्था का कार्य है। बाल्यावस्था में सुसंगठित वाक्य बनाना कठिन होता है। चार वर्ष तक का बालक प्रायः दो ही शब्दों के वाक्य का उपयोग करता है। अतएव उसके वाक्यों मे अधिकतर या तो संज्ञा और क्रिया

1. Judgments. 2. Affirmative and negative judgments.

रहती है अथवा संज्ञा और विशेषण। बालक के ऐसे वाक्य उसके निर्णय कहे जा सकते हैं। जब बालक कहता है 'आम मीठा' तो इसका अर्थ है 'आम मीठा है।'

बालक के पहले-पहल के निर्णय स्वीकारात्मक होते हैं। निषेधात्मक निर्णयों का आविर्भाव स्वीकारात्मक के बाद होता है। यदि बालक से पूछा जाय कि आम कैसा है, या दूध कैसा है, तो वह तुरन्त कह सकेगा कि 'आम मीठा है' या 'दूध मीठा है।' किन्तु यदि उसको खट्टा आम देकर कहा जाय "यह आम मीठा है?" तो तीन वर्ष तक का बालक उत्तर में यह नहीं कह पायेगा 'आम मीठा नहीं है।' बालक से जब यह प्रश्न पूछा जाता है "क्या तुमने दूध पिया है?" तो यदि उसने दूध नहीं पिया है किन्तु उसकी बहन ने पिया है तो वह कहेगा 'बहन ने दूध पिया है'। वह यह नहीं कह पाता 'मैंने दूध नहीं पिया है' परन्तु यदि किसी तीन वर्ष के बालक से कहा जाय 'तुम लड़की हो?' तो वह प्रायः कहेगा 'नहीं'। इस प्रकार का निषेधात्मक निर्णय, जो कि स्पष्ट वाक्य में व्यक्त नहीं किया गया, बालक के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखने के कारण ही वह शीघ्रता से कर सका। साधारण निषेधात्मक निर्णय को विचार में ही नहीं भाषा में व्यक्त करना बालक के लिए और भी कठिन कार्य्य है।

किसी वस्तु को दिखाकर यदि उसके बारे में हम बालक से प्रश्न करें तो हम देखेंगे कि बालक उसमें विद्यमान गुणों को सुगमता से बता देता है, किन्तु उसमें अवर्तमान गुणों को बताना उसके लिए—कम से कम ५ वर्ष की अवस्था तक—कठिन है। बिने महाशय ने अपने बुद्धि-माप के प्रयोगों में चित्रों में अवर्तमान वस्तु को बताना ७ वर्ष के बालक के योग्य परीक्षा बताई है। यह परीक्षा इस प्रकार की जा सकती है—एक बालक को एक मनुष्य का चित्र दिखाया जाय, जिसके एक ही हाथ हो और पूछा जाय कि इस मनुष्य को "क्या नहीं है?"

आलोचनात्मक निर्णय—जब बालक के विचार में वस्तुओं के आवश्यक गुणों की उपस्थिति और अभाव का ज्ञान पाया जाता है तो उस समय उसमें छान-बीन करने की शक्ति का आविर्भाव होता है। किसी चित्र को देखकर बालक अब यह कहने लगता है कि यह सुन्दर है अथवा भद्दा। इस प्रकार के निर्णय ३ वर्ष की अवस्था में भी पाये जाते हैं; परन्तु चार-पाँच वर्ष की अवस्था तक बालक के लिए यह कठिन होता है कि वह उसकी कमियों को बतावे। बहुत से बालक दूसरे बालकों द्वारा खींची हुई तसवीरों के दोष सरलता से बता देते हैं पर अपनी खींची तसवीरों पर विचार करना उनके
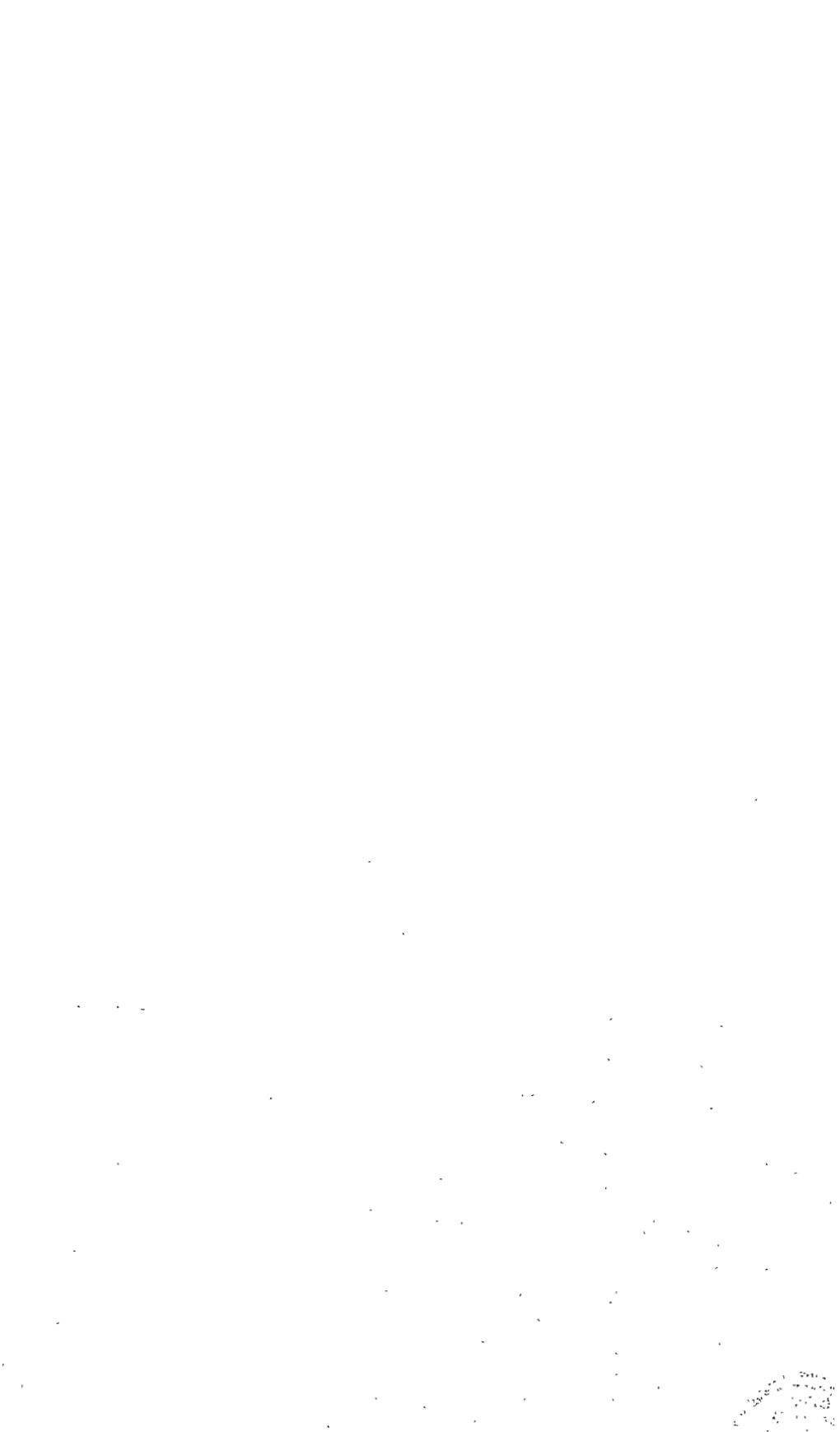
उन्नीसवाँ प्रकरण

बुद्धिमाप[1]

बुद्धिमाप की आवश्यकता

बालकों की बुद्धियों में भेद होते हैं। किसी बालक की प्रखर बुद्धि होती है और किसी की मंद; किसी बालक में एक प्रकार की योग्यता होती है और किसी में दूसरे प्रकार की। अभिभावकों को अपने बालकों की योग्यता का ठीक-ठीक पता चलाना और उनको अपने योग्य काम में लगाना चाहिये। कितने ऐसे बालक हैं जिनकी रुचि तो कविता करने और गाने की होती है, पर उन्हें काम गणितज्ञ का मिलता है। ऐसे बालक अपनी दैवी सम्पत्ति से पूरा लाभ नहीं उठा पाते। समाज भी उनकी विशेष योग्यताओं से वंचित रह जाता है।

किस बालक में कितनी बुद्धि है, इसका ध्यान बालकों की शिक्षा में रखना चाहिये। जिस रीति से प्रखर बुद्धिवाले बालक को पढ़ाया जाता है, उसी रीति से मंद बुद्धिवाले बालक का पढ़ाना उसके साथ अन्याय करना है। पर हम देखते हैं कि हमारे साधारण शिक्षालयों में इसकी ओर ध्यान ही नहीं दिया जाता। सब बालकों को एक ही साथ, एक ही रीति अथवा एक ही गति से पढ़ाया जाता है। अतएव परीक्षा के समय इतनी अधिक संख्या में बालक फेल हों, इसमें आश्चर्य ही क्या ?

प्रखर बुद्धिवाले बालक को साधारण बुद्धिवाले बालक के साथ पढ़ाना उस पर अन्याय करना है। जब बालक अपनी शक्ति भर काम नहीं पाता है तो उसको उत्साह ही नहीं होता। हर एक व्यक्ति ऐसे काम से ऊब जाता है, जिसमें उसके लिए नवीनता न हो। देखा गया है कि कक्षा में कई शिक्षक बड़ी सावधानी से धीरे-धीरे किसी एक सवाल को बालकों को समझाते हैं, पर कक्षा में कई बालक ऐसे होते हैं जो शिक्षक के समझाने के पूर्व ही उस सवाल को मुखाग्र हल कर डालते हैं। अब उनसे सवाल के किसी अंग पर कोई प्रश्न पूछा जाता है तो वे उसका उत्तर न देकर पूरे सवाल का उत्तर दे देते हैं। शिक्षकगण कभी-कभी ऐसे बालकों से अप्रसन्न हो जाते हैं। वास्तव में इसमें

---

1. Intelligence Testin .

बालकों का दोष नहीं, दोष है शिक्षा प्रणाली का। सब बालकों को शिक्षक की एक बराबर सहयता की आवश्यकता नहीं होती। जो पद्धति बालकों की भिन्न-भिन्न योग्यता का ध्यान नहीं रखती, उसे वास्तव में शिक्षा-पद्धति ही न कहना चाहिये। ऐसे बालक प्रायः उत्पाती हो जाते हैं और शिक्षक को अथवा दूसरे बालकों को तङ्ग करने में उनका मन दौड़ने लगता है। फिर अधिकारी लोग अकारण ही ऐसे बालकों को दण्ड देते हैं। पर ऐसे बालकों को दण्ड देना उनकी प्रतिभा की हत्या करना है। जिस मनुष्य का मन काम में नहीं लगता उसका मन उत्पात में अवश्य लगेगा। मन उस भूत के समान है जो बिना काम के क्षण भर भी नहीं रह सकता। यदि कोई मन को निकम्मा बनाकर बैठाना चाहे तो यह कदापि सम्भव नहीं। मन को भलाई में न लगाया जाय तो वह बुराई में अपने आप लग जायगा।

बुद्धिमाप की साधारण विधियाँ

हम लोग सदा अपने साथियों और अपने बालकों की बुद्धि का अनुमान लगाया करते हैं। किसी भी मनुष्य की बुद्धि, उसकी बातचीत, आचरण और व्यवहार से प्रकाशित होती है। मूर्ख का आभूषण मौन है और ज्ञानी का आत्म-प्रकाशन। ऊपर से देखने में यद्यपि दो व्यक्ति एक-से ही मालूम होते हैं, परन्तु जब हम उनसे बातचीत करते हैं तो एक को पण्डित पाते हैं और दूसरे को मूर्ख। एक में हम पद-पद पर प्रतिभा का लक्षण देखते हैं और दूसरे में बुद्धि-हीनता का। इसी तरह हर एक व्यक्ति के साधारण व्यवहारों से उनकी बुद्धि का पता चलता है। मनुष्य को अपने व्यवहारों में क्षण-क्षण पर बुद्धि की आवश्यकता पड़ती है। अतएव यदि हम किसी व्यक्ति के व्यवहारों का सूक्ष्मता से निरीक्षण करें तो अवश्य हम उसकी बुद्धि के बारे में पता चला लेंगे।

बालकों की बुद्धि का पता प्रायः शिक्षकों को रहता है। क्लास में अनेक बालक बैठते हैं। उनकी भिन्न-भिन्न योग्यतायें होती हैं। कोई तीव्र बुद्धिवाले होते हैं और कोई साधारण बुद्धिवाले। जब शिक्षक क्लास को पढ़ाता है तो बालकों से अनेक प्रश्न पूछने पड़ते हैं। इन प्रश्नों के उत्तर से प्रत्यक्ष हो जाता है कि किस बालक की बुद्धि तीव्र है और किसकी मन्द।

फिर समय-समय पर बालकों की परीक्षा ली जाती है। इन परीक्षाओं के नतीजे से भी बालकों की बुद्धि का पता चलता है। प्रखर बुद्धिवाले बालक को प्रायः उच्चकोटि के नम्बर मिलते हैं और मन्द बुद्धिवाले को कम नम्बर। कोई-कोई बालक पढ़ाई में मन नहीं लगाते। ऐसे बालकों की बुद्धि का माप भी

उनके खेलों में तथा बाहरी काम करने में हो जाता है। उनकी बातचीत से भी उनकी बुद्धि का पता चलता है।

क्लास की साधारण परीक्षाएँ भी बालकों की बुद्धि के बारे में हमें कुछ परिचय कराती हैं, पर उनके ऊपर पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता। पहले उन परीक्षाओं में नम्बर पाना परीक्षक की रुचि पर भी निर्भर होता है। दूसरे उनमें इतना अधिक लिखना पड़ता है कि यदि किसी बालक में लिखने की योग्यता कम हुई तो वह कम बुद्धिवाले बालक से भी परीक्षा में ऊँचा स्थान नहीं पा सकेगा। अस्तु,

इन दोषों को तो दूर किया जा सकता है, पर एक दोष ऐसा है जिसके कारण बालक की बुद्धि का पता उसके कक्षा के कार्य से हम कदापि नहीं चला सकते। बालक किसी भी परीक्षा में दो कारणों से ऊँचा स्थान पाता है। एक तो अपनी बुद्धि की प्रखरता से और दूसरे परिश्रम से। जो बालक अधिक परिश्रम करता है, वह परीक्षा में तीव्रबुद्धिवाले बालक से भी ऊँचा स्थान पा लेता है। ऐसा बालक छोटी कक्षाओं में तो अवश्य उत्तरोत्तर यशस्वी होता रहता है; पर ऊँची कक्षाओं में जाकर अच्छा नतीजा नहीं दिखा पाता। ऊँचे वर्गों में विचारशक्ति का अधिक काम रहता है। अतएव वहाँ वे ही बालक चमक सकते हैं जिनमें वास्तव में कुछ प्रतिभा होती है। यह अवश्य है कि प्रतिभा रहते हुए भी यदि कोई उचित परिश्रम नहीं करता तो वह यशस्वी न होगा। सफलता के लिए प्रतिभा और परिश्रम दोनों की आवश्यकता है।

साधारण परीक्षाओं में यह जानना असम्भव है कि किसी व्यक्ति की सफलता कहाँ तक प्रतिभा के कारण है और कहाँ तक परिश्रम के कारण। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए बुद्धिमाप का आविष्कार किया गया है।

मन्द-बुद्धिवाले बालकों के लक्षण

मन्द-बुद्धिवाले बालकों को उनके चेहरे और चाल-ढाल से पहचान लिया जाता है। ऐसे बालकों की शारीरिक क्रियाओं में ऐक्य तथा उचित नियमन नहीं होता। वे सोचते हैं कुछ और करते हैं, कुछ और। चलने में उनके पैर कहीं के कहीं पड़ते हैं। ऐसे बालक जब किसी चीज को हाथ में लेते हैं तो उसको ठीक-ठीक सँभाल भी नहीं सकते।

मन्द-बुद्धिवाले बालक को हम प्रायः उसकी वाणी से भलीभाँति पहचान सकते हैं। वह जब बोलता है तो ठीक शब्दों का प्रयोग नहीं कर पाता। साथ ही उसके बोलने में रुकावट भी होती है। कभी-कभी ऐसा बालक हकलाकर बोलत

है। ठीक-ठीक और जल्दी-जल्दी बोल सकने के लिए बालक का शब्द-भाण्डार भरा-पूरा होना चाहिए तथा वह उन शब्दों के भावों को समझे भी। पर मन्द-बुद्धिवाले बालक में सूक्ष्म विचार करने की योग्यता नहीं रहती। अतएव वह किसी शब्द को उसके ठीक अर्थ में काम में नहीं ला सकता। देखा गया है कि प्रायः मनुष्य की बुद्धि का द्योतक उसका शब्द-भाण्डार है। जो मनुष्य जितने प्रकार से अपने भाव प्रकाशित कर सकता है तथा उसकी शब्दावली जितनी अधिक है, वह उतना ही अधिक प्रखर-बुद्धिवाला होता है।

ऊपर हमने हकलाना मन्दबुद्धि का सूचक बताया है। पर यह कथन पूर्णतया सत्य नहीं। कई बालकों की बोलने की शक्ति बीमारी के कारण गड़बड़ हो जाती है। कभी-कभी हकलाना संवेगों के अवरोध के कारण होता है और कभी-कभी भावना-ग्रन्थियों के पड़ जाने से भी होता है। ऐसी दशा में हकलाना मन्द-बुद्धि का द्योतक नहीं। परन्तु जिन बालकों का हकलाना संवेगों के अवरोध अथवा भावना-ग्रन्थि के कारण होता है, उन्हें चित्त-विश्लेषण द्वारा अच्छा किया जा सकता है। जो बालक जन्म से ही हकलाते हैं उनके विषय में अवश्य यह कहा जा सकता है कि उनका हकलाना बुद्धि की कमी का सूचक है।

जो बालक ठीक-ठीक नहीं बोल पाता उसे अपने भाव-प्रकाशन का पूरा अवसर नहीं मिलता। हमारी बुद्धि का विकास भाव-प्रकाशन हो से होता है। जब किसी बालक को भाव-प्रकाशन का अवसर नहीं मिलता तो उसके भाव मन में ही अवरुद्ध रह जाते हैं। वे उसके जीवन में किसी काम में नहीं आते। ऐसी दशा में बालक के मन में अनेक अच्छे भाव उठते ही नहीं। हममें वही योग्यता बढ़ती है, जिसके प्रकाशन का अवसर हमें मिलता है। जब भावों को अपने प्रकाशन का अवसर नहीं मिलता तो वे मन में आना ही छोड़ देते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि बोलने की शक्ति की कमी होने के साथ-साथ भावों की अथवा बुद्धि की कमी हो जाना स्वाभाविक है।

डाक्टरों ने मन्दबुद्धि बालकों को उनकी शारीरिक एवं मस्तिष्क-सम्बन्धी बनावट से भी पहचानने का प्रयत्न किया है। डाक्टर ट्रेक गोल्ड की मेन्टल डेफीसेन्सी नामक पुस्तक में विस्तार-पूर्वक मन्दबुद्धि बालकों के मस्तिष्क की बना-वट का वर्णन किया गया है। जो पाठक इस बात में रुचि रखते हों, उन्हें उस पुस्तक को अवश्य देखना चाहिये।

मनोवैज्ञानिकों ने मन्द-बुद्धिवाले बालकों की पहचान के लिए कुछ प्रयोग निकाले हैं। इस विषय के प्रारम्भिक प्रयोग बालकों के इन्द्रियज्ञान के विषय में थे। जर्मनी के वेवर और फेकनर साहबों ने संवेदना-शक्ति की भलीभाँति जाँच

की और संवेदना शक्ति की माप के द्वारा बुद्धिमाप का प्रयत्न किया। पर इससे बालक की बुद्धि का ठीक-ठीक परिचय नहीं हो पाता था। अतएव आधुनिक बुद्धिमाप-परीक्षाओं का आविष्कार हुआ।

बिने का बुद्धिमाप

बुद्धिमाप का वैज्ञानिक प्रयत्न इस शताब्दी के पहले नहीं हुआ था। इस प्रयत्न के अग्रगामी फ्रांस के अलफ्रेड बिने नाम के एक डाक्टर थे। उन्हें पेरिस की म्यूनिसिपिल्टी ने न्यून बुद्धिवाले बालकों का पता लगाने का काम सौंपा था, ताकि उन्हें अलग स्कूलों में नई पद्धति से पढ़ाया जा सके। सन् १९०४ ई० में अलफ्रेड बिने और थ्योडर साइमन ने पेरिस में पहले पहल बुद्धि-माप के लिए एक प्रश्नावली बनाई। यह प्रश्नावली अनुभव से इतनी भरी हुई थी कि उसका अनुवाद अनेक देशों की भाषाओं में हुआ। अब उसमें अनेक परिवर्तन हो गये हैं तथा अपने-अपने वातावरण के अनुसार अनेक प्रश्नावलियाँ देश-देश के मनोवैज्ञानिकों ने बना ली हैं।

बिने महाशय ने अपने अनुभवों से यह बात देखी कि जो बातें औसत चार वर्ष का बालक कर सकता है उनको तीन वर्ष का बालक नहीं कर सकता है। इसी तरह जो बातें औसत पाँच वर्ष का बालक कर सकता है, वे बातें चार वर्ष की अवस्थावाला बालक नहीं कर सकता। उससे १६ वर्ष की अवस्था तक के बालकों के लिए अलग-अलग प्रश्नावली बनाई है। बिने का तरीका "क्रम का तरीका" था अर्थात् उससे हर एक उम्र के बालक के लिए प्रश्नावली बनाई। जो बालक अपनी अवस्थावाली प्रश्नावली के प्रश्नों को हल कर सकता था, उसे साधारण बालक कहा जाता था और जो बालक अपनी अवस्था की प्रश्नावली के प्रश्नों को हल नहीं कर सकता था, उसे मन्दबुद्धि समझा जाता था। इसी तरह जो बालक अपनी अवस्था से आगे की प्रश्नावली के प्रश्न हल करने में समर्थ होता था, उसे तीव्र बुद्धिवाला समझा जाता था।

यहाँ पर बिने की प्रश्नावलियों के कुछ प्रश्न उद्धृत किये जाते हैं। ये अँग्रेजी बालकों के लिए संशोधित किये गये रूप की हैं।

बिने की परीक्षा के प्रश्न

तीन वर्ष की अवस्था के लिए

१—अपनी नाक, आँख और मुँह बताओ।

२—दो संख्याओं को दुहराओ। उदाहरणार्थ ३७, ६४, ७२, तीनों में से एक सही होना चाहिये।

३—अपने लिङ्ग का ज्ञान—तुम लड़का हो अथवा लड़की?

४—अपना नाम और गोत्र बताओ।

५—चाकू, चाबी और पैसे का नाम पूछना।

६—दो तस्वीरों में से चीजों के नाम बताओ।

चार वर्ष के लिए

१—"मुझे ठण्ड और भूख लगी है" इस बात को कहो।

२—तीन संख्याओं को कहलवाना ६१४, २८६, ५३६ (तीनों में से एक सही होना चाहिये।)

३—चार पैसे की गिनती करो।

४—दो कीलों में से छोटी बड़ी कीलों को बताना।

५—तस्वीरों में से खूबसूरत चेहरे को बताना (तीन जोड़ी चेहरे दिखाना।)

पाँच वर्ष के लिए

१—तीन काम देना—चाबी को टेबुल पर रख दो, दरवाजा बन्द कर दो और किताब ले जाओ।

२—एक समकोण चतुर्भुज की नकल करना।

३—दस पद का वाक्य दुहराना।

४—अपनी उम्र बताना।

५—सबेरे और दोपहर का भेद जानना।

६—सामान्य चार रङ्गों को दिखाकर पहचनवाना—नीला, पीला, हरा और लाल।

७—चार संख्याओं को कहना।

८—तीन जोड़ी वस्तुओं के वजन—जिनमें थोड़ा-थोड़ा फर्क है, बताना।

बिने की परीक्षाओं की विशेपताएँ—बिने के बुद्धिमाप की तीन विशेपताएँ थीं। पहले तो बात यह थी कि बिने ने हजारों बालकों को प्रश्न देकर उचित प्रश्नों को एकत्र किया था। प्रश्न किसी एक विषय के नहीं थे। भिन्न-भिन्न योग्यता जानने के प्रश्न थे।

दूसरी बात बिने के बुद्धिमाप में यह थी कि उसने उम्र की माप रक्खी थी। अर्थात् जो बालक कम अवस्था होने पर अधिक अवस्थावाले बालक के ५

को हल कर सकता था, उसे प्रखर बुद्धिवाला समझा जाता था और जो अपनी अवस्था के प्रश्नों को नहीं कर सकता था, उसे मन्द बुद्धिवाला समझा गया। इस प्रकार बालकों की एक वास्तविक आयु और दूसरी मानसिक आयु मानी गयी और उन दोनों की तुलना से बुद्धिमाप किया गया था।

तीसरी विशेषता बिने की बुद्धि-माप में यह थी कि उसने कोई विशेष बुद्धि का सिद्धान्त नहीं बनाया। बुद्धियाँ एक ही प्रकार की हैं अथवा अनेक प्रकार की, इसकी झंझट में बिने नहीं पड़ा। उसके प्रश्न बालक की साधारण बुद्धि की माप करने के लिए ही थे।

बुद्धिमाप में उन्नति

बिने के प्रयास को देखकर अनेक लोगों ने और प्रयास किये। बिने के बुद्धिमाप में अनेक प्रकार की उन्नतियाँ हुईं और आजकल कितने ही मनोवैज्ञानिक अपना बहुमूल्य समय नये-नये बुद्धिमाप के बनाने में लगा रहे हैं तथा बुद्धि के स्वरूप और प्रकार के विषय में अनेक प्रकार के सिद्धान्त स्थिर कर रहे हैं—

बुद्धि-उपलब्धिः—बिने के बुद्धिमाप की पद्धति में कई परिवर्तन हुए हैं, जिनकी ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित करना आवश्यक है। पहले महत्वपूर्ण परिवर्तन जर्मनी के बालमनोवैज्ञानिक विलियम स्टर्न के सुझाने से किया गया। अब मानसिक आयु का माप नहीं माना जाता। "बुद्धि उपलब्धि[1]", के द्वारा अब बुद्धि मापी जाती है। मानसिक आयु में वास्तविक आयु का भाग देकर इसे हम प्राप्त करते हैं। इस बात को इस प्रकार हम लिख सकते हैं—

$$\text{बुद्धि-उपलब्धि} = \frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}}$$

यदि मानसिक आयु में वास्तविक आयु का भाग देने से भागफल एक आया तो बालक साधारण-बुद्धिवाला समझा जायगा। यदि १ से कम भागफल आया तो उसे मन्द-बुद्धि समझा जायगा। यदि १ से अधिक भागफल आया तो बालक को प्रखर बुद्धिवाला समझा जायगा। आजकल इस भागफल को १०० से गुण कर दिया जाता है। १०० भागफल आने पर बालक को साधारण बुद्धिवाला समझा जाता है। १०० से कम होने पर मन्दबुद्धि और १०० से अधिक होने पर प्रखरबुद्धि का समझा जाता है।

1. Intelligence Quotient.

अर्थात्—बुद्धि उपलब्धि = $\frac{\text{मानसिक आयु}}{\text{वास्तविक आयु}} \times १००$

निम्नलिखित प्रकार से बालकों को उनकी बुद्धि के अनुसार ६ विभागों में विभाजित किया है—

प्रकार का नाम	**बुद्धि उपलब्धि**
१—प्रतिभाशाली[1]	१४० से ऊपर तक
२—प्रखरबुद्धि[2]	१२० से ,, १४० ,,
३—तीव्रबुद्धि[3]	११० से ,, १२० ,,
४—सामान्यबुद्धि[4]	९० से ,, ११० ,,
५—मन्दबुद्धि[5]	८० से ,, ९० ,,
६—निर्बलबुद्धि[6]	७० से ,, ८० ,,
७—मूर्ख[7]	५० से ,, ७० ,,
८—मूढ़[8]	२५ से ,, ५० ,,
९—जड़[9]	० से लेकर २५ ,,

टरमेन का सुधार:—बिने महाशय की परीक्षाओं में दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि बालक एक प्रश्नावली के जितने प्रश्नों का उत्तर देता है उसके लिए उसे नम्बर मिलते हैं। बिने के बुद्धिमाप में यह बात न थी। जब किसी आयु की प्रश्नावली के दो प्रश्नों से अधिक के उत्तर बालक ठीक नहीं देता था तो उसको कुछ भी नम्बर उस प्रश्नावली में नहीं दिये जाते थे। मान लो कोई बालक किसी प्रश्नावली के गणित के प्रश्न नहीं कर पाता पर भाषा के प्रश्न सब कर लेता है तो उसे इसके लिए नम्बर नहीं दिये जाते थे। टरमेन महाशय ने इस त्रुटि को दूर किया। उन्होंने ऐसे प्रश्न बनाये जो हरएक आयु के बालक को दिये जा सकें और बालक को हर एक प्रश्न के लिए नम्बर दिये जाते हैं। इस प्रकार परीक्षा लेने से बालकों की विशेष विषय की योग्यता का पता चलने लगा। कोई बालक गणित के कारण और कोई भाषाज्ञान के कारण अधिक नम्बर पाने लगा। अनुभव से देखा गया कि कई बालकों में साधारणतः एक बराबर बुद्धि होते हुए भी एक ही प्रकार की बुद्धि नहीं होती। कोई बालक गणित में तीव्र होता है तो कोई इतिहास, भूगोल व भाषा में।

---

1. Genius. 2. Very Superior. 3. Bright. 4. Normal. 5. Dull. 6 Border line, 7. Morone. 8. Imbecile, 9. Idiot.

टरमेन का बुद्धिमापक परीक्षापत्र

३ वर्ष के लिए

(१) शरीर के अवयवों की तरफ इशारा करना (अपनी नाक बताओ)।

(२) परिचित वस्तुओं का नाम बताना—दीवालघड़ी, तश्तरी (वह क्या है ?)

(३) किसी तस्वीर की तरफ देखकर और तीन वस्तुओं का नाम बताना, जो कि उसमें हों।

(४) लिंगभेद करना (तुम लड़के हो या लड़की) ?

(५) नामकरण करना (तुम्हारा नाम क्या है ?)

(६) दुहराना (अनुकरण के रूप में) छः या सात खण्डों को।

४ वर्ष के लिए

(१) भिन्न-भिन्न लम्बाइयों की तुलना (कौन बड़ा है ?)

(२) आकृति में पहचान का भेद करना (एक वृत्ति दिखलाया जावे और वही आकृति बहुत से भिन्न चित्रों में से चुनना)।

(३) चार सिक्कों का गिनना।

(४) एक वर्ग की आकृति बनाना।

(५) व्यावहारिक प्रश्नों का जवाब देना (तुम क्या करोगे जब कि तुम थके हो, भूखे हो, या ठण्ढ लग रही हो ?)

(६) चार अंकों का दुहराना (अनुकरण में)।

५ साल के लिए

(१) २ भार की तुलना करना (३ और १५ ग्राम) (कौन भारी है ?)।

(२) रंगों का नाम देना या लेना (चार कागज—लाल, पीले, हरे, नीले)।

(३) सौन्दर्य की परख (तीन जोड़े चेहरे जिनमें से प्रत्येक में एक बदसूरत हो और दूसरा खूबसूरत) "कौन खूबसूरत है ?"

(४) साधारण ६ वस्तुओं की परिभाषा बतलाना (कुर्सी, घोड़ा, गुड़िया क्या है ?)।

(५) "धैर्य्य का खेल" एक आयत बनाना जो कि दो त्रिभुजों से दिखाया गया हो।

(६) तीन हुक्मों की तामील करना ('इसे टेबुल पर रख दो, दरवाजा बन्द कर दो, मेरे पास वे सन्दूकें लाओ)।

६ साल के लिए

(१) दायें और बायें की पहचान (अपना दायाँ हाथ दिखाओ और बायाँ कान)।

(२) तसवीरों में मिटी हुई या भूली हुई बातों को बताना। (एक चेहरा बिना नाक का दिखाया जाय और पूरी तसवीर में बाहें न हों।)।

(३) १३ सिक्कों का गिनना।

(४) व्यावहारिक प्रश्न (क्या करोगे, अगर बरसात हो रही हो और तुम्हें स्कूल जाना हो)।

(५) चालू सिक्कों का नाम बताना।

(६) दुहराना (नकल में) वाक्य १६ से १८ खण्डों में।

७ साल के लिए

(१) अँगुलियों की तायदाद बतलाना (पहले एक हाथ में कितनी हैं, फिर दूसरे में, फिर दोनों को मिलाकर)।

(२) किसी तसवीर को देखना और उसमें चित्रित क्रियाओं या कार्यों का विवरण।

(३) ५ अंगों का दुहराना।

(४) एक मामूली गाँठ बाँधना (नकल करके)।

(५) स्मृति से भेद करना या पहचानना (एक मक्खी और तितली का भेद; एक पत्थर और एक अंडा, लकड़ी, शीशा)

(६) एक बहुभुज क्षेत्र की नकल करना।

छोटे बालकों का बुद्धिमाप

विचार-सम्बन्धी बुद्धिमाप का प्रयोग—बालक का बुद्धिमाप करने के लिए अनेक प्रयोग किये गये हैं। उनमें से कुछ को यहाँ उल्लिखित करना अवांछनीय न होगा।

कागज की तख्ती के कई आकृतियों के दो-दो चित्र काट लिए जायँ। बालक से एक चित्र को उठा कर कहा जाय कि इसी प्रकार का दूसरा चित्र दे। पहले प्रयोग में दो चित्रों का एक ही रङ्ग हो और फिर रङ्ग को बदल कर के प्रयोग किया जा सकता है। इसमें देखा गया कि दो तिहाई बालक आकृति पर विचार करते हैं, रङ्ग पर नहीं।

टरमेन का बुद्धिमापक परीक्षापत्र

३ वर्ष के लिए

(१) शरीर के अवयवों की तरफ इशारा करना (अपनी नाक बताओ)।

(२) परिचित वस्तुओं का नाम बताना—दीवालघड़ी, तश्तरी (वह क्या है ?)

(३) किसी तस्वीर की तरफ देखकर और तीन वस्तुओं का नाम बताना, जो कि उसमें हों।

(४) लिंगभेद करना (तुम लड़के हो या लड़की) ?

(५) नामकरण करना (तुम्हारा नाम क्या है ?)

(६) दुहराना (अनुकरण के रूप में) छः या सात खण्डों को।

४ वर्ष के लिए

(१) भिन्न-भिन्न लम्बाइयों की तुलना (कौन बड़ा है ?)

(२) आकृति में पहचान का भेद करना (एक वृत्ति दिखलाया जावे और वही आकृति बहुत से भिन्न चित्रों में से चुनना)।

(३) चार सिक्कों का गिनना।

(४) एक वर्ग की आकृति बनाना।

(५) व्यावहारिक प्रश्नों का जवाब देना (तुम क्या करोगे जब कि तुम थके हो, भूखे हो, या ठण्ढ लग रही हो ?)

(६) चार अंकों का दुहराना (अनुकरण में)।

५ साल के लिए

(१) २ भार की तुलना करना (३ और १५ ग्राम) (कौन भारी है ?)।

(२) रंगों का नाम देना या लेना (चार कागज—लाल, पीले, हरे, नीले)।

(३) सौन्दर्य की परख (तीन जोड़े चेहरे जिनमें से प्रत्येक में एक बदसूरत हो और दूसरा खूबसूरत) "कौन खूबसूरत है ?"

(४) साधारण ६ वस्तुओं की परिभाषा बतलाना (कुर्सी, घोड़ा, गुड़िया क्या है ?)।

(५) "धैर्य्य का खेल" एक आयत बनाना जो कि दो त्रिभुजों से दिखाया गया हो।

(६) तीन हुक्मों की तामील करना ('इसे टेबुल पर रख दो, दरवाजा बन्द कर दो, मेरे पास वे सन्दूकें लाओ)।

६ साल के लिए

(१) दायें और बायें की पहचान (अपना दायाँ हाथ दिखाओ और बायाँ कान)।

(२) तसवीरों में मिटी हुई या भूली हुई बातों को बताना। (एक चेहरा बिना नाक का दिखाया जाय और पूरी तसवीर में बाहें न हों।)।

(३) १३ सिक्कों का गिनना।

(४) व्यावहारिक प्रश्न (क्या करोगे, अगर बरसात हो रही हो और तुम्हें स्कूल जाना हो)।

(५) चालू सिक्कों का नाम बताना।

(६) दुहराना (नकल में) वाक्य १६ से १८ खण्डों में।

७ साल के लिए

(१) अँगुलियों की तायदाद बतलाना (पहले एक हाथ में कितनी हैं, फिर दूसरे में, फिर दोनों को मिलाकर)।

(२) किसी तसवीर को देखना और उसमें चित्रित क्रियाओं या कार्यों का विवरण।

(३) ५ अंगों का दुहराना।

(४) एक मामूली गाँठ बाँधना (नकल करके)।

(५) स्मृति से भेद करना या पहचानना (एक मक्खी और तितली का भेद; एक पत्थर और एक झंडा, लकड़ी, शीशा)

(६) एक बहुभुज क्षेत्र की नकल करना।

छोटे बालकों का बुद्धिमाप

विचार-सम्बन्धी बुद्धिमाप का प्रयोग—बालक का बुद्धिमाप करने के लिए अनेक प्रयोग किये गये हैं। उनमें से कुछ को यहाँ उल्लिखित करना अवांछनीय न होगा।

कागज की तख्ती के कई आकृतियों के दो-दो चित्र काट लिए जायँ। बालक से एक चित्र को उठा कर कहा जाय कि इसी प्रकार का दूसरा चित्र दे। पहले प्रयोग में दो चित्रों का एक ही रङ्ग हो और फिर रङ्ग को बदल कर के प्रयोग किया जा सकता है। इसमें देखा गया कि दो तिहाई बालक आकृति पर विचार करते हैं, रङ्ग पर नहीं।

बालक गणित-विषयक कुछ ज्ञान प्राप्त करने के पहले संख्या को जानने लगते हैं। बैकमन महाशय ने संख्याज्ञान की जाँच चार तरह से की हैः—

(१) संख्या बनाना। (बालकों के सामने कुछ कौड़ियाँ लाई जायँ और उनसे कहा जाय कि इनमें से मुझे तीन कौड़ियाँ दो।)

(२) संख्या का भेद बताना। (पहले बालक को दो कौड़ियाँ बताई जायँ फिर तीन, फिर उससे पूछा जाय कि ये दो हैं या वे दो हैं। या तीन कौड़ियाँ आपने सामने रखकर यह कहा जाय कि ये दो हैं या तीन।)

(३) संख्या का ढूँढ़ना। (एक चार्ट के ऊपर भिन्न-भिन्न संख्याओं के बिन्दु रहें। वे बालकों को दिखाये जायँ फिर उनसे कहा जाय कि चार बिन्दु वाले गुच्छे बताओ।

(४) संख्या का नाम लेना। (बालक को उपर्युक्त चार्ट में से कोई गुच्छा बता करके उससे पूछा जाय कि इस गुच्छे में कितने बिन्दु हैं।)

बैकमन ने ५०० विभिन्न श्रेणी के छोटे लड़कों की जाँच की। उससे पता चला कि दो वर्ष से लेकर चार वर्ष तक के बालकों में ५ तक बताने की योग्यता होती है। उनके प्रयोगों से पता चला है कि संख्या बनाना सब से सरल है और संख्या का नाम लेना सबसे कठिन। दो की संख्या दो वर्ष तक का बालक बना सकता है। वही बालक दो की संख्या का पता नहीं चला पाता और न उसका नाम ही ले सकता है। पाँच की संख्या साढ़े तीन वर्ष तक का बालक बना सकता है तथा उसका फेर बदल कर सकता है किन्तु वह न तो उसका पता चला सकता है और न नाम ले सकता है। ५ और ६ वर्ष का बालक ही ठीक-ठीक ५ तक की संख्या का पूरा बोध कर पाता है। उनके प्रयोगों का फल इस प्रकार है—

बालक की उम्र	**संख्या का पूर्ण बोध**
३½ वर्ष से ४ वर्ष तक	२
४ ,, ,, ४½ ,, ,,	३
५ ,, ,, ५½ ,, ,,	४

बालक का संख्या ज्ञान बढ़ाने का सबसे अधिक महत्त्व का समय ४ वर्ष का है। वास्तव में इसी काल में बालक तीन का अर्थ समझने लगता है। जब एक बार ३ का ज्ञान बालक को ठीक-ठीक हो जाता है तो उसके संख्या ज्ञान का रास्ता आगे के लिए खुल जाता है।

टरमेन की बुद्धि मापक परीक्षा का प्रयोग—कुमारी क्यूनो ने टरमेन

की बुद्धिमाप की परीक्षा का प्रयोग साढ़े तीन वर्ष तक से किंडर गार्टन के ११२ बालकों पर किया। उसके प्रयोग का फल निम्नलिखित चित्र से दिया जा सकता है।
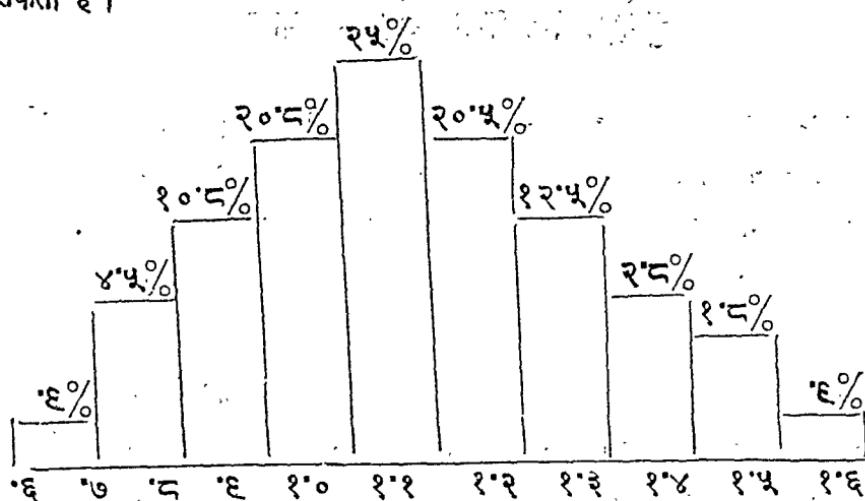
इस चित्र में नीचे की रेखा में लिखे अंग बुद्धि-उपलब्धि बताते हैं और सीढ़ियों पर लिखे अंक बालकों की प्रतिशत संख्या बताते हैं।

इस प्रयोग से देखा गया कि बालकों की बुद्धिलब्धि ०·६ और १·६ के बीच में थी अर्थात् कुछ लड़के बुद्धि में बहुत कमजोर थे और कुछ बहुत होशियार थे। तीन बालक बहुत ही मन्दबुद्धि पाये गये। सबसे अधिक संख्या साधारण (औसत) बुद्धिवाले बालकों की थी जैसा कि ऊपर के चित्र से स्पष्ट है।

टरमेन का कथन है कि बालकों को जो बुद्धि किण्डरगार्टन की आयु में पाई जाती है वह उनकी पीछे भी पाई जाती है। अर्थात् हम स्कूल में जाने के पहले ही बालकों की बुद्धि का पता चला सकते हैं। हाँ, इतनी सावधानी अवश्य रखनी पड़ती है कि बालक भय या लज्जा के कारण कहीं उत्तर देने में न गड़बड़ करे। देखा गया है कि जिस बालक की बुद्धिलब्धि ४ वर्ष की अवस्था में १३ थी उसने पीछे भी इसी बुद्धिलब्धि को प्राप्त किया और वह स्कूलों के काम में दूसरों से सदा आगे रहा करता था। इसी प्रकार मन्दबुद्धिवाले बालक की भी जाँच ठीक निकली। वास्तव में विशेष गुणी बालक और मन्दबुद्धि के बालक की जाँच के लिए बुद्धिमाप की परीक्षाएँ बड़ी उपयोगी हैं। बालकों की इस प्रकार की योग्यता जानकर उन्हें योग्य शिक्षाविधि से पढ़ाया जा सकता है।

बालकों की बुद्धि की परीक्षा छोटी अवस्था में होने से अधिक उपयोगी होती है। इस समय बालक की बुद्धि का माप उसके भाषाज्ञान एवं लिखने पढ़ने के अभ्यास पर निर्भर नहीं रहता। अतएव निश्चय रूप से हम बालक की

बुद्धि का पता चला सकते हैं। इस जाँच के लिए योग्य बुद्धिमापक परीक्षापत्र बनाने की आवश्यकता है।

बुद्धिमापक परीक्षाओं के प्रकार

बुद्धिमाप दो प्रकार के होते हैं—एक आयु-माप[1] और दूसरा बिन्दु-माप[2]। डाक्टर बिने की बुद्धिमाप की परीक्षाएँ आयुमाप पर अवलम्बित थीं। बुद्धिमाप के सभी प्रारम्भिक प्रयास प्रायः आयु-माप पर आधारित थे। आयु-माप सरलता से बनाया जा सकता है। किन्तु इस समय दोनों प्रकार के माप प्रचलित हैं।

आयुमाप—आयुमाप बनाने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के लगभग १०० प्रश्न, जो बालकों की भिन्न-भिन्न अवस्था के योग्य हों, एकत्रित किये जाते हैं। प्रश्नों को छाँटने में इस प्रकार का माप बनानेवाला अपने अनुभव का ही आश्रय लेता है। इन प्रश्नों का लक्ष्य बालक का सामान्य ज्ञान या सोचने की शक्ति जानना था। ये प्रश्न किसी विशेष क्रम से नहीं रक्खे गये। आधुनिक आयुमाप परीक्षा में मन की विभिन्न शक्तियों के प्रश्न रक्खे जाते हैं। कुछ प्रश्न निरीक्षण के लिए, कुछ स्मृति के लिए और कुछ युक्तिसङ्गत विचार के लिए होते हैं।

इस प्रकार जब अनेक प्रश्नों को एकत्र कर लिया जाता है तो उन्हें कई सौ बालकों को देकर यह जाँचा जाता है कि किसी विशेष आयु के कितने बालक उस प्रश्नपत्र के प्रश्नों को कर सकते हैं। यदि कोई प्रश्न नौ वर्ष की आयु के बालक के लिए बनाया गया है तो उस प्रश्न को नौ वर्ष की आयु के ७५ फीसदी बालक जब ठीक-ठीक कर लेते हैं तब उसे उस आयु के लिए योग्य समझा जाता है। जो प्रश्न नौ वर्ष की आयु के ७५ फीसदी बालक नहीं कर पाते, उसे १० या ११ वर्ष की आयु के बालकों को देकर पता चलाया जाता है कि किस आयु के लिए वह उपयुक्त है।

बालकों की इस प्रकार की परीक्षा सामूहिक या वैयक्तिक दोनों रूपों से की जा सकती है। जो प्रश्न बालकों की समझ में नहीं आते, उन्हें तुरन्त निकाल दिया जाता है। इस तरह सैकड़ों प्रश्नों में से ८—१० प्रश्न एक-एक साल के लिए रक्खे जाते हैं। प्रश्नों के बनाने में सदा इस बात का ध्यान रक्खा जाता

---

1. Age scale, 2. Point scale.

है कि उनका उत्तर एक या दो शब्दों में ही हो अथवा शब्द के नीचे लकीर खींच देने से ही काम चल जाय। इस तरह प्रश्नों के उत्तर जाँचने में परीक्षक के रुचि-भेद के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता अर्थात् प्रश्न का एक ही सही उत्तर हो सकता है और सही उत्तर पाने पर परीक्षार्थी को पूरे नम्बर देने पड़ते हैं। बुद्धिमाप के प्रश्न-पत्र को प्रमाणित बनाने के लिए उसे दो बार बालकों से कराया जाता है, अर्थात् उसी प्रश्न-पत्र को एक बार देकर कुछ दिनों बाद फिर दिया जाता है। जब दोनों बार के बालकों के उत्तरों में एक प्रकार की समता पाई जाती है तो उसे प्रमाणित समझा जाता है। पहली बार और दूसरी बार उत्तरों में थोड़ा अन्तर होना स्वाभाविक है, किन्तु अत्यधिक अन्तर न होना चाहिये।

बिन्दुमाप—बिन्दुमाप के लिए यह आवश्यक नहीं है कि भिन्न-भिन्न आयु के बालकों के लिए भिन्न प्रश्न दिये जायँ। एक ही परीक्षा-पत्र भिन्न-भिन्न आयु के बालकों को दिया जाता है जिनकी आयु में ६, ७ वर्ष का अन्तर हो। अब यह देखा जाता है कि किस आयु के बालक कितनी दूर तक उस परीक्षा-पत्र के प्रश्नों को हल कर सकते हैं अर्थात् किसी विशेष आयु के बालकों के औसत नम्बर कितने हैं। मान लीजिए आठ वर्ष की आयु के बालकों के १५१ पूर्णांक में से औसत नम्बर ८० हैं और ९ वर्ष की आयु के बालकों के १५० पूर्णांक में से ९० हैं। इस स्थिति में ८० नम्बर ८ वर्ष के साधारण बालक का नम्बर मान लिया जाना चाहिये। जिस बालक के ८० नम्बर हों उसकी मानसिक आयु ८ वर्ष समझी जायगी और जिस बालक के उसी प्रश्न-पत्र में ९० नम्बर हों उसकी मानसिक आयु ९ वर्ष समझी जायगी।

जब इस तरह परीक्षापत्र प्रमाणित हो चुकता है तो किसी विशेष बालक की बुद्धिलब्धि निकालने के लिए बालक की वास्तविक आयु से मानसिक आयु का भाग दिया जा सकता है। यदि कोई ८ वर्ष का बालक ९० नम्बर पाता है तो उसकी बुद्धिलब्धि $\frac{९}{८} \times १०० = ११२$ होगी। इसी प्रकार यदि ९ वर्ष का बालक उक्त प्रश्न-पत्र में ८० नम्बर पाता है तो उसकी बुद्धिलब्धि $\frac{८}{९} \times १०० = ८९$ होगी।

बिन्दुमाप में किसी आयु के औसत बालक के नम्बर को उस आयु के लिए माप मान लिया जाता है। जिस नम्बर को सबसे अधिक बालक पावें, उसे औसत बालक का नम्बर कहा जायगा। अच्छे प्रश्न-पत्र में साधारण औसत नम्बर[1] और औसत बालक के नम्बर[2] एक ही होते हैं।

---

1. Mean. 2. Median.

प्रश्नों के प्रकार

प्रश्नों को प्रायः निम्नलिखित विभागों में विभाजित किया जाता है—

(१) विरुद्ध शब्दों को बताना। उदाहरणार्थ काला, अन्त, पास, संवेदना, प्रसिद्ध, घृणा इनके विलोम पूछना।

(२) समधर्म की पहचान—(अ) अँधेरे का रोशनी से वही सम्बन्ध है जो काले का (लाल, रात, दिन, सफेद से)।

(ब) कुत्ते का पिल्ले से वही सम्बन्ध है जो गाय का (बैल, बछड़ा, भेड़, घास से)।

(स) हर्ष का शोक से वही सम्बन्ध है जो सुख का (क्रोध, भय, घृणा, दुःख से)। यहाँ कोष्ठ के भीतर के उपयुक्त शब्दों के नीचे रेखा खींचनी पड़ती है।

(३) असमानधर्मी का पता चलाना—कुर्सी, टेबुल, पलंग, जैकेट, स्टूल इनमें से जो असमानधर्मी है, उसको बताना। यहाँ वस्तुओं के धर्मों का विश्लेषण करके विचारने की शक्ति की बालक की परीक्षा होती है।

(४) निरीक्षण की परीक्षा—इसके प्रश्न इस प्रकार के होते हैं—

नीचे की हर एक पंक्ति में कोष्ठ के भीतर उन शब्दों के नीचे लकीर खींच दो जो कोष्ठ के बाहर लिखी चीजों में हमेशा पाई जाती हैं।

(अ) लड़का (सिर, कुरता, खाल, टोपी, जूता)।

(ब) गीत (सितार, फोनोग्राफ, साथ गाना, राग, मनुष्य)।

(५) समधर्म की पहचान करके उसकी व्यापकता बताना।

प्रश्न—नीचे लिखी वस्तुओं में वह बात देखो जो उनमें सदा पाई जाती है और यह बताओ कि कोष्ठ के भीतर की वस्तुओं में से किसका उनसे घनिष्ठ सम्बन्ध है। हंस, गौरैया, गरुड़, तोता (घोंसला, मुर्गी, उड़ना और पानी)।

(६) अर्थपूरक परीक्षा। यह परीक्षा इस प्रकार है—नीचे के हर एक वाक्य में खाली जगह है जिसमें एक ऐसा शब्द भरना है जो वाक्य को पूरा कर दे। कोष्ठ के भीतर लिखे हुए शब्दों में से उचित शब्द को रख दो।

(अ) हमें आग से ···रहना चाहिये (दुखी, जला हुआ, सावधान)।

(ब) आसान काम का करना······सबसे सरल नहीं होता (सदा, कभी-कभी, बहुधा)।

(७) विदेशी भाषा के शब्द के अनेक जगह के प्रयोगों को देखकर अर्थ का अन्दाजा लगाना। यहाँ पर बालक की विश्लेषण और तुलना करने की परीक्षा होती है।

प्रश्न—एक ओर विदेशी भाषा के वाक्य दिये हुए है और दूसरी ओर उसके अर्थ हिन्दी में दिये हैं। अब प्रत्येक शब्द के अलग-अलग अर्थ अपनी भाषा में बताओः—

Some cream. कुछ मलाई।
Take some cake. कुछ रोटी लो
Take sugar. चीनी लो।

इस प्रकार के प्रश्न में शब्दों के प्रयोगों पर विचार करना पड़ता है और यह देखना होता है कि किसी विदेशी भाषा के नये शब्द के साथ अपनी भाषा का नया शब्द आया है।

(८) सही और गलत विवेचन—

(अ) कपास की पैदावार के लिए अधिक वर्षा की आवयश्कता है—सही—गलत।

(ब) बत्तख उड़ नहीं सकती है—सही—गलत।

(स) गिलहरी बिल में रहती है—सही—गलत।

(६) शब्दों को ठीक क्रम से रखना और अर्थ को बताना—(कभी कभी आठवें प्रश्न की तरह सही और गलत की भी जाँच की जा सकती है)।

जानवर एक है पालतू शेर······सही—गलत।
हैं जाती मछलियाँ पाई पानी······सही—गलत।

(१०) युक्ति-संगत विचार की परीक्षा—

(अ) जीरो रोड के सब मकान जल गये। श्याम का मकान पत्थरगली में था; वह नहीं जला। सही, गलत, सन्देहात्मक। युक्ति-संगत उत्तर पर लकीर बनाना। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे प्रश्न होते हैं, जिनमें बालक को हाथ से कुछ काम करना पड़ता है, जैसे कि किसी भूल-भूलैया के बाहर आना।

———

बीसवाँ प्रकरण

चरित्र-गठन

चरित्र[1] का स्वरूप

जीवन की सब से मौलिक वस्तु चरित्र है। चतित्रवान् व्यक्ति सांसारिक वैभव प्राप्त न होने पर भी सुखी रहता है और चरित्र-हीन व्यक्ति सदा दुखी रहता है। चरित्रवान् व्यक्ति को सभ्य-समाज का विवेक-बुद्धि कहा गया है। चरित्र मानसिक दृढ़ता का दूसरा नाम है। चरित्र के अभाव में मनुष्य की बुद्धि सांसारिक कठिनाइयों के पड़ने पर वैसे ही विचलित हो जाती है जैसे बिना लंगर की नाव आँधी के समय नदी में विचलित रहती है। किसी राष्ट्र के उत्थान-पतन का कारण वहाँ के मनुष्य का चरित्र होता है। चरित्र ही किसी देश की संस्कृति में जीवन-संचार करता है। बालकों की शिक्षा का अंतिम उद्देश्य भी चरित्र-निर्माण ही है।

चरित्र का वास्तविक स्वरूप क्या है, इस विषय पर मनोवैज्ञानिकों का मतैक्य नहीं है। चरित्र के अन्तर्गत मनुष्य की अनेक मानसिक शक्तियों का समावेश होता है। इन शक्तियों के स्वरूप के विषय में अनेक प्रकार के मत-मतान्तर रहने के कारण चरित्र के विषय में विभिन्न मत हैं। हम यहाँ कुछ ऐसी बातों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित कराना चाहते हैं जो चरित्र की कल्पना में आवश्यक हैं।

मानसिक दृढ़ता—चरित्र का प्रथम अंग मानसिक दृढ़ता अथवा अध्यात्म शक्ति[2] की बल-वृद्धि है। अपने निश्चित लक्ष्य की ओर पूरी तरह से अग्रसर रहना और अनेक बाधाओं के पड़ने पर भी निश्चित मार्ग से न हटना चरित्रवान् व्यक्तियों के आचरण का पहला लक्षण है। संसार के सभी वीर पुरुषों के चरित्रों में यह बात देखी जाती है। जूलियस सीजर, वाशिंगटन, मैजनी, हर हिटलर, सभी में हम यह मानसिक दृढ़ता देखते हैं। इन सभी लोगों को संसार ने किसी न किसी दृष्टि से चरित्रवान् व्यक्ति माना है।

यहाँ अध्यात्मशक्ति का स्वरूप और उसका चरित्र में स्थान बताना

---

1. Character. 2. Will.

आवश्यक है। चरित्रवान् व्यक्ति अपनी बुद्धि से अपना कार्य निश्चित करता है और उसकी अध्यात्मशक्ति भी तदनुसार कार्य करती है। जब कोई दो भावनाएँ हमारे मन में आती हैं, जैसे सिनेमा देखने जाना और अपना पाठ याद करना, तो दोनों में हमारे मन के भीतर द्वन्द्व उत्पन्न हो जाता है। जो भावना इस द्वन्द्व में विजयी होती है, उसके अनुसार शारीरिक व मानसिक क्रियाएँ होने लगती हैं। एक भावना का विजयी होकर मन में सङ्कल्परूप से दृढ़ हो जाना यही निश्चय का स्वरूप है।

अब प्रश्न यह है कि द्वन्द्व करनेवाली दो भावनाओं में विजयी भावना कौन होती है? इसके उत्तर में कुछ लोगों का मत है कि विजयी भावना वही होती है, जो अधिक शक्तिशाली हो। जड़वादी प्रायः इसी सिद्धान्त के माननेवाले हैं। पर यह देखा जता है कि किसी किसी भावना में अपने आप अधिक शक्ति न होते हुए भी वह द्वन्द्व में सफल हो जाती है। जैसे विद्याभ्यास और सिनेमा देखने की भावना में से पहली भावना दूसरी से अपने आप निर्बल होते हुए भी द्वन्द्व में विजयी हो जाती है। ऐसा क्यों होता है?

द्वन्द्व में जीत करानेवाली एक तीसरी ही अज्ञात शक्ति है। इस अज्ञात शक्ति का अस्तित्व जड़वादी नहीं मानते। चैतन्य-वादियों के अनुसार यह अज्ञात शक्ति अध्यात्मशक्ति है। यह कार्य का निर्णय करनेवाली अन्तिम शक्ति है। यही जिस भावना को जिताना चाहती है जिता देती है और जिसको दबाना चाहती है, दबा देती है। इसके जाग्रत् होने पर ही जीवन के आदर्श बनते हैं। जितनी बार यह अपना कार्य करती है अर्थात् जितनी बार इस अध्यात्मशक्ति के निर्णय के अनुसार हम कार्य में प्रवृत्त होते हैं उतनी बार ही इसका बल बढ़ता जाता है। इसको शक्तिशाली बनाने में ही चरित्र-विकास या चरित्र-गठन है।

चरित्रवान् व्यक्ति का कोई भी निर्णय अध्यात्मशक्ति के प्रतिकूल नहीं जाता। अनेक प्रकार की आदतें भी इसी की बनाई हुई होती हैं। जब यह अध्यात्मशक्ति कई बार एक प्रकार का निर्णय कर चुकती है तो उसको उसी प्रकार का नया निर्णय करने में भारी प्रयास नहीं उठाना पड़ता। अभ्यास के वश इस नये निर्णय करने या उसके अनुकूल कार्य करने में सुगमता मिलती है। आदत इस अध्यात्मशक्ति का विकसित रूप है और उसके कार्य का सहारा भी है। अतएव चरित्र इस अध्यात्मशक्ति के कार्य का ही मूर्तिमान् फल है। चरित्रहीन व्यक्ति वह है जिसकी अध्यात्मशक्ति बिलकुल कमजोर है और जो मूलप्रवृत्ति-जनित भावनाओं के वश में होकर कार्य करता है। अथवा जिसे

उद्वेग अपने प्रवाह में बहा ले जाता है या जो एक प्रकार का निश्चय करके उसके प्रतिकूल कार्य करता है और इस तरह से अपनी अध्यात्मशक्ति का बल कम कर देता है।*

धर्म परायणता—मानसिक दृढ़ता धर्म-परायणता अथवा सिद्धान्तों के प्रतिपालन से आती है। मनुष्य को जितना मानसिक बल बुद्धि से प्राप्त होता है, उतना और किसी दूसरे साधन से प्राप्त नहीं होता। जो मनुष्य जितना ही अधिक अपने कर्तव्य को पहचानता है और उस कर्त्तव्य का पालन करने के

---

* इस अध्यात्मवाद का खण्डन जड़वादियों, विकासवादियों तथा अन्य मत वालों ने किया है। जड़वादियों की एक शाखा व्यवहारवादी है जो चरित्र को व्यवहार-संस्कार समुच्चय मानते हैं। उनके अनुसार चरित्रगठन शारीरिक क्रियाओं पर ही निर्भर है। वे चेतना को शरीर के विकारों का फल मानते हैं। अतएव हमारी क्रियाओं का कारण किसी अध्यात्मशक्ति को मानना उनके मूल सिद्धान्तों के प्रतिकूल है। इस मत के प्रवर्तक वाटसन महाशय हैं।

विकासवादियों में सब से अधिक प्रसिद्ध वैज्ञानिक विलियम मेकडूगल हैं वे इस अध्यात्मशक्ति को स्वतन्त्र शक्ति नहीं, वरन् विकास का परिणाम समझते हैं। मनुष्य के जीवन में विकास होते-होते अभ्यास के वश कुछ स्थायी भाव ऐसे उत्पन्न हो जाते हैं जो हमारे कार्य-निर्णय में प्रधान कार्य करने लगते हैं। इन स्थायी भावों के अतिरिक्त दूसरी कोई भी अध्यात्मशक्ति हमारे अनुभव में नहीं आती और न कोई ऐसी शक्ति है।

मेकडूगल के अनुसार "चरित्र मनुष्य की प्रवृत्तियों का संगठित स्वरूप है। यह संगठन ढीला व दृढ़ हो सकता है। उसका आदर्श ऊँचा व नीचा हो सकता है। पर सुन्दर चरित्र का आदर्श सदा ऊँचा ही रहता है"—[आउट लाइन आफ साइकोलॉजी, पृष्ठ ४१७]। मनुष्य का व्यक्तित्व अनेक स्थायी भावों का पुंज है। ये स्थायी भाव संचित कार्यशक्ति के केन्द्र हैं। मेकडूगल ने सब प्रकार की प्राप्त प्रवृत्तियों का समावेश स्थायी भावों में ही किया है। इनका निर्माण मूल प्रवृत्तियों के आधार पर होता है। इन केन्द्रों के स्थापित हो जाने के बाद यही मनुष्य के सब कार्यों का संचालन करने लगते हैं।

स्थायी भावों में सबसे शक्तिशाली आत्म-प्रतिष्ठा का स्थायी भाव [सेण्टी-मेण्ट आफ़ सेलफ रिगार्ड] है। सुन्दर चरित्र में सब प्रवृत्तियाँ आत्मप्रतिष्ठा के भाव द्वारा ही नियन्त्रित रहती हैं, यही उनको संघटित करता है और इसी के मजबूत होने से चरित्र बलवान् होता है। "सुन्दर चरित्र हम उसे कहेंगे,

लिए तत्पर रहता है, वह उतना ही मानसिक बल में दूसरों से अधिक रहता है। धार्मिकता में नैतिकता, सदाचार तथा ईश्वर-विश्वास इन सभी बातों का समावेश होता है। सिद्धान्त-हीन, दुराचारी तथा नास्तिक लोगों में मानसिक दृढ़ता का पाया जाना कठिन है। जो मनुष्य किन्हीं निश्चित सिद्धान्तों के अनुसार अपने जीवन को यापन करता है, जो सबके सुख को बढ़ाने का प्रयत्न

जिसमें सब स्थायी भाव सुसंघटित हों। वे एक के नीचे एक स्थित होकर एक महत् स्थायी भाव द्वारा नियन्त्रित हो।" (सोशल साइकोलॉजी, पृष्ठ ४३३)

जब सुसंघटित चरित्रवाला व्यक्ति कोई कार्य करता है तो यह उस कार्य का सम्बन्ध अपनी अनेक प्रवृत्तियों से तथा स्वात्मभाव से समझने की चेष्टा करता है। जो कार्य इस स्थायी भाव के अनुकूल होता है, उसको मनुष्य करता है और जो नहीं होता, उसे नहीं करता। अतएव उसके विवेक और निर्णय में आत्मप्रतिष्ठा-भाव का ही प्रधान स्थान है। आत्मप्रतिष्ठा-भाव के अतिरिक्त कोई दूसरी ऐसी अज्ञात अध्यात्मशक्ति नहीं है जो हमारे मन में निर्णय का कार्य करती हो।

इस आत्मप्रतिष्ठा-भाव का विकास धीरे-धीरे होता है। बालक में शुरू में यह स्थायी भाव होता ही नहीं। परिस्थितियों के संघर्ष से उसके अन्दर इस स्थायी स्वत्व का उदय होता है। समाज सम्पर्क भी उसे दृढ़ करने में सहायक होता है। इसी तरह अध्ययन और विचार से भी आत्म-प्रतिष्ठा-भाव दिन प्रतिदिन विकसित होता है और हमारे सब कार्यों में प्रधान स्थान रखने लगता है। यह सब प्राकृतिक विकास का प्रतिफल है।

इस मत में हमें दो शङ्काएँ हैं। पहले तो 'आत्म'-सूचक कोई पदार्थ स्थायी भाव के अतिरिक्त मेकडूगल ने नहीं माना, तब उसकी अनुपस्थिति में आत्मप्रतिष्ठा-भाव का निर्माण कैसे होगा? हर एक भाव चाहे वह स्थायी हो अथवा अस्थायी, सुसंगठित हो अथवा नहीं, आत्मा का (या सत्व का) भाव है। अतएव स्व, सत्व व आत्मा इन भावों से अतिरिक्त पदार्थ है और सब भाव उस पर निर्भर है। मेकडूगल ने इसका उलटा सिद्धान्त स्थिर करने की चेष्टा की है। 'स्व' को कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं माना, उसे स्थायी भावों का कार्य माना है। स्थायी भावों के सङ्गठन से सत्व का भाव कैसे पैदा हो सकता है अथवा स्थायी भाव अपने आप कैसे सङ्गठित हो जा सकते हैं?—इन प्रश्नों का उत्तर हमें मेकडूगल से नहीं मिलता। कांट ने अपनी 'क्रिटीक आफ प्यौर-रीजन' नाम की किताब में मानसिक क्रियाओं में आत्मा की प्रधानता का

करता रहता है तथा जि सदा यह प्रतिभाषित होता है कि मेरे सभी कामों को यह एक अदृश्य आत्मा देख रही है और वह भले-बुरे की योग्य-निर्णायक है, वह कदापि कायरता में पड़कर अनुचित मार्ग को ग्रहण नहीं करता। ऐसा मनुष्य सब प्रकार के दुःखों को प्रसन्नता से सह सकता है।

ज्ञानवृद्धि और अभ्यास—उपर्युक्त धार्मिकता की प्राप्ति के लिए ज्ञान-वृद्धि और अभ्यास की आवश्यकता है। अज्ञानी मनुष्य को भले-बुरे का ज्ञान ही नहीं रहता। ऐसे मनुष्य में सदाचार और ईश्वर-विश्वास की उपस्थिति की आशा करना व्यर्थ है। ज्ञान के द्वारा मनुष्य भले-बुरे की पहचान करता है, वह अपने जीवन के लक्ष्य को निश्चित करता तथा अभ्यास के द्वारा अपने मन को वश में करके उस निश्चित लक्ष्य को प्राप्त करता है। अतएव हम यह कह सकते हैं कि चरित्र का प्रधान अंग मानसिक दृढ़ता है और उसके उपार्जन के प्रमुख साधन ज्ञान और अभ्यास हैं।

चरित्र-गठन

ऊपर हमने चरित्र का सामान्य स्वरूप बताया है। बालकों के इस प्रकार के चरित्र-गठन के लिए कई दिनों की तैयारी की आवश्यकता है। चरित्र-गठन का कार्य शैशवकाल से ही प्रारम्भ होता है। शैशव-काल में बालक के चरित्र-गठन की सामग्री एकत्र होती है। इस अवस्था में जो संस्कार बालक के मन में पड़ जाते हैं वे बालक के जीवन की प्रगति को एक विशेष प्रकार की कर देते

सिद्धान्त जो बड़े गम्भीर विचार के उपरान्त निकाला था, उसे विकासवादी सहज में ही उड़ा देना चाहते हैं। वास्तव में आत्मविकास एक स्वयं विरोधी कल्पना है। यदि 'स्व' या आत्मा मनुष्य की भावनाओं से अतिरिक्त कोई विशेष पदार्थ या स्वतन्त्र अध्यात्मशक्ति नहीं तो उसका उदय पीछे कैसे हो जायगा, जिससे वह किसी स्थायी भाव के साथ जुड़ सके अथवा अनेक स्थायी भावों को सङ्गठित कर सके? अतएव हमें यह कहना पड़ता है कि हमारी अन्तिम निर्णयशक्ति नई पैदा हुई शक्ति नहीं है, वरन् वह पहले से ही स्थित है। बालक को शक्ति का बोध नहीं होता, आयु बढ़ने से इसका बोध होने लगता है। इस अध्यात्मशक्ति के अनुसार कार्य करने से उसका जीवन में प्रभाव बढ़ने लगता है और यही प्रभाव बढ़ने में चरित्र-संगठन है। चरित्र अध्यात्मशक्ति के बल का दूसरा नाम है अथवा मनुष्य का चरित्र अध्यात्मशक्ति की क्रिया का प्रतिफल है।

हैं। यही संस्कार उसके चरित्र विकास में सहायक हो सकते हैं अथवा उसकी गति का अवरोध कर सकते है। यहाँ पर कुछ ऐसी बातें उल्लेखनीय हैं जो बालकों के मन में शुभ संस्कार डालने में सहायक होती हैं और जिनसे उनके चरित्र का निर्माण भली-भाँति होता है।

कहानी—बालकों के मन में शुभ संस्कारों के डालने में कहानियाँ बड़ी सहायक होती हैं। कहानियों के द्वारा बालक को क्रूर, स्वार्थी, कायर बनाया जा सकता है अथवा इसके विपरीत उदार, परोपकारी और वीर पुरुष। बचपन में बालक जिस प्रकार की कहानियाँ सुनते हैं, वैसा हो उनके चरित्र का निर्माण होता है। सभ्य देशों के पण्डितों ने ऐसी कहानियों का निर्माण किया है जिनसे समाज के बालकों के मनों के ऊपर अच्छा असर पड़ता है और जिनसे बालक नैतिकता एवं व्यवहार-कुशलता ही नहीं सीखते, वरन् मानसिक दृढ़ता भी प्राप्त करते हैं। प्रत्येक माता-पिता का कर्तव्य है कि ऐसी सुन्दर कहानियाँ सीखें और छोटे बच्चों को सुनावें। बालकों से कदापि ऐसी कहानियाँ न कहनी चाहिये जिनसे उनके मन में भीरुता, स्वार्थपरायणता अवथा हिंसा-वृत्ति बढ़े।

वीर गाथाएँ—छोटे बालकों के चरित्र-गठन में जिस प्रकार कहानियाँ आवश्यक हैं, उसी प्रकार किशोरावस्था के बालकों के लिए इतिहास और वीरगाथाएँ आवश्यक हैं। मनुष्य का मन जिस प्रकार के कल्पना-जगत में भ्रमण करता है, उसका आचरण उसी प्रकार का हो जाता है। शिवाजी की माता जीजाबाई ने अपने पुत्र को महाभारत और रामायण आदि ग्रन्थों से वीर पुरुषों की गाथाएँ सुनाकर वीर बना दिया। इसी तरह मेजिनी और नेपोलियन की माताओं ने अपने पुत्रों को वीर बनाया था। शिक्षकों को अपने देश के अनेक वीर पुरुषों की गाथाएँ स्मरण रखनी और बालकों को सुनानी चाहिये। दूसरे देशों के वीर पुरुषों की गाथाओं को सुनना भी चरित्र-निर्माण में सहायक होता है। मनुष्य सदा अपने से बड़े का अनुकरण करने के लिए तत्पर रहता है। यदि किसी मनुष्य के सामने एक सुयोग्य आदर्श रक्खा जाय तो वह उस आदर्श के प्राप्त करने की चेष्टा अवश्य करेगा। प्रत्येक मनुष्य अपने आपको अच्छा बनाना चाहता है, इसलिए जहाँ वह अच्छाई देखता है, उसे ग्रहण करने की चेष्टा करता है। हमारे देश के बालक, साक्रिटीज के जीवन से, वैसी ही सचाई की शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं जैसी कि वे हरिश्चन्द्र और युधिष्ठिर के जीवन से पाते हैं।

इतिहास—चरित्र-गठन में इतिहास के अध्ययन का बड़ा महत्व है। बालकों में जब विचार-शक्ति का विकास होता है तब वे मनुष्य के भले और

बुरे कार्यों को विवेचनात्मक दृष्टि से देखने लगते हैं। इतिहास दृष्टान्तों द्वा
सिद्धान्तों को समझानेवाला तत्व-ज्ञान कहा गया है। इतिहास से बालकों क
अतीतकाल का ज्ञान होता है और भविष्य की तैयारी करने के लिए योग्यत
प्राप्त होती है। इतना ही नहीं, उन्हें अपने पूर्वजों के प्रति श्रद्धा और भक्ति हो
है और उनके कार्यों से अपने कामों में प्रोत्साहन मिलता है।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि क़िसी देश का इतिहास, जो बालक
को पढ़ाया जाता है, उसी देशवासियों द्वारा लिखा होना चाहिये, अन्यथा उस
चरित्र निर्माण में लाभ न होकर हानि ही होती है।

वीर पुरुषों की पूजा—चरित्र-गठन में वीर पुरुषों की पूजा बड़े महत
का स्थान रखती है। शिक्षकों को चाहिये कि वे संसार के सभी वीर पुरुषों
प्रति बालकों की श्रद्धा उत्पन्न करें। पाठशालाओं में अपने देश के वीर-पुरु
की जयन्तियाँ मनाई जानी चाहिये। कृष्ण-जन्माष्टमी, रामनवमी आदि त्यौहा
का महत्व इसी में है कि हम ऐसे अवसरों पर अपने लोकपूज्य पूर्वजों की जीवन
का स्मरण करते हैं, उनका गुणानुवाद करके अपने जीवन को पवित्र करते हैं
हमारे देश के प्रत्येक विद्यालय में प्रताप, शिवाजी, गुरु गोविन्दसिंह तथ
दयानन्द सरस्वती की जयन्तियाँ उनके जन्मदिवस पर मनाई जानी चहियें।

चरित्र-निर्माण और आदत—बाल्यकाल आदत डालने का समय है
जो भली या बुरी आदतें इस समय पड़ जाती हैं, वे स्थायी हो जाती हैं
आदतवाले प्रकरण में यह बताया गया है कि बालकों के जीवन में आदतें कि
प्रकार डाली जा सकती हैं। हमें बालकों के जीवन में भली आदतें डालने
लिए उनके अनुकरण वा निर्देशित होने की प्रवृत्ति से काम लेना चाहिये। जो
कार्य घर के बड़े-बूढ़े लोग करते हैं, वही बालक भी करने लग जाता है
चरित्र आदतों का पुञ्ज कहा जाता है। आदतें अभ्यास से उपन्न होती हैं
आदतों के कारण मनुष्य कठिन से कठिन कार्य सुगमता से करता है। आदतें
भली और बुरी दोनों तरह की होती हैं, भली आदतें कठिनता से जीवन में डाली
जाती हैं और उनको छोड़ने में कठिनाई नहीं होती; बुरी आदतें अपने आप पड़
जाती हैं और फिर उन्हें मिटाना कठिन होता है। चरित्रवान् व्यक्ति के जीवन में
अच्छी आदतों की अधिकता होती है तथा चरित्रहीन व्यक्ति के जीवन में
बुरी आदतें अधिक होती हैं, जो उसके छुड़ाये नहीं छूटतीं। इन आदतों के
कारण मनुष्य का जीवन सदा दुखी रहता है। चरित्र-हीन व्यक्ति दयापात्र है।
वह सद्गुणों से तो रहित होता ही है, साथ ही उसमें अपनी कमी को जानने की
शक्ति भी नहीं होती। वह अपनी कमी को न देखकर दूसरों में उसे आरोपित

करता और अपने दुःख का कारण अपने आपको न समझकर दूसरों को समझता है।

बालकों में अन्य भली आदतों के साथ आत्म-निरीक्षण की आदत भी हमें डालनी चाहिये। जिस मनुष्य में आत्म-निरीक्षण की शक्ति है वह कठिन से कठिन परिस्थिति में पड़कर भी अपनी बुद्धि की स्थिरता नहीं खता। वह थोड़े ही समय में अपनी आपत्ति का कारण जान लेता है और उससे जल्दी सुलझ जाता है।

बालकों में आत्म-निरीक्षण की आदत डायरी लिखने के अभ्यास से डाली जा सकती है। शिक्षकों को चाहिये कि बालकों को अपनी दिनचर्या लिखने के लिए प्रोत्साहित करें। दिनचर्या लिखते समय मनुष्य को अपने कृत्यों पर एक दृष्टिपात करने की आवश्यकता होती है। इस समय वह अपने चरित्र की कमी को जान लेता है और भविष्य में उसे पूर्ण करने की चेष्टा करता है। मनुष्य के मन की प्रगति सदा स्थूल से सूक्ष्म पदार्थ की ओर होती है। जो मनुष्य अपने कार्यों की विवेचना करने में अभ्यस्त रहता है वही अपने चरित्र की विवेचना कर सकता है।

रुचियों का विकास—मनुष्य के कार्य उसकी रुचि के ऊपर निर्भर रहते हैं। आदत का परिणाम भी किसी विषय में रुचि पैदा करना होता है। मनुष्य की रुचियाँ, उसके विचार अथवा ज्ञान पर निर्भर रहती हैं। जिस मनुष्य को जिस विषय का ज्ञान ही नहीं है, उसके मन में उस विषय की रुचि रहना असम्भव है फिर तत्सम्बन्धी कर्त्तव्य उसके द्वारा होना वैसा ही कठिन काम है। अतएव किसी व्यक्ति के चरित्र-निर्माण का सर्वोच्च साधन ज्ञान-वृद्धि ही है। जर्मनी के प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री हरबार्ट महाशय का यह कथन कि मूर्ख व्यक्ति कदापि सद्गुणी नहीं हो सकता, पूर्णतः सत्य है। जिस मनुष्य का ज्ञान परिमित रहता है, उसकी रुचियाँ भी परिमित होती हैं। ऐसा मनुष्य सिवा पाशविक प्रवृत्तियों की तृप्ति में लगे रहने के और कुछ भी नहीं कर सकता।

मान लीजिये, एक बालक को न तो इतिहास का ज्ञान है न भूगोल और न किसी वैज्ञानिक विषय का। ऐसा बालक राजनैतिक, नागरिक तथा वैज्ञानिक विषयों में रुचि कैसे रख सकता है और जब उसे किसी उच्च विषय में रुचि ही नहीं तो वह किसी बड़े सामाजिक कार्य को लगन के साथ कैसे कर सकता है। इससे यह निश्चित है कि बालकों को उनकी जन्म-जात पाशविकता से मुक्त करने के लिए उसके ज्ञान की वृद्धि और रुचियों का विकास आवश्यक है। बालकों को संसार के सभी विषयों का ज्ञान बढ़ाना चाहिये। जिस बालक का

ज्ञान जितना ही विस्तीर्ण रहता है, उसकी रुचि उतनी ही विस्तीर्ण होती है। ऐसा बालक फुरसत के समय में अपने आप को अच्छे काम में ही लगाता है और उसका चरित्र अपने आप उच्च हो जाता है।

अन्तरात्मा की बलवृद्धि—चरित्र का निर्माण धीरे-धीरे अन्तरात्मा की बल-वृद्धि से होता है। अन्तरात्मा का बल अपने आपको प्रलोभनों से रोकने से बढ़ता है। मनुष्य के मन में सदा अन्तर्द्वन्द्व चला करते हैं। हमारा विवेक हमें एक ओर ले जाता है और पाशविक प्रवृत्तियाँ दूसरी ओर। जितनी ही बार मनुष्य विवेक के अनुसार कार्य करता है उतनी ही उसकी अन्तरात्मा बलवती होती जाती है और जितनी बार मनुष्य अपने विवेक के प्रतिकूल चलता है, उतना अधिक उसका मन अथवा अन्तरात्मा निर्बल होती जाती है। कुछ काल के बाद ऐसे मनुष्य में भले-बुरे का निर्णय करने की शक्ति ही नहीं रह जाती है और न वह अपने आप किसी प्रकार का भरोसा कर सकता है। अभिभावकों को चाहिये कि वे अपने संरक्षितों को बालपन से ही मन को वश में करने की शिक्षा दें। वही बालक शिष्ट कहाने योग्य है जो किसी इच्छित वस्तु के पाने के लिए एकाएक नहीं दौड़ पड़ता, वरन् सोच-विचारकर ही उसे पाने का प्रयत्न करता है।

हमने किसी पिछले प्रकरण में लिखा है कि बालकों की इच्छाओं का दमन करना अनुचित है। पर इसका यह अर्थ कदापि न समझना चाहिये कि बालकों को अपने मन को नियन्त्रण में रखना न सिखाया जाय। यदि ऐसा न किया गया तो वे पशु ही बने रहेंगे और उनका चरित्र-विकास हो ही न सकेगा। बालक जब किसी इच्छित वस्तु को चाहे तब उसे समयान्तर करके देना चाहिये; उसे यह शिक्षा देनी चाहिये कि एकाएक किसी वस्तु को लेने को दौड़ना अनुचित है।

मान लीजिये, हम एक बालक को बाजार में टहलने ले जा रहे हैं, वह मिठाई या फलों की दूकानें देखता है और हमसे मिठाई या फल लेने के लिए कहता है। हमें उसकी इच्छा की अवहेलना तो न करनी चाहिये पर मिठाई या फल उसके हाथ में देकर कहना चाहिये कि तुम इन्हें घर पर खाना। बाजार में ही खाने लग जाने की आदत बालकों में कदापि न डालनी चाहिये। जो बालक अपने मन को इतना वश में रख लेता है कि घर आने तक प्रिय से प्रिय वस्तु को नहीं खाता, वह बड़ा होने पर शिष्टता और चरित्र के दूसरे गुणों को भी प्रदर्शित करता है। वास्तव में उसने अपने मन को वश में रखने का पहला पाठ सीख लिया। धीरे-धीरे ऐसे ही अनेक अभ्यासों से उसका आत्मबल बढ़ जाता है और वह संसार में अपूर्व कार्य कर दिखाता है।

प्रोत्साहन—चरित्र-विकास में प्रोत्साहन का बड़ा महत्व है। चरित्र के ऐसे मौलिक गुण—जैसे वीरता, धैर्य आदि—प्रोत्साहन से ही आते हैं। जिस बालक को अपने कामों में प्रोत्साहन नहीं मिलता वह अपने जीवन को निराशामय बना लेता है। ऐसा बालक किसी भी कार्य को लगन के साथ नहीं करता, अतएव उसकी आत्मा निर्बल हो जाती है। निरन्तर कार्य करते रहने से ही मनुष्य अपने आपको पहचानता है। प्रोत्साहन के अभाव में किसी भी कार्य को लगन के साथ करना असम्भव है।

बालक जब किसी प्रश्न को बार-बार पूछता है तो प्रौढ़ लोग उसे डाँटकर चुप कर देते हैं। इससे बालक के मन में निराशा आ जाती है। उसे हर एक काम करने से अदृश्य भय उत्पन्न हो जाता है। इसी तरह जब बालक कोई वस्तु माँगता है और हम उसे डाँट देते हैं तब वह निराश हो जाता है। जीवन में ऐसे-ऐसे अनेक अनुभव होनेपर बालक का स्वभाव ही निराशामय बन जाता है। उसका उत्साह नष्ट हो जाता है। निरुत्साही बालक ही कायर होता है। मनोवैज्ञानिकों का कथन है कि जन्म से कोई बालक कायर नहीं होता। कायरता जीवन के कुसंस्कारों से ही उत्पन्न होती है। कायरता असफलता के संस्कार का परिणाममात्र है। यदि बालक को अपने कार्यों में साधारण सफलता और प्रोत्साहन मिलता जाय तो वह अवश्य वीर बनेगा।

प्रत्येक अभिभावक का यह धर्म है कि बालकों के सामने उत्तरोत्तर कठिन कामों को रक्खे। बालकों को दिए हुए कार्य न अति सरल हों और न अति कठिन। जो बालक सरल ही कार्य करता रहता है उसमें कठिनाइयों का सामना करने की आदत नहीं पड़ती। ऐसा बालक कठिनाइयों के पड़ने पर अपने आप को असहाय अवस्था में पाता है। उसमें कठिनाइयों का सामना करने की उमंग ही नहीं रहती। ऐसा व्यक्ति न तो संसार का भला कर सकता है और न अपना ही। यही दशा उस बालक की भी होती है, जिसको ऐसे काम दिये जाते हैं, जिनका करना उसकी शक्ति के बाहर हो। वह अपनी योग्यता को परख ही नहीं पाता है। मानसिक बल अभ्यास से ही बढ़ता है। इस अभ्यास के लिए उत्तरोत्तर कठिन कार्य बालकों के सामने रखना चाहिए।

आदर्शवादिता—चरित्र-गठन में आदर्श का बड़ा महत्व है। आदर्शहीन मनुष्य कदापि चरित्रवान् नहीं हो सकता। आदर्श मनुष्य के विचार को सूत्रीभूत करता है; और उन्हें नियन्त्रण में रखता है। जिस मनुष्य के विचार नियन्त्रित रहते हैं तथा जिस लक्ष्य की ओर वे अग्रसर होते हैं उसकी क्रियाएँ भी नियन्त्रित रहती हैं तथा उनका प्रवाह लक्ष्य विशेष की ओर होता

स्वस्थ मनुष्य की क्रियाएँ सदा विचारों की अनुगामिनी होती हैं। जिस मनुष्य के विचार उच्च हैं उसका आचरण स्वभावतः लोकोपकारी और उसका चरित्र आदरणीय हो जाता है। अतएव हम यह कह सकते हैं कि जिस मनुष्य का जितना ऊँचा आदर्श होता है, वह उतना ही चरित्र में ऊँचा होता है।

पर यहाँ यह बताना आवश्यक है कि आदर्श सक्रिय होना चाहिए। कोरी आदर्शवादिता एक तरह की मानसिक बीमारी है। यह चरित्र के दोषों के छिपाने के प्रयत्न मात्र हैं। अति उच्च आदर्शवाला व्यक्ति दूसरों के चरित्र के दोषों को देखता रहता है, अपने आप कुछ भी नहीं करता। बालकों में इस प्रकार की आदर्शवादिता को कदापि न आने दें। बालकों के समक्ष जो आदर्श रखे जायँ, वे ऐसे रहें जिन्हें बालक वास्तविक जगत् में प्राप्त कर सकें। ऐसा न होने पर आदर्शों की उपस्थिति चरित्र का विनाश करती है।

इक्कीसवाँ प्रकरण

बाल-मन की उलझनें

आधुनिक चित्तविश्लेषण-विज्ञान ने मनुष्य के व्यक्तित्व पर जितना प्रकाश डाला है; उतना प्रकाश किसी दूसरे प्रकार के अध्ययन से हमें प्राप्त नहीं हुआ। डाक्टर फ्राइड, युंग, ऐडलर, जोन्स, फ्रेंकजी आदि विद्वानों ने मन के अन्तः-पटलों का अध्ययन कर एक नया विज्ञान ही रच डाला है। यह विज्ञान अंग्रेजी में साइकोएनालेसिस कहलाता है। इस विज्ञान के अध्ययन से पता चलता है कि मनुष्य के जीवन की अनेक प्रकार की जटिलताओं की जड़ उसके बचपन के अनुभवों में होती है। अतएव बालकों के संस्कारों का अध्ययन करना एक महत्त्वपूर्ण विषय हो गया है। इसी तरह अनेक बालकों के आचरण तथा बौद्धिक समस्याओं का कारण उनके अदृश्य मन में चलनेवाला द्वन्द्व रहता है। इस अन्तर्द्वन्द्व के कारण कितने ही बालक दुराचारी, अनुद्योगी तथा मन्दबुद्धि हो जाते हैं। इस प्रकरण में हम पाठकों के समक्ष उस अदृश्य मन की रूप-रेखा खींचने की चेष्टा करेंगे जिसमें अन्तर्द्वन्द्व चलता है और साथ ही बालकों के मन में होनेवाले अन्तर्द्वन्द्व का स्वरूप एवं उसका कारण दर्शाने की चेष्टा करेंगे ताकि अभिभावकगण अपने बालकों को इस प्रकार के द्वन्द्व से मुक्त कर सकें।

अव्यक्त मन[1] का स्वरूप

मनोविश्लेषण वैज्ञानिकों ने मन की तुलना समुद्र में उतराते हुए बर्फ के पहाड़ (आइसबर्ग) से की है। जिस तरह आइसबर्ग का अधिकांश भाग पानी के नीचे रहता है और पानी की सतह के ऊपर रहनेवाला भाग पूरे आइसबर्ग का थोड़ा हिस्सा रहता है, इसी तरह हमारे मन का अधिक हिस्सा चेतन मन की पहुँच के बाहर रहता है। हमारे समस्त मन का थोड़ा ही हिस्सा चेतन मन है, अधिक भाग अदृश्य या अव्यक्त मन है। पर यह अदृश्य मन अक्रिय नहीं है। जिस प्रकार चेतन मन सक्रिय है, उसी प्रकार अदृश्य मन भी है। वास्तव में अदृश्य मन की क्रियाएँ ही चेतन मन की अधिक क्रियाओं का सञ्चालन करती हैं। इस तरह अदृश्य मन और चेतन मन में कारण-कार्य का सम्बन्ध है।

---

1. Unconscious mind.

दृश्य और अदृश्य मन का सबंध नाट्यशाला की व्यवस्था से तुलना करके समझाया जा सकता है। जिस तरह किसी नाट्यशाला में होनेवाले खेल के समस्त पात्र एक साथ ही परदे के सामने नहीं आते, इसी तरह हमारे अदृश्य मन में रहनेवाली समस्त भावानाएँ तथा वासनाएँ व्यक्त मन के समक्ष नहीं आतीं। परदे के सामने होनेवाली घटनाओं का संचालन परदे के भीतर से होता है, इसी तरह हमारे चेतन मन में होनेवाली घटनाओं का संचालन भी अदृश्य मन से होता है। यहाँ पर मन के तीन भाग स्पष्ट होते हैं; जिस तरह नाट्यशाला के तीन विभाग हैं—पर्दे के सामने आनेवाले पात्र, परदे के पीछेवाले पात्र और सूत्रधार—इसी तरह चेतन मन, अचेतन मन और नियन्त्रक, यों मन के तीन विभाग किये जा सकते हैं। नियन्त्रक ही यह निश्चय करता है कि कौन पात्र कब स्टेज पर आयेगा, उचित-अनुचित का ज्ञान उसे ही रहता है; इसी तरह हमारे मन में भी एक नियन्त्रक मन है जो किसी भी इच्छा का व्यक्त चेतना में आने अथवा न आने का निर्णय करता है। इन तीनों भागों की कल्पना भिन्न-भिन्न प्रकार से अनेक मनोवैज्ञानिकों ने की है तथा उनके भिन्न-भिन्न नाम भी दिये हैं। किसी ने इन्हें चेतन[1] अर्धचेतन[2] तथा अचेतन[3] नाम दिया है;※ तो किसी ने अहङ्कार[4] नैतिक मन[5] तथा अव्यक्त मन[6] कहा है।

अव्यक्त मन के कार्य

अव्यक्त मन और स्वप्न—हम अव्यक्त मन का स्वरूप स्पष्टतः स्वप्नों में देखते हैं। मनोविश्लेषण-विज्ञान के अनुसार स्वप्न हमारी दबी हुई वासनाओं के कार्य हैं। मनोविश्लेषण-विज्ञान का यह मौलिक सिद्धान्त है कि हमारी प्रत्येक वासना चेतन मन में आकर अपनी परितृप्ति की चेष्टा करती है। इस प्रकार हमारी अनेक वासनाएँ जाग्रत् अवस्था में तृप्त हो जाती हैं। वास्तव में मनुष्य जो

1. Conscious. 2. Preconscious. 3. Unconscious. 4. Ego. 5. Superego. 6. ID.

※ निम्नलिखित चित्र के द्वारा मन का स्वरूप स्पष्ट किया जा सकता है—

मान लीजिए हमारे सामने एक पहाड़ और उसकी घाटी है। अब मान लीजिए कि पहाड़ की चोटी की ऊँचाई के कारण सूर्य कभी घाटी पर प्रकाश नहीं डाल पाता। घाटी को चित्र के काले स्थान से दर्शाया गया है। पहाड़ की दो चोटियों पर सूर्य की धूप ठीक लगती है। उन चोटियों के नीचे सूर्य शायद दोपहर के समय ही धूप पहुँचा सकता है। जिस हिस्से पर पूरा प्रकाश पड़ रहा है वह चेतन मन को लक्षित करता है, जहाँ थोड़ा प्रकाश पड़ता

संसार के अनेक व्यवहारों में लगते हैं वे इन वासनाओं की तृप्ति के हेतु ही लगते हैं। किन्तु कितनी ही वासनाएँ ऐसी भी हैं जो हमारी जाग्रत अवस्था में अनुकूल वातावरण प्राप्त न होने के कारण तृप्त नहीं हो पातीं अथवा जो हमारी नैतिक धारणा के प्रतिकूल होने के कारण दमन की जाती हैं। इन वासनाओं का विनाश नहीं होता। वे किसी दूसरे प्रकार से अपनी तृप्ति की चेष्टा करती हैं। स्वप्न-संसार इन्हीं वासनाओं का रचा हुआ होता है। स्वप्न मन की अर्धचेतन अवस्था है। जो वासना पूर्ण चेतन अवस्था में तृप्त नहीं हो पाती वह अर्धचेतन अवस्था में तृप्त होने की चेष्टा करती है।

कितने ही स्वप्नों में हम अपने बिछुड़े प्रियजनों को देखते हैं और कभी जो धन खो गया है, उसे पा जाते हैं। बालकगण स्वप्न में मिठाई खूब खाते और इम्तहान में पास होते हैं। ये सब स्वप्न अवश्य ही मन की अभिलाषाओं की पूर्ति करते हैं।

पर हम ऐसे भी बहुत से स्वप्न देखते हैं जिनका न तो अर्थ समझते हैं और न जिनका हमारे जाग्रत जीवन से कोई सम्बन्ध जान पड़ता है। मनोविश्लेषण-विज्ञान का कथन है कि ऐसे स्वप्न भी हमारी गुप्त वासनाओं की पूर्ति मात्र हैं।
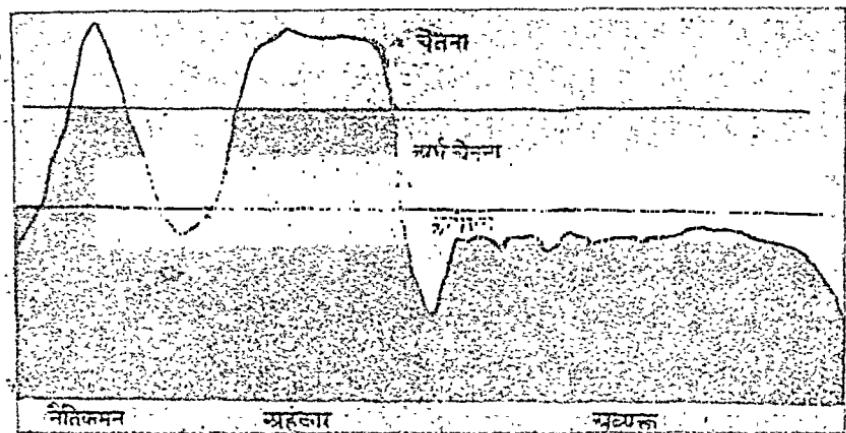
है वह अर्ध-चेतना को लक्षित करता है और घाटी, जहाँ सूर्य की रोशनी पड़ती ही नहीं, अचेतन मन को लक्षित करती है। मुख्य चौड़ी चोटी को हम अहङ्कार (ईगो) कह सकते हैं, पतली चोटी को नैतिक मन और जो बहुत अधिक चौड़ा भाग है, उसे अव्यक्त मन कह सकते हैं। अहंकार और नैतिक दोनों ही अव्यक्त मन के बाहर हैं, अर्थात् वे या तो चेतना में हैं अथवा अर्धचेतना में; अव्यक्त मन पूर्ण अचेतन कहा जा सकता है। इसी मन में हमारी अनेक रहस्यमयी चेष्टाओं का कारण रहता है।

ये स्वप्न किन्हीं ऐसी वासनाओं के छिपे रूप हैं जो हमारी नैतिक बुद्धि के प्रतिकूल हैं।

प्रतिबंधक व्यवस्था[1]—हमारी नैतिक बुद्धि, हमारे चेतन मन और अव्यक्त मन के बीच एक प्रतिबन्ध खड़ा कर देती है। एक प्रकार के सेंसर आफिस का काम करती है। जो वासनाएँ हमारी नैतिक धारणाओं के प्रतिकूल हैं वे चेतना के समक्ष आने ही नहीं पातीं। हमारी जाग्रत अवस्था में यह नैतिक बुद्धि सचेत रहती है और अनैतिक इच्छाओं का दमन किया करती है। पर सुप्त अवस्था में यह नैतिक बुद्धि भी सुप्त हो जाती है और स्वप्न अवस्था में अर्धचेतन रहती है। ऐसी ही अवस्था में अनैतिक वासनाएँ छिपे रूप से तृप्ति पाने की चेष्टा करती हैं। इस तरह हम देखते हैं कि स्वप्न एक प्रकार के सांकेतिक रूप से वासनाओं की तृप्ति पाने की चेष्टा का परिणाम है। हर एक स्वप्न का कुछ न कुछ अर्थ होता है जो हमारी वासनाओं से सम्बन्ध रखता है और यदि हम अपने स्वप्नों को भली-भाँति समझ जायँ तो अवश्य ही उनका सम्बन्ध अपनी वासनाओं से पावेंगे।

दबी हुई वासनाएँ स्वप्नावस्था में परिवर्तित, संक्षिप्त, संमिश्रित और प्रतिभावित होकर प्रकट होती रहती हैं। स्वप्न से वास्तविक इच्छा का जानना अत्यन्त कठिन है; क्योंकि प्रकाशित स्वप्न[2] वास्तविक स्वप्न[3] (अव्यक्तवासनाओं) से कभी-कभी बिलकुल भिन्न होते हैं और प्रायः जितने स्वप्न हम देखते हैं, उतने स्मरण भी नहीं रह पाते; क्योंकि हमारी नैतिक बुद्धि उनकी स्मृति का दमन करती है।

मि० मायर ने एक स्वप्न का वर्णन इस प्रकार किया है—"एक नवयुवती को स्वप्न हुआ कि वह स्वप्न में सोने के जूते पहने हुए है"। स्वप्न जब विश्लेषित किया गया तो विदित हुआ कि स्वप्न किसी गहरी आन्तरिक अभिलाषा का सूचक है। युवती अपने दाम्पत्य जीवन से सुखी न थी। वह अपनी सहचरी के दाम्पत्य पर ईर्ष्या करती थी; क्योंकि उक्त सहचरी के पति को पहले उसने अस्वीकार कर तिरस्कृत किया था। अब एक दिन जब वह उसके घर मेहमान बनकर गई तो देखा कि उसकी साथिन सुनहरे जूते पहने है, इससे उसे पूर्व स्मृति की याद आई। वह सोचने लगी कि यदि मेरा ब्याह इसी व्यक्ति से होता तो मैं भी आज सुनहरे जूते पहने होती। इस प्रकार आन्तरिक अभिलाषा की पूर्ति स्वप्न में हो गई।

---

1. Censor. 2. Manifest dream. 3. Latent dream.

मिस्टर मायर ने एक दूसरे स्वप्न का उदाहरण दिया है जो पहले से बिलकुल भिन्न है और जिसमें छिपी भावना व्यक्त स्वप्न से बिलकुल ही भिन्न है। "एक व्यक्ति ने स्वप्न में अपने चचा को मारते देखा, जिसकी मृत्यु बहुत पहले हो चुकी थी"। यह स्वप्न उसे अनेक बार हो जाया करता था। विश्लेषण करने पर विदित हुआ कि स्वप्न उसे उसी समय होता था जब उसे आर्थिक कष्ट होता था। चाचा की मृत्यु ने उसे एक समय आर्थिक कष्ट से सामयिक छुटकारा दिया था। पर अब वह जब आर्थिक संकट में आता था तो अपने पिता की मृत्यु की बात सोचता रहता था। पिता के साथ उसकी अनबन थी और वह पिता से पृथक् रहता था। वह वासना अव्यक्त मन में होने के कारण, आर्थिक संकट के अवसर पर, चचा की मृत्यु के रूप में आ जाया करती थी। यहाँ पिता का स्थान चचा ने ग्रहण कर लिया। इस मनुष्य के अव्यक्त मन में पिता के मरने की इच्छा होते हुए भी नैतिक बुद्धि के विरुद्ध होने के कारण उसके व्यक्त मन में वह नहीं आती थी। अतएव यह इच्छा चचा की मृत्यु के रूप में प्रकाशित हुई। यह स्वप्न का परिवर्तित रूप है।

सांकेतिक चेष्टाएँ[1]—जिस प्रकार दबी वासनाएँ स्वप्नों व रोगों का कारण होती हैं, उसी तरह वे अनेक सांकेतिक चेष्टाओं का भी कारण होती हैं। होठों का काटना, नाक सिकोड़ना, मुँह मोड़ना, दाँत से नाखून काँटना, पैर और जाँघें हिलाना आदि चेष्टाएँ ऊपरी दृष्टि से कारण-रहित प्रतीत होती हैं, परन्तु इन सब शारीरिक चेष्टाओं के गुप्त कारण होते हैं। ये चेष्टाएँ अनेक दबी हुई इच्छाओं की द्योतक हैं। इनके द्वारा दबी हुई वासनाएँ सांकेतिक रूप से तृप्त होने की चेष्टा करती हैं।

सांकेतिक चेष्टाओं की उत्पत्ति शेक्सपियर द्वारा वर्णित लेडी मेक-बेथ की स्वप्न-चेष्टाओं से भली-भाँति स्पष्ट हो जाती है। लेडी मेक-बेथ अपनी स्वप्न अवस्था में अचानक उठ बैठती थी और अपनी दासी को बुलाकर उससे पानी लाकर हाथ धुलाने को कहती थी। उसे उस अवस्था में अपने हाथ रक्त-रंजित दिखाई देते थे। दासियाँ इस प्रकार की चेष्टाओं को देखकर चकित होती थीं। वास्तव में लेडी मेकबेथ ने अपनी अन्तरात्मा की आवाज के प्रतिकूल अपने घर आये अतिथि राजा डङ्कन को, जो बड़ा सत्पुरुष था, मारने के लिए अपने पति को प्रोत्साहित किया था। अपने इस कुकर्म से उसे बड़ी आत्मग्लानि थी और उसे वह भूल जाने की चेष्टा करती थी। इस प्रयत्न का परिणाम यह हुआ कि लेडी मेकबेथ ने अपने व्यक्त मन से तो अपने इस पाप को भुला दिया, पर वह

---

1. Automata, symptomatic atcs.

उसके अव्यक्त मन में वर्तमान रहा। उसे अपनी अर्धचेतन अवस्था में अपने हाथों पर रक्त के छींटे दिखाई पड़ते थे! व्यक्त मन पाप को स्वीकार नहीं करना चाहता था; वह पाप की अवांछनीय स्मृति को दबाना चाहता था, पर अव्यक्त मन उतनी ही प्रबलता से उसे स्मरण रखने की चेष्टा करता था। इस अन्तर्द्वन्द्व के कारण उस महिला की असाधारण मानसिक दशा हो गई और उसका पाप सांकेतिक चेष्टाओं के रूप में परिणत हो गया।

कितने ही लोग हाथ मलते रहते हैं, कितने अकारण बगल में झाँका करते हैं, कितने सिर खुजलाते हैं और हाथ धोने की चेष्टाएँ अपनी जाग्रत् अवस्था में करते रहते हैं। लेडी मेकबेथ जिस प्रकार अपनी स्वप्नावस्था में सांकेतिक चेष्टाएँ करती थी, उसी प्रकार जगरित अवस्था में कितने ही लोग सांकेतिक चेष्टाएँ करते रहते हैं। इन चेष्टाओं का कारण भी दबी हुई भावनाएँ हैं। इन चेष्टाओं के करते समय व्यक्ति को पता नहीं रहता कि वह कोई असाधारण चेष्टाएँ कर रहा है। वे वास्तव में अर्धचेतन अवस्था में ही होती हैं; उसका ज्ञान चेतन मन को नहीं रहता।

विस्मृति—जिस तरह वासनाएँ दबी हुई स्वप्न और सांकेतिक चेष्टाएँ उत्पन्न करती हैं, उसी तरह वे असाधारण स्मृति का कारण भी होती हैं। एक महिला अपने पूर्व प्रेमभाजन के चेहरे को इतना भूल गई कि उसे वह पहचान भी न सकती थी। इस व्यक्ति ने उस महिला को निराश कर दिया था। जिन घटनाओं से आत्मग्लानि होती है, उन्हें हमारा मन चेतना के समक्ष आने से रोकता है। जिन लोगों को हम नहीं चाहते, उनका नाम ही हमें याद नहीं रहता। हम प्राय: दूसरों से उधार लिया रुपया भूल जाते हैं। उधार ली हुई किताबों का भूल जाना तो साधारण सी बात है। हमने स्मृति वाले प्रकरण में यह भली-भाँति दर्शाया है कि किस प्रकार बालकों को दबी भावना-ग्रंथि के कारण पढ़ाई का विषय भूल जाता है।

विक्षिप्तता—दबी भावना-ग्रन्थियाँ अनेक प्रकार की मानसिक विक्षिप्तता उत्पन्न करती हैं। स्वप्नावस्था में चलना-बकना आदि भी मानसिक विक्षिप्तता ही है। इसका कारण भी भावना-ग्रन्थियाँ हैं। जब किसी व्यक्त के हृदय पर किसी घटना से विशेष आघात पहुँचता है तो वह विक्षिप्त हो जाता है। उसे व्यक्त और अव्यक्त मन में एकत्व नहीं रहता। विक्षप्तता दुःख को चेतना से अलग करने की चेष्टामात्र है। जब कोई मनुष्य किसी ऐसी परिस्थिति में पड़ जाता है, जिसमें उसकी आन्तरिक अभिलाषाओं की पूर्ति की कोई सम्भावना

नहीं दिखाई देती तो वह ऐसी अवस्था में बाह्य जगत् को भूल जाता है और अपने अन्तर्जगत् में ही विचरण करने लगता है।

रोगों की उत्पत्ति—जैसे अव्यक्त की दबी हुई वासनाएँ स्वप्न में उद्भूत होती हैं ऐसे ही वे नाना प्रकार की व्याधियाँ उत्पन्न कर देती हैं। डा० फ्रायड तथा अन्य मानसिक विश्लेषण-चिकित्सा-शास्त्रज्ञों ने मधुमेह, चर्मरोग, कुष्ठ, बदहजमी, शूल, लकवा, मृगी और उन्माद आदि रोगों के रोगियों को चित्त-विश्लेषण द्वारा अच्छा किया है।

गत महासमर के समय कितने ही सैनिकों को लकवा की बीमारी हो गई थी। वास्तव में ये सैनिक लड़ाई के भीषण कार्य से छुटकारा चाहते थे। उन्हें उस कार्य से छुटकारा और किसी तरह नहीं मिल सकता था अतएव उनके अव्यक्त मन ने एक रास्ता निकाल लिया जिससे उन्हें संग्राम में रहने के लिए कोई बाध्य ही नहीं कर सकता था।

ब्राउन महाशय ने एक ऐसे रोगी का वर्णन किया है जो अपनी दबी भावना के कारण अन्धा हो गया था। यह व्यक्ति अपनी स्त्री से, जिसे वह व्यभिचारिणी समझता था, बचना चाहता था। पर वह अपनी मान मर्यादा के कारण तिलाक भी नहीं दे सकता था। ऐसी अवस्था में उसके मन में अन्तर्द्वन्द्व उत्पन्न हो गया और वह अन्धा हो गया।

डा० कार्डिनर ने अपनी एक पुस्तक में एक रोगिणी के बारे में यह वर्णन लिखा है—

एक तीस-वर्षीया नवयुवती एक बार किसी चित्त-विश्लेषण-चिकित्सक के पास गई और कहने लगी कि कुछ दिन से हर छठे सप्ताह मुझे एक हुचकी आने का धक्का सा लगता है। यह धक्का कुहनी पर इतने जोर से लगता है कि हाथ इस प्रकार उछलता है, मानों किसी को मारना चाहता है। उसे यह भी याद न था कि यह स्थिति आरम्भ कब से हुई। उसके मानसिक विश्लेषण से पता चला कि उसका दाम्पत्य जीवन सुखमय नहीं था और वह अपनी बहन से—जिसका दाम्पत्य जीवन बहुत सुखपूर्ण था—ईर्ष्या करती थी। पहले पहल इन धक्कों का लगना तब शुरू हुआ जब एक दिन वह अपनी बहन के यहाँ गई थी और वहाँ एक ही मेज पर बैठकर भोजन कर रही थी। वह बहन के वैभव को न सह सकी; उसके अव्यक्त मन में बहन को मारने की ध्वनि होने लगी, पर विवेकयुक्त व्यक्त मन इसके विरुद्ध था। अतः दबी हुई भावना इस प्रकार रोगरूप में अभिव्यक्त हो उठी। जब उसको यह सब मालूम हो गया तो उसका रोग भी दूर हो गया।

बहुत से रोग जन्म से ही होते हैं। इसका कारण बालक की माता है। यदि माता की प्रवृत्तियाँ बुरी हैं तो उसका प्रभाव बालक पर भी पर्याप्त रूप से पड़ता रहता है। सच तो यह है कि मनुष्य की बहुत सी वासनाओं का सूत्रपात गर्भ में ही हो जाया करता है। जो माताएँ आत्महत्या आदि पर सोचा करती हैं उनके बालक दमा, यक्ष्मा आदि से पीड़ित होते हैं। दमा में श्वासावरोध होता है जो श्वास-निवृत्ति अर्थात् मृत्यु का ही सूचक है।

अव्यक्त मन और मनोविकास

चित्त-विश्लेषण या मनोविश्लेषण विज्ञान का अध्ययन बाल-मन की उलझनें समझने के लिए परमावश्यक है। हर एक व्यक्ति अपने शैशवकाल में अनेक प्रकार के दुःख और दमन सहता है। उसकी आन्तरिक भावनाएँ और इच्छाएँ विकास का मार्ग नहीं पातीं। बड़े बूढ़े सदा उसकी स्वाभाविक वृत्तियों का दमन किया करते हैं। वे लोग सदा अपने पैमाने से ही बालक के स्वभाव का माप किया करते हैं। फ्रांस के रूसो नामक मनोविज्ञानवेत्ता ने इस प्रकार की चेष्टा का अनौचित्य अपनी एमिल नाम की पुस्तक में भली भाँति बताया है। इसका असर पश्चिम के विद्वानों और शिक्षकों पर पर्याप्त रूप से पड़ा है। इसलिए उनका दृष्टिकोण बालक के स्वभाव की ओर बहुत कुछ बदल गया है। आजकल के किंडर गार्टन, माण्टेसोरी शिक्षा-पद्धति तथा डाल्टन प्लैन इसी के परिणाम स्वरूप हैं। पर पूर्व में तो ऐसे विचारों का अभी बीजारोपण ही हुआ है। हमारे भाव बालक के प्रति वैसे ही हैं जैसे यूरोप के विद्वानों के भाव रूसो के पहले थे।

देखा जाता है कि अभिभावक तथा शिक्षकगण बालक की भावनाओं का आदर नहीं करते। वे यह भी नहीं जानते कि उनका बचपन की चेष्टाओं और इच्छाओं का बालक के जीवन के विकास में कितना महत्व है। जब बालक अनेक प्रकार की मीठी-मीठी खाने की चीजें माँगता है तो अक्सर हम उसकी इन इच्छाओं का तिरस्कार करते हैं। परिणाम यह होता है कि बालक चोरी करके अपने खाने की इच्छा को तृप्त करने का प्रयत्न करता है। हम यह समझते हैं कि बालक को शैतान ने अपने काबू में कर लिया है। हम उसे अनेक प्रकार के दण्ड देते हैं। इसके परिणाम-स्वरूप बाह्य रूप से बालक अपनी बुरी आदतों को छोड़ देता है, पर वास्तव में उसके चरित्र में कुछ भी उन्नति नहीं होती। इसी तरह जब हम बालक को पढ़ने से जी चुराते, बड़ों की अवज्ञा करते अथवा झूठ बोलते या दूसरे लड़कों को तंग करते देखते हैं तो हम एकदम क्रुद्ध होकर अनेक प्रकार के दण्ड देने लगते हैं। पर इस तरह न तो बालक की चाल-चलन

में लगने लगा और वह इतने चाव से पढ़ने लगा कि जो कार्य दूसरे बालक दो साल में पूरा करते उसे उसने एक साल में ही पूरा कर लिया। अब वह अपने दोनों भाइयों से पढ़ाई में किसी तरह पीछे नहीं रहता था, वरन् उनसे आगे ही बढ़ा रहता था। उसके माता-पिता उसे अब खूब प्यार करने और कुटुम्ब का गौरव बढ़ानेवाला समझने लगे। उसके भाई भी उसका सम्मान करने लगे। कुछ दिनों के बाद ही उसका स्थान कुटुम्ब में सर्वप्रथम हो गया। पर इस समय एक नई समस्या आ उपस्थित हुई। अब उस अध्यापिका और बालक में मनोमालिन्य तथा संघर्ष पैदा हो गया। अध्यापिका ने उस बालक को प्रेम की दृष्टि से देखना बन्द कर दिया। कुछ काल के बाद उसी बालक के कारण उसने उस परिवार की नौकरी छोड़ दी जिसे कि वह पहले सबसे अधिक प्यार करती थी।

कुछ दिनों बाद जब अध्यापिका की परीक्षा एक चित्त-विश्लेषक ने की, तो उसे, इस ऊपर कही क्रिया और प्रतिक्रिया का सच्चा कारण मालूम हुआ। अपने बचपन में यह अध्यापिका भी उस तिरस्कृत बालक की तरह घर में जीवन व्यतीत करती थी। इसलिए उसके अव्यक्त मन ने इस बालक से अपनी तदात्मकता कर ली थी। उस बालक को प्यार करने और उसके बारे में चिन्तित रहने का अर्थ यह था कि उसकी अन्तरात्मा संसार को कहती थी कि मेरे जीवन को सफल बनाने के लिए [illegible] से रखना चाहिये था। ये

में लगने लगा और वह इतने चाव से पढ़ने लगा कि जो कार्य दूसरे बालक दो साल में पूरा करते उसे उसने एक साल में ही पूरा कर लिया। अब वह अपने दोनों भाइयों से पढ़ाई में किसी तरह पीछे नहीं रहता था, वरन् उनसे आगे ही बढ़ा रहता था। उसके माता-पिता उसे अब खूब प्यार करने और कुटुम्ब का गौरव बढ़ानेवाला समझने लगे। उसके भाई भी उसका सम्मान करने लगे। कुछ दिनों के बाद ही उसका स्थान कुटुम्ब में सर्वप्रथम हो गया। पर इस समय एक नई समस्या आ उपस्थित हुई। अब उस अध्यापिका और बालक में मनोमालिन्य तथा संघर्ष पैदा हो गया। अध्यापिका ने उस बालक को प्रेम की दृष्टि से देखना बन्द कर दिया। कुछ काल के बाद उसी बालक के कारण उसने उस परिवार की नौकरी छोड़ दी जिसे कि वह पहले सबसे अधिक प्यार करती थी।

कुछ दिनों बाद जब अध्यापिका की परीक्षा एक चित्त-विश्लेषक ने की, तो उसे, इस ऊपर कही क्रिया और प्रतिक्रिया का सच्चा कारण मालूम हुआ। अपने बचपन में यह अध्यापिका भी उस तिरस्कृत बालक की तरह घर में जीवन व्यतीत करती थी। इसलिए उसके अव्यक्त मन ने इस बालक से अपनी तदात्मकता कर ली थी। उस बालक को प्यार करने और उसके बारे में चिन्तित रहने का अर्थ यह था कि उसकी अन्तरात्मा संसार को कहती थी कि मेरे जीवन को सफल बनाने के लिए मुझे इस तरह से रखना चाहिये था। ये सब भावनाएँ अव्यक्त मन की थीं। पाठिका के व्यक्त मन को उसका कुछ भी ज्ञान न था। अतएव जब बालक को सफलता प्राप्त हुई तो उस तदात्मा का अन्त हो गया और वह अध्यापिका उस बालक को प्यार न कर सकी वरन् उसके प्रति द्वेषभाव पैदा हो गया। अध्यापिका को स्वयं अपने जीवन में उतनी सफलता प्राप्त नहीं हुई थी जितनी की इस बालक को हो गई। उसका अव्यक्त मन जिस सुखावस्था में स्वयं नहीं पहुँच पाया था उसमें बालक को भी नहीं देखना चाहता था। अतएव बालक से झगड़े के अनेक कारण उपस्थित हो गये।

उपर्युक्त उदाहरण, जो अव्यक्त मन की सूक्ष्म क्रियाएँ एवं प्रतिक्रियाएँ दर्शाता है, शिक्षकों के लिए बड़े महत्त्व का है। इससे एक तो यह स्पष्ट होता है कि जो बालक अपने स्वजनों के प्रेम से वंचित रहते हैं अथवा जिनका सदा तिरस्कार हुआ करता है उनका उत्साह एवं स्फूर्ति बिलकुल जाती रहती है और वे कोई भी साहस का काम अपने जीवन में नहीं कर सकते। दूसरी तरफ यह उदाहरण उन शिक्षकों के आंतरिक मनोभावों, विकारों तथा

सुप्त संस्कारों पर प्रकाश डालता है जो कि अक्सर बालकों की शिकायत किया करते हैं। हम कई एक शिक्षकों में बालकों को दण्ड देने की प्रबल इच्छा देखते हैं। इसका कारण उनके सुप्त संस्कार हैं। वही व्यक्ति शिक्षक बनने के योग्य है जिसका मन स्वस्थ हो तथा जिसके संस्कार इतने शुभ हों कि वे उसे सदा प्रसन्न बनाये रहते हों।

चित्त-विश्लेषण-शास्त्र के अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि जिस बालक की इच्छाएँ कुचल दी जाती हैं और उनकी पूर्ति नहीं होती वह कभी बलवान और प्रभावशाली व्यक्ति नहीं हो सकता। वह सदा दब्बू बना रहता है। उसमें दूसरों के सामने दृढ़ता से खड़े रहने की शक्ति नहीं रहती।

यहाँ अन्ना फ्राइड की किताब से एक और उदाहरण लेना अनुचित न होगा। एक बालक को मिठाई खाने की बड़ी प्रबल वासना थी। यहाँ तक कि वह अपनी इच्छा पूरी करने के लिए कुछ पैसे भी चुरा लेता था। उसके माता-पिता ने इस बुरी लत को छुड़ाने का भरसक प्रयत्न किया। वे इसमें कुछ समय के बाद सफल भी हुए। बालक की मिठाई खाने की इच्छा जाती रही और उसके आचरण में ऊपरी दृष्टि से देखने में सुधार भी हो गया। पर जब यह बालक जवान हुआ तो उसमें डर का भाव रह गया। इस डर का अनेक प्रकार से रूपान्तरण होता रहता था।

हमें बालकों के अनेक अनुचित कार्यों के कारण, उनके अव्यक्त मन के अध्ययन से, ज्ञात हो सकते हैं। झूठ बोलना, डींग मारना, आज्ञा की अवहेलना करना, दूसरे बालकों को सताना, स्कूल के सामान को खराब करना, चोरी करना, बीड़ी पीना इत्यादि ऐसे अनेक बालकों के कार्य हैं, जिनका कारण उनके मन की भावना-ग्रन्थियाँ होती हैं। इन भावना-ग्रन्थियों से जब बालक का अव्यक्त मन मुक्त हो जाता है तो उसके आचरण में सहज ही सुधार हो जाता है। दूसरों से प्रशंसित होने की इच्छा सभी में रहती है। यह एक अच्छी इच्छा है। इसके कारण मनुष्य उन भले कामों को करता है जिनसे समाज का बड़ा उपकार होता है। पर यही इच्छा जब अपने प्रकाशन के लिए योग्य मार्ग नहीं पाती तो किसी अयोग्य मार्ग को ग्रहण कर लेती है। उस समय व्यक्ति उन कार्यों को करने लगता है जिनसे लोग उसकी निन्दा करें। रावर्ट क्लाइव के चरित्र को यदि हम देखें तो यह बात स्पष्ट हो जायगी। वह बचपन में अपने माता-पिता के प्रेम से वंचित रहता था। इसलिए वह सदा उत्पात करके उन्हें और गाँव वालों को त्रास देता था। उससे लोग तंग आ गये थे। इसलिए उसे भारतवर्ष भेज दिया। पर यहाँ उसकी सबसे प्रशंसित होने की इच्छा ने अपने

में लगने लगा और वह इतने चाव से पढ़ने लगा कि जो कार्य दूसरे बालक दो साल में पूरा करते उसे उसने एक साल में ही पूरा कर लिया। अब वह अपने दोनों भाइयों से पढ़ाई में किसी तरह पीछे नहीं रहता था, वरन् उनसे आगे ही बढ़ा रहता था। उसके माता-पिता उसे अब खूब प्यार करने और कुटुम्ब का गौरव बढ़ानेवाला समझने लगे। उसके भाई भी उसका सम्मान करने लगे। कुछ दिनों के बाद ही उसका स्थान कुटुम्ब में सर्वप्रथम हो गया। पर इस समय एक नई समस्या आ उपस्थित हुई। अब उस अध्यापिका और बालक में मनोमालिन्य तथा संघर्ष पैदा हो गया। अध्यापिका ने उस बालक को प्रेम की दृष्टि से देखना बन्द कर दिया। कुछ काल के बाद उसी बालक के कारण उसने उस परिवार की नौकरी छोड़ दी जिसे कि वह पहले सबसे अधिक प्यार करती थी।

कुछ दिनों बाद जब अध्यापिका की परीक्षा एक चित्त-विश्लेषक ने की, तो उसे, इस ऊपर कही क्रिया और प्रतिक्रिया का सच्चा कारण मालूम हुआ। अपने बचपन में यह अध्यापिका भी उस तिरस्कृत बालक की तरह घर में जीवन व्यतीत करती थी। इसलिए उसके अव्यक्त मन ने इस बालक से अपनी तदात्मकता कर ली थी। उस बालक को प्यार करने और उसके बारे में चिन्तित रहने का अर्थ यह था कि उसकी अन्तरात्मा संसार को कहती थी कि मेरे जीवन को सफल बनाने के लिए मुझे इस तरह से रखना चाहिये था। ये सब भावनाएँ अव्यक्त मन की थीं। पाठिका के व्यक्त मन को उसका कुछ भी ज्ञान न था। अतएव जब बालक को सफलता प्राप्त हुई तो उस तदात्मा का अन्त हो गया और वह अध्यापिका उस बालक को प्यार न कर सकी वरन् उसके प्रति द्वेषभाव पैदा हो गया। अध्यापिका को स्वयं अपने जीवन में उतनी सफलता प्राप्त नहीं हुई थी जितनी की इस बालक को हो गई। उसका अव्यक्त मन जिस सुखावस्था में स्वयं नहीं पहुँच पाया था उसमें बालक को भी नहीं देखना चाहता था। अतएव बालक से झगड़े के अनेक कारण उपस्थित हो गये।

उपर्युक्त उदाहरण, जो अव्यक्त मन की सूक्ष्म क्रियाएँ एवं प्रतिक्रियाएँ दर्शाता है, शिक्षकों के लिए बड़े महत्त्व का है। इससे एक तो यह स्पष्ट होता है कि जो बालक अपने स्वजनों के प्रेम से वंचित रहते हैं अथवा जिनका सदा तिरस्कार हुआ करता है उनका उत्साह एवं स्फूर्ति बिलकुल जाती रहती है और वे कोई भी साहस का काम अपने जीवन में नहीं कर सकते। दूसरी तरफ यह उदाहरण उन शिक्षकों के आंतरिक मनोभावों, विकारों तथा

सुप्त संस्कारों पर प्रकाश डालता है जो कि अक्सर बालकों की शिकायत किया करते हैं। हम कई एक शिक्षकों में बालकों को दण्ड देने की प्रबल इच्छा देखते हैं। इसका कारण उनके सुप्त संस्कार हैं। वही व्यक्ति शिक्षक बनने के योग्य है जिसका मन स्वस्थ हो तथा जिसके संस्कार इतने शुभ हों कि वे उसे सदा प्रसन्न बनाये रहते हों।

चित्त-विश्लेषण-शास्त्र के अध्ययन से हमें यह ज्ञात होता है कि जिस बालक की इच्छाएँ कुचल दी जाती हैं और उनकी पूर्ति नहीं होती वह कभी बलवान और प्रभावशाली व्यक्ति नहीं हो सकता। वह सदा दब्बू बना रहता है। उसमें दूसरों के सामने दृढ़ता से खड़े रहने की शक्ति नहीं रहती।

यहाँ अन्ना फ्राइड की किताब से एक और उदाहरण लेना अनुचित न होगा। एक बालक को मिठाई खाने की बड़ी प्रबल वासना थी। यहाँ तक कि वह अपनी इच्छा पूरी करने के लिए कुछ पैसे भी चुरा लेता था। उसके माता-पिता ने इस बुरी लत को छुड़ाने का भरसक प्रयत्न किया। वे इसमें कुछ समय के बाद सफल भी हुए। बालक की मिठाई खाने की इच्छा जाती रही और उसके आचरण में ऊपरी दृष्टि से देखने में सुधार भी हो गया। पर जब यह बालक जवान हुआ तो उसमें डर का भाव रह गया। इस डर का अनेक प्रकार से रूपान्तरण होता रहता था।

हमें बालकों के अनेक अनुचित कार्यों के कारण, उनके अव्यक्त मन के अध्ययन से, ज्ञात हो सकते हैं। झूठ बोलना, डींग मारना, आज्ञा की अवहेलना करना, दूसरे बालकों को सताना, स्कूल के सामान को खराब करना, चोरी करना, बीड़ी पीना इत्यादि ऐसे अनेक बालकों के कार्य हैं, जिनका कारण उनके मन की भावना-ग्रन्थियाँ होती हैं। इन भावना-ग्रन्थियों से जब बालक का अव्यक्त मन मुक्त हो जाता है तो उसके आचरण में सहज ही सुधार हो जाता है। दूसरों से प्रशंसित होने की इच्छा सभी में रहती है। यह एक अच्छी इच्छा है। इसके कारण मनुष्य उन भले कामों को करता है जिनसे समाज का बड़ा उपकार होता है। पर यही इच्छा जब अपने प्रकाशन के लिए योग्य मार्ग नहीं पाती तो किसी अयोग्य मार्ग को ग्रहण कर लेती है। उस समय व्यक्ति उन कार्यों को करने लगता है जिनसे लोग उसकी निन्दा करें। राबर्ट क्लाइव के चरित्र को यदि हम देखें तो यह बात स्पष्ट हो जायगी। वह बचपन में अपने माता-पिता के प्रेम से वंचित रहता था। इसलिए वह सदा उत्पात करके उन्हें और गाँव वालों को त्रास देता था। उससे लोग तंग आ गये थे। इसलिए उसे भारतवर्ष भेज दिया। पर यहाँ उसकी सबसे प्रशंसित होने की इच्छा ने अपने

प्रकाशन का योग्य मार्ग पा लिया और वह अपने देश और जाति के लिए अमूल्य कार्य कर गया। यदि हम उद्दण्ड बालक को, उसका स्वभाव समझकर, उसके योग्य कार्य में लगा दें तो वह समाज के लिए अनेक भलाई के काम कर सकता है।

उत्तम व्यक्तित्व तभी प्राप्त किया जा सकता है जब मनुष्य के व्यक्त और अव्यक्त मन में एकता उत्पन्न हो। अर्थात् मनुष्य की व्यक्त और अव्यक्त भावनाओं में विषमता न हो। दबी हुई वासनाएँ, स्वप्न, अशान्ति, अनेक प्रकार के रोग तथा असामाजिक प्रवृत्ति उत्पन्न कर देती हैं। ये बातें नूतन मनोविज्ञान-सम्बन्धी खोजों से विदित हुई हैं। खोज करने से मालूम हुआ है कि मनुष्य की अस्वाभाविक चेष्टाएँ भावनाओं के दबाने से उदित होती हैं। इससे यह स्पष्ट है कि अविचारपूर्ण कठोर दमन से मनुष्य के व्यक्तित्व की उसी प्रकार क्षति होती है, जिस प्रकार राजसत्ता को उसके अविचारयुक्त कठोर दमन से।

कभी-कभी दबी हुई वासना मानसिक विकास की अवरोधक बन जाती है। शरीर तो बढ़ जाता है पर मानसिक स्थिति वैसी ही रहती है जैसी बचपन में रही होगी। अँगरेजी साहित्य का प्रमुख लेखक डिकेन्स सोने के आभूषणों का बड़ा शौकीन था और बराबर उन्हें धारण करता था। यह उसके बालकपन की अपूर्ण अभिलाषा की पूर्ति मात्र थी। शैशवकाल में वह बहुत गरीब था और सोने के आभूषणों की उसको बड़ी उत्कट इच्छा रहती थी।

जो बालक बचपन में पितृस्नेह तथा मातृस्नेह से वंचित रहते हैं, अर्थात् शैशवावस्था में स्नेहपूर्वक जिनका लालन-पालन नहीं किया जाता वे प्रायः मूर्ख और अपराधी निकलते हैं। उनकी प्रकृति औरों को तथा अपने को ताड़ना देने की रहती है और कभी-कभी तो वे आत्महत्या कर बैठते हैं।

अभागा बालक

एडलर महाशय ने दो प्रकार के बालकों को अभागा कहा है। पहला वह जिसे अति त्रास सहना पड़ता है और दूसरा वह जिसे अति लाड़ से रक्खा जाता है।

जो बालक अति त्रास में बचपन व्यतीत करता है उसके मन में हीनता-सूचक भावना-ग्रन्थि उत्पन्न हो जाती है। वह सदा दूसरों से डरता रहता है। समाज उसे क्रूर पुरुषों का समुदाय जान पड़ता है। ऐसा व्यक्ति जीवन भर निराशावाद से घिरा रहता है। जिस कार्य को वह लेता है उसी में उसे असफलता दिखाई देती है। वह उत्साह के साथ किसी कार्य को नहीं कर पाता।

किसी-किसी समय वह अपनी हीनता को छिपाने के लिए कोई चमत्कारिक कार्य करता है। उसका अव्यक्त मन दूसरों से यह स्वीकार कराना चाहता है कि मैं कोई तुच्छ व्यक्ति नहीं हूँ, मेरे प्रति समाज ने अन्याय किया है। जब कोई व्यक्ति उसका बड़प्पन मानने के लिए तैयार नहीं होता तो वह उसके प्रति निर्दयता का व्यवहार करता है। यदि नेपोलियन बोनापार्ट के जीवन को देखा जाय तो हम पायेंगे कि विजित राष्ट्र के प्रति उसकी निर्दयता उसके बचपन के त्रासमय जीवन की प्रतिक्रिया मात्र थी। वह उसके अव्यक्त मन में स्थित हीनता सूचक भावना-ग्रन्थि का प्रकाशन मात्र था।

अति लाड़ में पला हुआ बालक भी अभागा कहा गया है। जिस बालक को अपनी इच्छाओं को तृप्त करने के लिए सब प्रकार की सुविधाएँ मिलती हैं और जिसे किसी प्रकार की कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता वह संसार को कर्तव्य-क्षेत्र न समझकर अपने सुख की रङ्गशाला मान लेता है। वह प्रत्येक मनुष्य से अपनी प्रशंसा कराने, बड़े समझे जाने तथा किसी भी काम में रोक-टोक न की जाने की आशा करता है। जब वह संसार में लोगों के व्यवहार को अपनी आशाओं के अनुकूल नहीं पाता तो एकाएक निराशावादी हो जाता है। वह सोचने लगता है कि प्रत्येक व्यक्ति मेरे प्रति षड्यन्त्र ही कर रहा है; सभी मेरी महत्ता से ईर्ष्या करते हैं और इसलिए मेरे महत्व को स्वीकार नहीं करना चाहते। वह प्रायः दूसरों की निन्दा में लगा रहता है। उसके बड़े-बड़े मनसूबे होते हैं पर उसमें कार्य-क्षमता कुछ भी नहीं होती। ऐसा मनुष्य निर्दयी भी होता है। जब वह यह सोचता है कि सारा संसार मेरे प्रति षड्यन्त्र कर रहा है तो वह दूसरों के प्रति निर्दयता का व्यवहार क्यों न करे? उसकी जितनी योजनाएँ होती हैं, असंभव होती हैं। वास्तव में अकर्मण्यता को छिपाने के लिए ही वह ऐसी योजनाएँ बनाता रहता है। यही कारण है कि जो व्यक्ति बचपन में सुख का जीवन व्यतीत करता है, वह संसार का कोई बड़ा काम नहीं कर पाता।

अतएव सुन्दर व्यक्तित्व के गठन के लिए यह आवश्यक है कि न तो बालकों को अति त्रास में रक्खा जाय और न उन्हें सब प्रकार की सहूलियतें जीवन में दी जायँ। अपने वातावरण से लड़ने और उस पर विजय प्राप्त करने का अभ्यास बालकों में छोटेपन से ही डालना चाहिए।

परिशिष्ट—१

रायबहादुर पंडित लज्जाशंकर झा द्वारा रचित सामूहिक बुद्धिमापक परीक्षापत्र से उद्धृत प्रश्न

जाँच १—जानकारी

उस शब्द के नीचे लकीर खींचो जिससे वाक्य सार्थक हो।

१—आँवला एक प्रकार की (का) छाल, फल, जड़, पत्ता—होता है।
२—कस्तूरी —अनाज, बीज, जानवर, छाल से—निकलती है।
३—एक मन में—११२, ६४०, २२४०, १७६०— छटाँक होते हैं।
४—गोंद —समुद्र, खेत, पेड़, खान—में मिलता है।
५—एक गिरह की लम्बाई लगभग—दो इंच, दो फुट, दो गज, दो बालिश्त—के बराबर होती है।

जाँच २—सबसे अच्छा उत्तर

हर एक सवाल या बयान को पढ़ो और सबसे अच्छे उत्तर के पहले × ऐसा चिह्न लगा दो।

१—मोटर की अपेक्षा रेलगाड़ी को रोकना ज्यादा मुश्किल है क्योंकिः—

(१) उसमें ज्यादा पहिये होते हैं।
(२) वह ज्यादा भारी होती है।
(३) उसके ब्रेक अच्छे नहीं होते हैं।

२—"मन के लड्डू फीके क्यों"—इस कहावत का अर्थ है किः—

(१) लड्डू फीके होते हैं।
(२) मन लड्डू खाने को तरसता है।
(३) जब अपने ही हाथ में बात है तो कमी क्यों रहे।

३—लोहे का बना जहाज भी तैरता है क्योंकिः—

(१) इञ्जन उसको ऊपर उठाये रखता है।

(२) इसके अन्दर काफ़ी पोली जगह रहती है।

(३) इसमें कुछ लकड़ी भी होती है।

जाँच ३—शब्दार्थ

जब एक ही पंक्ति में लिखे हुए दोनों शब्दों का अर्थ एक सा हो तब "समान" के नीचे लकीर खींच दो और जब उनका अर्थ एक दूसरे का उल्टा हो तो "असमान" के नीचे लकीर खींचो।

उदाहरण—गिरना	पटकना	...	<u>समान</u>	असमान
उत्तर	दक्षिण	...	समान	<u>असमान</u>
१—कमाना	खर्च करना	...	समान	असमान
२—हराना	दबाना	...	समान	असमान
३—पतन	अवनति	...	समान	असमान
४—खट्टा	एसिड	...	समान	असमान
५—जल्दबाज	दूरदर्शी	...	समान	असमान

जाँच ४—ठकी चुनाव

नीचे लिखे हुए हर एक वाक्य में उन दो शब्दों के नीचे लकीर खींच दो जो दी हुई चीज के साथ हमेशा रहते हों—हर एक पंक्ति में केवल दो ही शब्दों के नीचे लकीर खींचो—

(१) घोड़े के हमेशा—जीन, खुर, नाल, अस्तबल, दुम होती है।

(२) संगीत में हमेशा—सुननेवाला, हार्मोनियम, सुर, ध्वनि, वीणा, पाया (पायी) जाता (जाती) है।

(३) पिस्तौल में हमेशा—नली, गोली, कारतूश, मसा (निशाना देखने का), घोड़ा, होता है।

(४) मासिक पत्रिका में हमेशा—विज्ञापन, कागज, तस्वीर, छपाई, कहानियाँ होती हैं।

(५) बहस में हमेशा—विवादी, मतभेद, अनबन, द्वेष, क्रोध, आवश्यक हैं।

जाँच ५—अङ्कगणित

जितनी जल्दी हो सके उतनी जल्दी जवाब निकालो—उत्तर को बिन्दुरेखा (…………) पर लिखो। सफे के किसी भी खाली हिस्से को जरूरत पड़ने पर उत्तर निकालने के काम में ला सकते हो—

१—एक आदमी घण्टे में ६ मील की चाल से ६६ मील कितने घण्टे में जायगा ?

उत्तर…………

२—यदि एक मनुष्य एक महीने में २०) रु० कमाता है और १४) रु० खर्च करता है तो बताओ ३००) रु० बचाने में कितना समय लगेगा ?

उत्तर…………

३—अगर दो सेर का दाम ६६ आना हो तो ½ सेर का क्या दाम होगा ?

उत्तर…………

४—कितने रुपये का ८ प्रतिशत १०००) रु० के ४ प्रतिशत के बराबर होगा ?

उत्तर…………

५—अगर ७ आदमी १४० फुट खाई खोदने में २ दिन लगाते हैं तो कितने आदमी उसको आधे दिन में खोद लेंगे ?

उत्तर…………

जाँच ६—वाक्यार्थ

ठीक उत्तर के अनुसार "हाँ" या "नहीं" के नीचे लकीर खींचो।

१—क्या धर्मात्मा पुरुष कभी गलती करता है ? …हाँ नहीं

२—क्या गुमनाम खत पर कभी लिखनेवाले का ठीक नाम दिया रहता है ? …हाँ नहीं

३—क्या किसी पर कसूर लगाते समय सबूत देना चाहिये ? …हाँ नहीं

४—क्या लकवा मारने पर काम करने में सहायता मिलती है ? …हाँ नहीं

५—क्या जिद्द में अधिकतर विचार की कमी रहती है ? …हाँ नहीं

कान का जो सम्बन्ध सुनने से है वही आँख का मेज—देखने, हाथ—खेलने से है।

पगड़ी का जो सिर से सम्बन्ध है वही जूते का बाँह, कोट, पाँव चाल से है।

नीचे लिखे हुए के उत्तर भी उपर्युक्त उदाहरण के समान दो।

१—तसवीर का जो सम्बन्ध देखने से है वही ध्वनि का खाने, भूखे मरने, सुनने, छाल से है।

२—सिंह का जो सम्बन्ध उसके नाखून से है, वही सुगन्ध गुलाब का, पत्ती, पौदा, काँटे से है।

३—रोने का जो हँसने से सम्बन्ध है, वही उदासी का मृत्यु, प्रसन्नता, कफ़न, डाक्टर से है।

४—भोजन का जो भूख से सम्बन्ध है वही पानी का पीना, साफ़, प्यास, शरबात से है।

५—पापी का जो पतित से सम्बन्ध है वही पुण्यात्मा का गीता, पवित्र, प्रार्थना, एकादशी से है।

जाँच ८—उलझन सुलझाना

नीचे लिखे हुए हरएक वाक्य में शब्द-क्रम से नहीं हैं, उन्हें क्रमपूर्वक रख कर देखो कि वाक्य में जो कहा गया, वह ठीक है या नहीं। यदि ठीक हो तो उसके सामने "ठीक" के नीचे और यदि गलत हो तो "गलत" के नीचे लकीर खींच दो—

१—सच्ची मोल सकती मिल दोस्ती नहीं ···ठीक गलत

२—होते हैं जाते होते हैं बच्चे बड़े जैसे लम्बे वैसे ···ठीक गलत

३—सलाह कठिन कभी अच्छी मानना होता है कभी ···ठीक गलत

४—काम हो जैसे वह बहुधा नहीं होता वैसा मनुष्य के ···ठीक गलत

५—कोई पीछा छोड़ती कोई हैं जान लेकर बीमारियाँ ···ठीक गलत

जाँच ९—उचित विभाग

नीचे की हर एक लकीर में उस शब्द को काट दो जो अपने वर्ग में न हो—हर एक लकीर में केवल एक शब्द अपने वर्ग में नहीं है।

१—गोविन्द, गरीबदास, कुमारचन्द्र, गोदावरी, आत्माराम।

२—घोड़ा, गाय, खच्चर, टट्टू, गधा।

३—सख्त, खुरदरा, चिकना, मुलायम, मीठा।

४—कपड़ा, रूई, सन, रेशम, ऊन।

५—जावा, लङ्का, जापान, ब्रिटेन, अफगानिस्तान।

जाँच १०—संख्या-क्रम

नीचे की हर एक पंक्ति में यह जानने की कोशिश करो कि संख्याएँ किस क्रम से लिखी गई हैं और फिर बिन्दु रेखाओं पर क्रम से आनेवाली अगली दो संख्याओं को लिखो—

पहली	पंक्ति	८,	७,	६,	५,	४,	३	………
दूसरी	,,	८,	८,	६,	६,	४,	४	………
तीसरी	,,	१६,	८,	४,	२,	१,	$\frac{१}{२}$	………
चौथी	,,			२$\frac{१}{५}$,	$\frac{१}{५}$,	१,	५	………
पाँचवीं	,,	३,	४,	६,	९,	१३,	१८	………

———

परिशिष्ट--२

प्रोफेसर वंशगोपाल झिंगरिन के बनाये सामूहिक बुद्धिमापक परीक्षापत्र से उद्धृत प्रश्न

१—प्रेम का उलटा कौन शब्द है ?

१ समानता, २ क्रोध, ३ घृणा, ४ अजीब, ५ प्रेमी। ( )

२—सोने की कीमत चाँदी से ज्यादा होती है क्योंकि वह—

१ अधिक भारी होता है, २ अधिक सुन्दर होता है, ३ अधिक सख्त होता है, ४ अधिक पीला होता है, ५ अधिक नहीं मिलता है। ( )

३—नीचे लिखी कहावतों में से किसका अर्थ है—नौ दो ग्यारह हो जाना।

१—नौ नकद न तेरह उधार।
२—न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेंगी।
३—एक एक ग्यारह होते हैं।
४—साँच को आँच नहीं।
५—तीन तेरह हो गये। ( )

४—पिता अपने पुत्र की अपेक्षा—

१ बुद्धिमान्, २ मजबूत ३ धनवान्, ४ लम्बा ५ अनुभवी होता है। ( )

५—नीचे लिखी क्रमिक संख्याओं में एक संख्या गलत है, वह कौन सी है ?

२, ७, ८, ३, ४, ६, ५, १०, ६, १२,। ( )

६—यह कहना कि पत्थर को भी जान होती है—

१ बिलकुल असम्भव, २ धोखे में डालने वाला, ३ बेतुका, ४ शरारत से भरा हुआ, ५ यकीन करने के लायक है। ( )

७—सदा का उलटा है—

१ बहुधा, २ कभी कभी, ३ हमेशा, ४ कभी नहीं, ५ कभी। ( )

८—अगर एक लड़का ½ सेकण्ड में ४ फुट दौड़ सकता है तो वह २० सेकण्ड में कितने फुट दौड़ेगा ? (

९—नीचे लिखी पाँच चीजों में कौन सी चीज अन्य चार से भिन्न है—

१ कुल्हाड़ी, २ चाकू, ३ उस्तरा, ४ हथौड़ा, ५ कैंची। (

१०—अगर पहले दो वाक्यों का अर्थ ठीक है तो तीसरा बताओ क्या है— (

हमारे कुछ सदस्य लिबरल हैं। कुछ सदस्य वकील हैं। कुछ सदस्य लिबरल वकील हैं।

सच, गलत, न ठीक न गलत। (

११—अगर २४ इञ्च कपड़ा धुलाने पर २२ इञ्च हो जाय तो ६० इञ्च कपड़ा कितना सिकुड़ेगा ? (

१२—घर में सदा रहता है।

१ बाप, २ फर्श, ३ किवाड़, ४ लड़ाई, ५ गन्दगी। (

१३—नीचे लिखे शब्दों में कौन शब्द इसी वर्ग में है जिसमें ये तीन शब्द हैं।—

खुशी, डर, क्रोध।

१ आरत, २ स्मृति, ३ घृणा, ४ जीवन, ५ सुनना। ( )

१४—कौन सा शब्द "सफलता" का द्योतक है।

१ धन, २ शक्ति, ३ यश, ४ भक्ति, ५ व्यवसाय। ( )

१५—इस क्रमिक संख्या में एक संख्या गलत है—वह कौन सी है ?

१, २, ४, ८, १६, ३२, ६२, १२८,। ( )

१६—अगर नीचे दो वाक्य ठीक हैं तो तीसरा कैसा है—

परिश्रम से मनुष्य धनी हो सकता है। राम परिश्रमी है। राम धनी हो जायगा।

१ सही, २ गलत, ३ न सही न गलत। ( )

१७—हवा और तूफान में वही सम्बन्ध है जो रेंगने और—

१ लुढ़कने, २ उड़ने, ३ खड़े होने, ४ दौड़ने, ५ घुटने चलने में है। ( )

परिशिष्ट—३

बालकों के प्रति व्यवहार

१—बालक को अधिक गोदी में न लेना चाहिये। उसे अपना खिलौना न समझना चाहिये।

२—बालक गिर जाय तो उसे अपने आप उठने देना चाहिये।

३—बालक को अकेले सोने का अभ्यास कराना चाहिये।

४—बालक को अँधेरे में चले जाने का अभ्यास कराना चाहिये।

५—जिस घर में दो बालक हों, दोनों के साथ बराबरी का व्यवहार करना चाहिये।

६—बालकों के सुन्दर नाम रखना चाहिये।

७—दूसरों के सामने बालक को डाँटना न चाहिये।

८—बालक के छोटे-छोटे कामों में रुचि दिखाना चाहिये।

९—बालक को बालकों के साथ रहने देना चाहिये।

१०—बहुत सी बातें बालकों को एक साथ सिखाने की चेष्टा न करनी चाहिये।

११—बालकों को बार-बार पीटना व डाँटना न चाहिये।

१२—बालकों की खेल की चीजें बिगाड़ना अथवा छीनना न चाहिये।

१३—बालकों से डरावनी कहानियाँ न कहना चाहिये।

१४—यदि बालक रोता हो तो भूत-प्रेत का भय दिखाकर उसे चुप न कराना चाहिये।

१५—बालकों के साथ हँसो पर उन पर कभी न हँसना चाहिये।